डॉ० भगवान दास

समर्पण

देशभक्त देवर्षि विद्याशिरोमणि

डाक्टर भगवानदासजी

को

सादर समर्पित
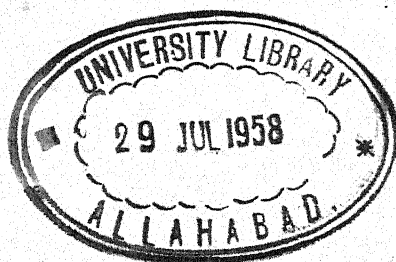
प्राक्कथन

मनोविज्ञान अध्ययन का एक कठिन विषय माना जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने वार्तालाप में मनोविज्ञान की बातों का उल्लेख करने लगता है तो श्रोतागण या तो चकित होकर उन्हें सुनते हैं अथवा एकदम उदासीन हो जाते हैं। श्रोताओं की इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण जनता में बुद्धि की कमी नहीं वरन् मनोविज्ञान सम्बन्धी साहित्य का अभाव है। हमारे साहित्य में अब तक साहित्य के दूसरे अङ्गों से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। देश में साहित्यिक जाग्रति करने का संकल्प लेकर कार्य करनेवाले अनेक त्यागी विद्वानों ने हिन्दी भाषा में मौलिक ग्रन्थ लिखे, किन्तु अभी तक मनोविज्ञान के पण्डित मौन साधे ही बैठे हुए हैं। लेखक के देखने में हिन्दी भाषा में कोई प्रामाणिक ग्रंथ अभी तक नहीं आया। यह छोटी-सी पुस्तक पाठकों के समक्ष इस साहित्यिक अभाव की पूर्ति करने के हेतु लिखी गई है। रामचरितमानस लिखते समय श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था :—

भाषा भनिति भोरि मति मोरी, हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।

मैं तुलसीदासजी के इसी विनीत भाव का अनुभव कर रहा हूँ। हिन्दी-साहित्य के विद्वानों ने और सामान्य जनता ने मेरे ऊपर भारी प्रेम दर्शाया है। उन्होंने मेरे लिखे हुए "बाल-मनोविज्ञान" और "नवीन-मनोविज्ञान" को जिस प्रसन्नता से अपनाया उसी का परिणाम है कि मुझे इस नये ग्रन्थ के लिखने का साहस हुआ। मैं मनोविज्ञान का विशेषज्ञ नहीं हूँ; न मैंने मनोविज्ञान का इतना अध्ययन ही किया है और न मैंने कोई नये प्रयोग किये हैं। मुझे इण्टर, बी० ए० और बी० टी० क्लास को इस विषय के पढ़ाने का अनुभव अवश्य है, पर किसी विषय पर नये ग्रन्थ को लिखने के लिए यह पर्याप्त नहीं है। मैं इस पुस्तक को इसी हेतु से लिखता हूँ कि हिन्दी जाननेवाली जनता की रुचि इसे पढ़कर मनोविज्ञान में बढ़ेगी। इस हेतु से विषय को जितना सरल हो सका है, बनाया गया है।

लेखक की धारणा है कि जो विषय अँगरेजी भाषा में लिखे रहने के कारण बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए समझने में कठिन हो जाता है वही विषय हिन्दी भाषा में लिखे जाने पर सरलता से वर्नाक्युलर मिडिल पास किये विद्यार्थी की

समझ में आ सकता है। आजकल एक विद्यार्थी को बी० ए० परीक्षा पास करने के लिए मनोविज्ञान के जितने ज्ञान की आवश्यकता है उतना इस पुस्तक में दिखाया गया है; पर मैं विश्वास करता हूँ कि इसमें लिखी कोई बात इण्टर-मीडियेट के विद्यार्थी की समझ के बाहर न होगी।

इस पुस्तक का विस्तार अँगरेजी भाषा में लिखी गई प्रारम्भिक मनोविज्ञान की पुस्तकों से कुछ अधिक हो गया है। साधारणतः पुस्तक को सोलहवें प्रकरण में समाप्त हो जाना चाहिये था। मैंने पाँच और प्रकरण—बुद्धिमाप, मन के गुप्त स्तर, स्वप्न, निद्रा-सम्मोहन, व्यक्तित्व—इस हेतु से जोड़े हैं कि जिससे इस विषय के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को मनोविज्ञान के सम्पूर्ण विषय का परिचय हो जाय। आजकल लिखी गई मनोविज्ञान की पुस्तकों में उक्त पाँच प्रकरणों में से कुछ न कुछ रहते हैं। इण्टरमीडियेट के पाठ्यक्रम में प्रायः ये विषय नहीं रहते, किन्तु मनोविज्ञान के दूसरे पाठकों को इन विषयों का जानना आवश्यक है। ये विषय बड़े रोचक हैं और अनेक प्रकार के प्रयोगों तथा नये सिद्धान्तों का प्रवर्तन इन विषयों में हो रहा है। इनके जाने बिना मनोविज्ञान का ज्ञान अधूरा ही रहता है। शिक्षकों के लिए तो इन प्रकरणों को पढ़ना आवश्यक ही है।

इस पुस्तक का मुख्य हेतु हिन्दी भाषा का ज्ञान रखनेवाले विद्यार्थियों को उस ज्ञान को सुलभ बनाना है जो अँगरेजी भषा में लिखी गई सामान्य मनोविज्ञान की पुस्तकों में है। अतएव विषय के विद्वान यदि इनमें किसी नवीनता की खोज करें तो सम्भवतः कुछ भी नहीं पायेंगे। न इसमें किसी नये प्रयोग का वर्णन मिलेगा और न किसी नये सिद्धान्त का प्रवर्तन। हाँ, इतना अवश्य है कि मैंने जहाँ कहीं हो सका है किसी सिद्धान्त को सुबोध बनाने के लिए अपने अनुभव में आनेवाले दृष्टान्तों को उदाहरण के रूप में लिख दिया है। जहाँ कहीं हो सका है भारतीय शास्त्रों में उल्लिखित समान सिद्धान्तों का परिचय भी कराने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, स्वप्न के प्रकरण में जो बातें कही गई हैं वे सभी पाश्चात्य देशों के पण्डितों ने नहीं कहीं हैं। "योगवासिष्ठ" और "मिलिन्द राजा के प्रश्न" नामक बौद्धग्रन्थ में स्वप्न पर पर्याप्त विचार किया गया है। उनके कथन को ध्यान में रखकर "स्वप्न" का प्रकरण लिखा गया है। इसी तरह "मन के गुप्त स्तर" वाला प्रकरण आध्यात्मिक दृष्टिकोण को, जिसे कि मैं सच्चा मानता हूँ, ध्यान में रखकर लिया गया है। यह पुस्तक प्रारम्भ से अन्त तक एक ही दृष्टिकोण से

लिखी गई है। यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। जड़वाद, व्यवहारवाद की समालोचना, जहाँ कहीं प्रसङ्ग आया है, की है। इसी तरह फ्रायड महाशय की खोजों की महत्ता को दर्शाते हुए उनके सभी सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया गया। जहाँ कहीं हो सका उनके सिद्धान्तों की समालोचना भी की गई है।

इस पुस्तक में उसी शब्दावली का प्रयोग किया गया है जिसका प्रयोग मैंने अपनी पहली पुस्तक में किया था। पाठकों ने उस शब्दावली के प्रति कोई आपत्ति नहीं की, अतएव उसे फिर काम में लाने में मुझे हिचक नहीं हुई। कुछ नये शब्द भी गढ़ने पड़े। इस कार्य में अजमेर से प्रकाशित शब्दकोश की सहायता ली। "नाड़ीतन्त्र" और "संवेदना" के प्रकरण लिखने में लेखक को शब्दों की विशेष अड़चन पड़ी। यहाँ शरीर-विज्ञान पर जो ग्रन्थ उपस्थित हैं उन्हीं से सहायता ली गई है। श्री जानकीशरण वर्मा का "शरीर-विज्ञान" इस सम्बन्ध में विशेषत: उपयोगी सिद्ध हुआ।

मनोविज्ञान की पुस्तकें लिखने में मुझे मेरे गुरु रायबहादुर पण्डित लज्जाशंकर झा और भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ डाक्टर भगवानदासजी से विशेष प्रोत्साहन मिला। डाक्टर भगवानदासजी ने "नवीन मनोविज्ञान" की प्रस्तावना लिखकर मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। यह पुस्तक मैं उन्हें उनके प्रति अपनी श्रद्धा के प्रदर्शन स्वरूप समर्पण करता हूँ। मैं जानता हूँ कि यह ग्रन्थ उनकी भेंट के योग्य नहीं है पर उनके हृदय की विशालता को स्मरण रखते हुए मुझे इसे उन्हें समर्पित करने में संकोच नहीं होता, अपितु प्रसन्नता ही होती है।

टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१६–१२–१९५२

लालजीराम शुक्ल

पंचम संस्करण का प्राक्कथन

सरल मनोविज्ञान के चतुर्थ संस्करण की प्रतियाँ एक साल के भीतर ही समाप्त हो गईं, यह एक भारी भाग्य की बात है। मैं जनता के इस प्रोत्साहन के लिए आभारी हूँ। इस संस्करण में पिछले संस्करण की अशुद्धियाँ दूर कर दी गई हैं और पारिभाषिक शब्दों के अंगरेजी पर्यायवाची शब्द पुस्तक के अन्त में दे दिये गये हैं। आशा है इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ेगी।

लालजीराम शुक्ल

९–७–५३

विषय-सूची

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश १

मनोविज्ञान क्या है?—मनोविज्ञान की उपयोगिता—वैज्ञानिक विधि—मनोविज्ञान के अध्ययन की विधियाँ—मनोविज्ञान की शाखाएँ—मनोवृत्ति—विषय-विस्तार।

दूसरा प्रकरण

मन और शरीर का सम्बन्ध १६

साधारण विचारधारा—वैज्ञानिक विचारधारा—जड़वाद की समालोचना—चैतन्यवाद—मन का विकास।

तीसरा प्रकरण

✓ नाड़ीतन्त्र २६

नाड़ीतन्त्र के विभाग—त्वक् नाड़ी-मण्डल, केन्द्रीय नाड़ी-तन्त्र—सुषुम्ना—मस्तिष्क—स्वतन्त्र-नाड़ी-मण्डल—गिल्टियाँ।

चौथा प्रकरण

मानसिक प्रतिक्रियाएँ ४८

सहज प्रतिक्रिया—हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया—मानसिक प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण—सहज क्रियाओं का रूपान्तरण।

पाँचवाँ प्रकरण

✓ मूलप्रवृत्तियाँ ६१

मूलप्रवृत्तियों का स्वरूप—मूलप्रवृत्ति और सहज क्रिया में भेद—मूलप्रवृत्ति और इच्छित क्रियाएँ—मूलप्रवृत्तियों के प्रकार—मूलप्रवृत्तियों का एकत्व—प्राकृतिक और शिष्ट जीवन—मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन—मानसिक शक्ति का प्रवाह।

छठा प्रकरण

सीखना ८२

सीखने की महत्ता—सीखने के प्रकार—क्रियात्मक सीखना—अनुकरणात्मक सीखना—विचारात्मक सीखना—सीखने के नियम—सीखने में उन्नति—सीखने का पठार।

सातवाँ प्रकरण

आदत ६८

आदत का स्वरूप—आदत का आधार—आदत के लक्षण—आदत का जीवन में महत्त्व—आदत डालने के नियम—बुरी आदतें—जटिल आदतों की उत्पत्ति।

आठवाँ प्रकरण

संवेग ११५

संवेग का स्वरूप—संवेग की विशेषताएँ—संवेग और शारीरिक क्रियाएँ—जेम्स लैंगे सिद्धान्त—संवेग जनित मानसिक विकार—स्थायीभाव—स्थायीभाव और चरित्र—विकृत स्थायीभाव—स्थायीभावों में परिवर्तन—स्थायीभावों का संस्थापन और विघटन।

नवाँ प्रकरण

ध्यान १३४

ध्यान का स्वरूप—ध्यान की विशेषता—ध्यान के कारण—ध्यान के प्रकार—ध्यान-वशीकरण।

दसवाँ प्रकरण

संवेदना १५४

संवेदना की उत्पत्ति—संवेदनाओं के गुण—संवेदनाओं का वर्गीकरण—दृष्टि-संवेदना—ध्वनि-संवेदना—रस-संवेदना—घ्राण-संवेदना—स्पर्श-संवेदना—वेबर का नियम।

ग्यारहवाँ प्रकरण

प्रत्यक्षीकरण १८३

प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप—भ्रम—अवकाश का ज्ञान—दिशा-ज्ञान—दूरी का ज्ञान—एक आँख से दूरी के ज्ञान के साधन—दो आँखों से दूरी

का ज्ञान—देश और काल के विषय में दार्शनिक विचार—ज्ञान-अणुवाद और समस्तज्ञानवाद—निरीक्षण। ...

बारहवाँ प्रकरण

✓ स्मृति २०३

स्मृति की उपयोगिता—अच्छी स्मृति के लक्षण—स्मृति के अंग—याद करना—धारणा—स्मरण—पहचान—याद करने के उपाय—विस्मृति—असाधारण भूल।

तेरहवाँ प्रकरण

✓ कल्पना २२१

कल्पना का स्वरूप—कल्पना में वैयक्तिक भेद—कल्पना के प्रकार—कल्पना और कला।

चौदहवाँ प्रकरण

विचार २३८

विचार की प्रक्रिया—विचार की प्रक्रिया के अङ्ग—विचार के विभिन्न स्तर—प्रत्यय-ज्ञान का स्वरूप—प्रत्यय ज्ञान की उत्पत्ति—भाषा और विचार—विचार-विकास—विचार करने के ढंग—विचार और अन्य मानसिक शक्तियाँ।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

इच्छाशक्ति और चरित्र २५६

इच्छाशक्ति का स्वरूप—निर्णय का स्वरूप—निर्णय के प्रकार—इच्छाशक्ति का विचार से सम्बन्ध—इच्छाशक्ति और ध्यान—इच्छाशक्ति की निर्बलता—स्वतन्त्रतावाद और नियतिवाद—चरित्र।

सोलहवाँ प्रकरण

✓ बुद्धि और उसकी जाँच २७६

बुद्धि की परीक्षा का प्रारम्भ—'बिने' की परीक्षा की रीति—बुद्धिमाप में उन्नति—टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षापत्र—सामूहिक बुद्धिमाप—बुद्धि का स्वरूप—बुद्धि और ज्ञान-भण्डार—बुद्धि और चरित्र।

सत्रहवाँ प्रकरण

मन के गुप्त स्तर २८८

अचेतन मन की खोज का आरम्भ—अचेतन मन का स्वरूप—अचेतन मन की प्रबल वासनाएँ—अचेतन मन और सांकेतिक चेष्टाएँ—अचेतन मन और मानसिक रोग—मानसिक ग्रन्थि और शारीरिक रोग—मनोविश्लेषण—चिकित्सा—मानसिक ग्रंन्थि और अपराध ।

अठारहवाँ प्रकरण

स्वप्न ३०६

स्वप्न का स्वरूप—स्वप्न के कारण-आदेशात्मक स्वप्न—स्वप्ननिरोध ।

उन्नीसवाँ प्रकरण

निद्रा और सम्मोहन ३२५

निद्रा के प्रकार—अनिद्रा की बीमारी—सम्मोहन ।

बीसवाँ प्रकरण

व्यक्तित्व के प्रकार ३३२

व्यक्तित्व का स्वरूप—व्यक्तित्व के अंग—डाक्टर युंग का सिद्धान्त ।

पारिभाषिक शब्द-कोष ३४६

प्रथम प्रकरण

विषय-प्रवेश

मनोविज्ञान क्या है ?

मनोविज्ञान की विशेषता—मनोविज्ञान आधुनिक युग का बड़ा महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय है। आजकल व्यक्ति और समाज के व्यवहार-सम्बन्धी कोई भी अध्ययन का ऐसा विषय नहीं जिसमें मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता न हो। समाज-शास्त्र, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, साहित्य आदि सभी विषयों के गहन अध्ययन के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में किसी भी समाज तथा व्यक्ति-सम्बन्धी विषय पर कोई ग्रन्थ लिखता है तो वह उस ग्रन्थ की मौलिकता को अपने आप घटा देता है। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का कारण उसका मन ही है। हमारे मानसिक विचार ही बाह्य-क्रिया में प्रकाशित होते हैं। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा साहित्य में मनुष्य की क्रियाओं और विचारों का ही वर्णन रहता है। मनोविज्ञान का ध्येय इन विचारों और क्रियाओं के रहस्य को समझना है।

मनोविज्ञान का विषय है मनुष्य के मन का अध्ययन। हमारे मन में प्रत्येक क्षण अनेक विचार उठते रहते हैं। हमारा हृदय दिन भर में अनेक संवेगों का अनुभव करता है। इसी तरह हमारे मन में अनेक प्रकार के काम करने की इच्छाएँ क्षण-क्षण पर उठा करती हैं। इन मानसिक अनुभूतियों का अध्ययन करना मनोविज्ञान का लक्ष्य है। मनोविज्ञान मन में होनेवाली क्रियाओं का क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन है। आधुनिक मनोविज्ञान पाश्चात्य पण्डितों की देन है। इसकी उन्नति पदार्थ-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ हुई है। जब पदार्थ-विज्ञान विषयक अध्ययन में पर्याप्त उन्नति हो गई तो मनुष्य के मन में वैज्ञानिक रूप से मन के अध्ययन करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इसी इच्छा के परिणाम-स्वरूप आधुनिक मनोविज्ञान का जन्म हुआ।

मनोविज्ञान की परिभाषा—मनोविज्ञान का अँगरेजी पर्यायवाची शब्द 'साइकॉलॉजी' है। यह शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है और उस भाषा के शब्दों 'साइके' और 'लोगस' से मिलकर बना है। 'साइके' का अर्थ है आत्मा और 'लोगस' का अर्थ है विचार विमर्श। इन दोनों शब्दों से 'साइकॉलॉजी' शब्द बना है। अतएव साइकॉलॉजी वह विज्ञान है जिसमें मनुष्य की आत्मा के विषय में चर्चा हो। वर्तमान युग के आरम्भ के पूर्व इसी अर्थ में साइकॉलॉजी शब्द काम आता था। अतएव मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय आत्मा ही माना जाता था तथा मनोविज्ञान तत्त्व-विज्ञान का एक अंग भी माना जाता था। यूरोप के पुराने पण्डित मनोविज्ञान को एक स्वतन्त्र विषय नहीं मानते थे। उनका दृष्टिकोण जब तक इसी प्रकार का बना रहा, तब तक मनोविज्ञान ने कोई विशेष उन्नति नहीं की। आत्मा के विषय में मनुष्यों के विचार विभिन्न प्रकार के हैं। आत्मा के स्वरूप का निरूपण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अतएव जब तक मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय आत्मा ही रहा, मन का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करना सम्भव न हुआ और मनोविज्ञान ने कोई उन्नति न की।

वर्तमान काल के प्रारम्भ में उपर्युक्त दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय आत्मा को न मानकर चेतन मन के अनुभवों को माना जाने लगा। मनोविज्ञान की भाषा अब बदल गई। इस परिभाषा के अनुसार मनोविज्ञान मन की चेतन क्रियाओं का अध्ययन है। मनोविज्ञान मन की चेतना का अध्ययन करता है। मनुष्य जब तक जाग्रत् रहता है, उसके मन में कुछ न कुछ विचार चला करते हैं; और उसे किसी न किसी प्रकार अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इन्हीं विचारों और अनुभूतियों का नाम मनोविज्ञान है।

इस प्रकार की परिभाषा मनोविज्ञान के विषय को पर्याप्त रूप से स्पष्ट करती है। हमारे अनुभव ज्ञान-गम्य हैं। अतएव इन अनुभवों का अध्ययन वैज्ञानिक रूप से किया जा सकता है। हम जिस दृष्टि से बाह्य पदार्थों को उनका वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये देखते हैं, उसी दृष्टि से हम अपने मन की ओर देख सकते हैं। वैज्ञानिक रूप से मन का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि मन की अनेक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उसके स्वरूप का निरूपण भलीभाँति किया जाय। यह ज्ञान प्राप्त करना कठिन है अवश्य, पर असम्भव कार्य नहीं। अतएव इस दृष्टि-कोण से मनोविज्ञान का विस्तार

होना स्वाभाविक है। नये दृष्टि-कोण के कारण मनोविज्ञान पर हजारों ग्रन्थ लिखे गये और मन के विषय में हमारा ज्ञान पर्याप्त रूप से बढ़ा।

किन्तु जैसे-जैसे मन का अध्ययन अधिकाधिक होता गया, उसके स्वरूप के विषय में मनोविज्ञान के पण्डितों के विचार बदलते गये। मनोविज्ञान के अध्ययन की गहनता के साथ उसके विषय का विस्तार भी हुआ। वर्तमान समय में मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा निर्दोष नहीं समझी जाती। इस समय मनोविज्ञान मन की चेतना क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं करता वरन् वह मन के उस अन्तर्पट के विषय में भी हमारा ज्ञान बढ़ाने की चेष्टा करता है, जो चेतन मन की पहुँच के बाहर है। अर्थात् अब मनोविज्ञान चेतन और अचेतन मन के दोनों भागों का वैज्ञानिक अध्ययन करने की चेष्टा करता है। यदि हम मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय ध्यान में रखकर उसकी पुरानी परिभाषा की विवेचना करें, तो हम उसमें अव्याप्ति का दोष पावेंगे। इस परिभाषा को पूर्ण बनाने के लिए हमें नये प्रकार से मनोविज्ञान की परिभाषा बनानी पड़ेगी। मनोविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें मन की चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

हमारी मानसिक क्रियाएँ बाह्य-क्रियाओं में भी प्रकाशित होती हैं। हम अपने मन की क्रियाओं को अपरोक्ष रूप से जानते हैं। हम जब भी अपने मन में उठनेवाले विचारों की ओर ध्यान देते हैं, तो हम उन्हें जान लेते हैं। दूसरों के मन में चलनेवाली क्रियाओं के विषय में यह बात नहीं है। हम उनके मन के विचारों तथा अनुभूतियों को उनके व्यवहारों तथा उनके कहने से जानते हैं। यदि किसी मनुष्य के पेट में दर्द हो तो वह हमारा दर्द नहीं बन जाता। हम इसे उसकी बेचैनी तथा कराहने से जानते हैं। अर्थात् उस पुरुष के व्यवहार को देखकर हम अपनी अनुभूति के आधार पर उसके पेट की पीड़ा की कल्पना करते हैं। इस प्रकार का, दूसरों की अनुभूति का ज्ञान, परोक्ष ज्ञान है। इसी तरह किसी सुन्दर गाने को सुनकर यदि किसी मनुष्य को आनन्द होता है और वह उस आनन्द को अपनी कविता में प्रकाशित करता है, तो उस व्यक्ति की गाने की आनन्दमयी अनुभूति का ज्ञान हमें उसके प्रकाशित विचारों से होता है। यह भी परोक्ष ज्ञान है। ऐसा परोक्ष ज्ञान भी मनोविज्ञान के लिए आवश्यक है। मनोविज्ञान का आधार मनुष्य का व्यक्तिगत अनुभव ही नहीं, वरन् दूसरों का अनुभव भी है, जो उनकी बाह्य-क्रियाओं द्वारा प्रकाशित होता है। अतएव मनोविज्ञान के लिए मनुष्यों की बाह्य-क्रियाओं का अध्ययन करना

उतना ही आवश्यक है जितना अपने मन में होनेवाली क्रियाओं का। इस बात को ध्यान में रखकर कितने ही मनोविज्ञान के लेखकों ने मनोविज्ञान की परिभाषा एक नये प्रकार से की है। मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मन को चेतन और अचेतन क्रियाओं का अध्ययन अपरोक्ष अनुभूति द्वारा तथा मनुष्य की बाह्य-क्रियाओं का निरीक्षण करके करता है; मनोविज्ञान चेतन तथा अचेतन मन की व्यवहार में प्रकाशित तथा अप्रकाशित मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान की उपयोगिता

अपने आप को समझने में उपयोगिता—मनुष्य का स्वभाव समझने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन परम आवश्यक है। मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा हम अपने आपको तथा दूसरों को समझने लगते हैं। मनुष्य के अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय मनुष्य का स्वभाव ही है। आधुनिक काल में जितना अधिक हमारा ज्ञान बाह्य संसार के विषय में बढ़ गया है, अपने स्वभाव के विषय में नहीं बढ़ा है। पदार्थ-विज्ञान ने अब तक बाह्य पदार्थों का ज्ञान बढ़ाया है किन्तु आत्मा का ज्ञान नहीं बढ़ाया। आत्म-ज्ञान के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन परम आवश्यक है।

अपने मन में होनेवाली क्रियाओं का ज्ञान हम जब तक भलीभाँति नहीं कर लेते, हम अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख सकते। मन के प्रबल उद्वेगों को नियन्त्रित रखने के लिए उनके गुप्त कारणों को जानना आवश्यक है। कितने लोग क्रोध करना बुरा समझते हैं लेकिन अवसर आने पर क्रोध के आवेश में आने से अपने आप को नहीं रोक पाते। कभी-कभी कोई बुरा विचार हमारे मन में बार-बार आता है और उसे भुलाने की पूरी चेष्टा करने पर भी हम उसे मन से निकाल नहीं सकते। इस प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन अति आवश्यक है।

मनोविज्ञान का अध्ययन नई बातों को सीखने का सुगम उपाय बताता है। हमारे पढ़ने-लिखने के संस्कार किस तरह स्थायी बनाये जा सकते हैं तथा हम अपने पुराने अनुभव से किस तरह अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकते हैं, यह शिक्षा भी हमें मनोविज्ञान से मिलती है।

मनोविज्ञान ध्यान को वश में करने का उपाय बताता है। ध्यान को वश में करने से संसार के कार्य हम सरलता से कर सकते हैं। अपना जीवन सफल

बनाने के लिए ध्यान को वश में करना अति आवश्यक है। मनोविज्ञान यह बताता है कि हम ध्यान से आध्यात्मिक लाभ किस प्रकार उठा सकते हैं।

मनोविज्ञान मनुष्य के चरित्र-निर्माण में सहायक होता है। मनोविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करके हम उसमें प्रदर्शित वैज्ञानिक मार्ग से चलकर अपना चरित्र सुदृढ़ बना सकते हैं तथा अपने आपको पतन से बचा सकते हैं।

मनोविज्ञान और व्यावहारिक जीवन—जिस प्रकार भौतिक विज्ञान मनुष्य के व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने में सहायक होता है उसी प्रकार मनोविज्ञान भी मनुष्य के व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने में सफल होता है। मनुष्य बाह्य प्रकृति के नियमों को जानकर तथा अनेक प्रकार के उपयोगी पदार्थों के गुणों को जानकर अपनी कार्यक्षमता और शक्ति को बढ़ाता है, इसी प्रकार मानसिक क्रियाओं और मानसिक शक्तियों को जानकर मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन को अधिक सफल बना सकता है। कितने ही परिवार इसलिए दुःखी रहते हैं कि परिवार के लोग अपने व्यवहार मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखकर नहीं करते। इसी प्रकार कितने ही राजनीतिज्ञ सब प्रकार की शुभ-कामना रखते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति में इसलिये असफल हो जाते हैं कि वे समाज-मनोविज्ञान के अकाट्य नियमों की अवहेलना कर देते हैं। मनुष्य की सभी क्रियाओं की जड़ उसका मन है। यदि हम किसी व्यक्ति के मन को प्रभावित कर सकते हैं तो उसका आचरण अपने अनुकूल बनाने में समर्थ अवश्य होंगे। परन्तु किसी व्यक्ति के मन को प्रभावित करने के लिये हमें उसके मन के बाहरी और भीतरी तथ्यों को भली प्रकार से जानना पड़ेगा और मनोवैज्ञानिक नियमों को ध्यान में रखते हुए उससे व्यवहार करना पड़ेगा।

दूसरों के समझाने में उपयोगिता—मनोविज्ञान का ज्ञान न रहने से हम कितनी ही बार दूसरों से उचित व्यवहार करने में भूल करते हैं। कितने ही लोग अपने किसी काम के हेतु को इतना छिपाये रहते हैं कि उनके साधारण व्यवहार का अर्थ लगाने में हमें धोखा हो जाता है। इस तरह कितने ही सीधे-सादे लोग चालाक लोगों के चंगुल में फँस जाते हैं। कितने ही भले लोगों का इस तरह चापलूसों ने नाश कर डाला है। मनुष्यों के छिपे हुए हेतु को समझने में मनोविज्ञान बहुत सहायता पहुँचाता है।

मनोविज्ञान का अध्ययन समाज-सुधारक को अपने काम में कुशल बनाता है, राजनीतिज्ञ को व्यवहार में कुशलता सिखाता है। किसी राजनीतिज्ञ को दूसरे राजनीतिज्ञों की मन की अप्रकाशित बात समझना अति आवश्यक

है। प्रत्येक राजनीतिज्ञ अपने मन की बात को गुप्त रखता है और दूसरे के मन की बात को जानने की कोशिश करता है। इसी तरह वह अपने वास्तविक हेतु को जितना अधिक दूसरों से छिपाये रख सकता है, उतना ही चतुर समझा जाता है। इस प्रकार के कार्य करने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन परम आवश्यक है।

मनोविज्ञान का अध्ययन बालकों के लालन-पालन और उनकी शिक्षा में बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ है। बाल-मनोविज्ञान और शिक्षा-मनोविज्ञान की उत्पत्ति तथा प्रचार मनोविज्ञान की मौलिकता को सिद्ध करते हैं। आधुनिक प्रत्येक शिक्षित माता को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक समझा जाता है।

शिक्षा-विज्ञान के विकास में मनोविज्ञान की ही प्रधानता है। शिक्षक जब तक बालक के स्वभाव का अध्ययन भलीभाँति नहीं करता, उसकी रुचियों को नहीं जानता, तब तक अपने पाठ्य-विषय को रोचक नहीं बना सकता। जिस विषय में बालकों की रुचि नहीं होती, वे उस पर ध्यान नहीं लगा सकते। ऐसे विषय को याद करने में उन्हें कठिनाई होती है। यदि अरुचिकर विषय याद भी हो जावे तो बालक ऐसे विषय को शीघ्रता से भूल जाता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के बालकों की रुचि भी अलग-अलग होती है। इसी तरह बालकों की बुद्धि में भी भेद होता है। शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए अध्यापक को बालकों की रुचियों का अध्ययन करना तथा उनके बुद्धि-भेद का पता चलाना अति आवश्यक है। जो पढ़ाई एक बालक के लिए अति लाभकारी हो वही दूसरे को हानिकारक सिद्ध हो सकती है। मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में सभी बालकों को एक साथ बैठाकर एक-सी ही शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार बालकगण शिक्षा से उतना लाभ नहीं उठाते जितना उनके स्वभाव के अध्ययन के पश्चात् दी गई शिक्षा से उठाते हैं। शिक्षा-वैज्ञानिक रूसो का यह मत अब सर्वमान्य है कि शिक्षक को न सिर्फ अपने पाठ्य-विषय को ही जानना चाहिए, किन्तु बालक को भी भली प्रकार पहचानना चाहिए। बालक के जीवन की अनेक समस्याएँ मनोविज्ञान के अध्ययन से सुलझाई जा सकती हैं। कितने ही बालक उद्दण्ड होते हैं और कितने ही अन्यमनस्क होते हैं। इनके कारणों का पता उनके जीवन के ऊपरी अध्ययन से नहीं चलता। इसके लिए उनके मन का पूर्ण अध्ययन करना आवश्यक है।

स्वास्थ्यलाभ में उपयोगिता—मनोविज्ञान का अध्ययन स्वास्थ्य-लाभ

करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। जन-साधारण में यह बात प्रचलित है कि भय और क्रोध मनुष्य के स्वभाव को नष्ट कर देते हैं। मनोविज्ञान इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है। क्रोध और भय का प्रतिकार मैत्री-भावना के अभ्यास से होता है। अतएव मैत्री-भावना का अभ्यास स्वास्थ्य-वर्द्धक है। जिन विचारों से मनुष्य के मन में प्रसन्नता आती है, वे विचार शक्तिवर्द्धक और आरोग्यदायक होते हैं। इसके प्रतिकूल जिन विचारों से मानसिक क्षोभ होता है, वे स्वास्थ्य-विनाशक होते हैं।

मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों ने मनुष्य के विचार और स्वास्थ्य के सम्बन्ध पर एक नया प्रकाश डाला है। मनुष्य की बहुत-सी अतृप्त इच्छाएँ तथा उसकी कलुषित भावनाएँ मानसिक अथवा शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होती हैं। चित्त-विश्लेषक चिकित्सकों ने कई ऐसे रोगों का पता चलाया है जिनकी उत्पत्ति का कारण मानसिक रहता है और जिन्हें मानसिक चिकित्सा के द्वारा ही हटाया जा सकता है। हिस्टीरिया, हठीलापन, उन्माद, अनिद्रा, सोते समय बकवाद करना, आत्मघात की प्रवृत्ति आदि अनेक ऐसे मानसिक रोग हैं जो किसी प्रकार की शारीरिक चिकित्सा के द्वारा नहीं हटाये जा सकते। ऐसे रोगों को हटाने के लिए मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। अनेक शारीरिक रोगों का कारण भी मानसिक होता है। कभी-कभी साधारण शारीरिक रोग संवेगपूर्ण भावना के दमन से उत्पन्न हो जाते हैं। लकवा, मिरगी, कोष्ठबद्धता, मधु-मेह, दमा आदि साधारण रोगों का कभी-कभी मानसिक कारण पाया गया है। कितने ही शारीरिक रोग बहानेबाजी के रोग होते हैं। मन इन रोगों की उत्पत्ति किसी अप्रिय कर्तव्य से बचने के लिए करता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं जिसमें मनोविज्ञान की आवश्यकता न हो।

वैज्ञानिक विधि[1]

मनोविज्ञान एक विज्ञान है। इसके अध्ययन में हमें सदा इस बात पर ध्यान रखना होता है कि हमारा अध्ययन वैज्ञानिक रीति का हो, शास्त्रीय ढङ्ग का न हो। शास्त्रीय रीति वैज्ञानिक रीति से भिन्न है। शास्त्र किसी विशेष मत को लेकर चलता है और उस मत का प्रतिपादन अपनी युक्तियों के द्वारा

1 Scientific Method.

करता है। उसका लक्ष्य एक निश्चित मत का प्रचार करना, उसे सामान्य लोगों के लिए सुगम बनाना, दूसरे मतों का खण्डन करना तथा अपने मत को दृढ़ करना है। शास्त्र का ज्येष्ठ प्रमाण आप्त वचन है। इस आप्त वचन पर आपेक्ष नहीं किया जा सकता; आप्त वचन चाहे वेद का हो अथवा कुरान या बाइबिल का। किसी ऋषि की बात को गले उतारना शास्त्रीय वाद-विवाद का लक्ष्य होता है।

इसके प्रतिकूल विज्ञान अपने अनुभव की कसौटी पर ही सब मतों और युक्तियों को कसता है। ज्येष्ठ प्रमाण यहाँ अपना अनुभव है। तर्क अनुभव के आधार पर ही किया जा सकता है। जिस सिद्धान्त की प्रामाणिकता प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखायी जा सकती वह सिद्धान्त ही नहीं। विचार का आधार यहाँ प्रत्यक्ष ही है।

विज्ञान का विश्वास प्रयोग पर रहता है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सत्यता प्रयोगों द्वारा सिद्ध की जा सकती है। ये प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति को सिद्धान्तों की सत्यता जानने के लिए स्वयं करने पड़ते हैं। बिना प्रयोगों के विज्ञान का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि हम प्रयोग न करके किसी विज्ञान के अध्ययन में किसी विशिष्ट व्यक्ति के मत का उल्लेख करें तो हम वैज्ञानिक रीति का अनुसरण नहीं करेंगे।

वैज्ञानिक रीति के पाँच अङ्ग हैं—

१—प्रदत्त[1] का इकट्ठा करना।

२—उनका वर्गीकरण करना[2]।

३—कल्पना[3] की सृष्टि।

४—निरीक्षण और प्रयोग[4]। (कल्पना की सचाई सिद्ध करने के लिए।)

५—नियम[5] को स्थिर करना।

प्रत्येक वैज्ञानिक नियम उपर्युक्त विधि से स्थिर किया जाता है। उदाहरणार्थ, पानी में पदार्थों के वजन घटाने के नियम को लीजिये। यह नियम कैसे स्थिर किया गया? प्रत्येक व्यक्ति देखता है कि जब कोई ठोस पदार्थ पानी में डाला जाता है तो उसका वजन घट जाता है। जब हम घड़े को पानी में डालते हैं, अथवा उसे बाहर निकालते हैं तो इस प्रकार का अनुभव होता है। पानी के भीतर एक सिल को हटाना जितना सरल होता है उतना बाहर नहीं

1. Data. 2. Classification. 3 Hypothesis. 4. Observation and Experiment. 5. Law.

होता। जब हम पानी में डुबकी लेते हैं तो अपने आपको बाहर की ओर उतराते पाते हैं। इस तरह अनेक प्रदत्तों को इकट्ठा करने से यह कल्पना उठती है कि पानी में ठोस पदार्थों के वजन कम कर देने की शक्ति है। ऐसी कल्पना आर्कमिडीज के मन में उठी। उसने इस कल्पना की सचाई को परखने के लिए अनेक प्रयोग किये। उन प्रयोगों के फलस्वरूप यह नियम स्थिर हुआ कि प्रत्येक पदार्थ पानी में डाले जाने पर वजन में उतना कम हो जाता है, जितना वजन उसके आयतन के पानी का होता है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक रीति मनोविज्ञान के अध्ययन में लगाई जाती है। ध्यान की एकाग्रता के नियम, थकावट के नियम, सीखने के नियम, याद करने के नियम इसी वैज्ञानिक विधि से स्थिर किये गये हैं। इन नियमों की सत्यता प्रत्येक व्यक्ति प्रयोग करके देख सकता है। जहाँ प्रयोग सम्भव नहीं वहाँ निरीक्षण से काम लिया जाता है।

मनोविज्ञान के अध्ययन की विधियाँ

मनोविज्ञान के अध्ययन की पाँच मुख्य विधियाँ हैं—

(१) अन्तर्दर्शन[1],
(२) निरीक्षण[2],
(३) प्रयोग[3],
(४) तुलना[4] और
(५) मनो-विश्लेषण[5]।

अन्तर्दर्शन—मनोविज्ञान की सबसे प्रमुख विधि अन्तर्दर्शन है। यह मनोविज्ञान की विशेष विधि है। दूसरे विज्ञान जहाँ प्रधानतः निरीक्षण और प्रयोग से काम लेते हैं वहाँ मनोविज्ञान अन्तर्दर्शन से काम लेता है। मन में होनेवाली अनेक क्रियाओं का अध्ययन अन्तर्दर्शन के द्वारा किया जाता है। यह अपने मन के प्रति साक्षी-भाव रखता है। मनोविज्ञान के प्रदत्त मन में ही पाये जा सकते हैं तथा उनको इकट्ठा करने के लिए मनुष्य को भीतर छान-बीन करनी पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मन को देख सकता है। दूसरे व्यक्ति के मन में होनेवाली क्रियाओं का अनुमान हम अपने मन में होनेवाली क्रियाओं के ज्ञान से ही करते हैं। यदि कोई हमें वैज्ञानिक नियम को बतावे तो उसकी सत्यता भी हम अपने मन की क्रियाओं को जानकर प्रमाणित कर सकते हैं।

---

1 Introspection. 2. Observation. 3. Experiment. 4. Comparison. 5. Psycho-analysis.

इस विधि में अनेक कठिनाइयाँ हैं। कितने ही लोग तो इस विधि को वैज्ञानिक कहने में ही आपत्ति करते हैं। पहली कठिनाई यह है कि ऐसी योग्यता किसी विरले ही व्यक्ति में होती है कि वह अपने मन की क्रियाओं को परख सके। साधारणतः मनुष्य बाहरी पदार्थ को ही देखता है। अपने मन की क्रियाओं को देखने का अभ्यास न रहने के कारण साधारण व्यक्ति उनका निरीक्षण नहीं कर सकता।

दूसरी कठिनाई प्रदत्त की विलक्षणता है। मानसिक प्रदत्त बड़े चंचल होते हैं। जब हम उनका निरीक्षण करने लगते हैं तो वे लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, किसी उद्वेग को लीजिए। यदि हम किसी उद्वेग का अध्ययन करने लगें तो वह लुप्त हो जाता है। क्रोध पर विचार करने से क्रोध चला जाता है और भय पर विचार करने से भय। तब इसका स्वरूप कैसे जाना जाय?

पहली कठिनाई अभ्यास से दूर की जा सकती है। निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति मनोवैज्ञानिक नहीं बन सकता। जैसे हर एक काम में कुशलता प्राप्त करने के लिए शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता होती है, वैसे ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी विशेष प्रकार की ट्रेनिङ्ग की आवश्यकता होती है। जिन लोगों ने अपने मन का निरीक्षण करने का प्रयत्न किया है वे अवश्य उसका निरीक्षण कर सके हैं।

दूसरी कठिनाई भी अभ्यास से जाती रहती है। अपने मन के प्रति साक्षी-भाव रखना सम्भव है। ऐसा साक्षी-भाव प्रत्येक आध्यात्मिक चिन्तन करनेवाला व्यक्ति रखता है। फिर जो प्रदत्त तुरन्त के अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकते, उन्हें स्मृति से पूरा किया जा सकता है।

मानसिक क्रियाओं के अध्ययन में स्मृति का वैसा ही महत्व का स्थान है जैसा प्रत्यक्ष अनुभव का। फिर जो कुछ कमी इस तरह भी रह जाती है उसकी पूर्ति दूसरों के अनुभव से लाभ उठाकर की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दूसरे लोगों के अनुभव को भी जानने की चेष्टा करता है और उसकी तुलना अपने अनुभव से करता है।

कोई-कोई लोग अन्तर्दर्शन की रीति को वैयक्तिक रीति होने के कारण अवैज्ञानिक कहते हैं। पर उनकी यह आपत्ति ठीक नहीं। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक अपने आत्मानुभव की तुलना दूसरों के आत्म-अनुभव से करता है और उसी बात को प्रमाणित करता है, जो सभी के अनुभव में ठीक उतरती है।

अन्तर्दर्शन की रीति में चाहे जो कठिनाई हो, अथवा उसके प्रति जो कुछ

भी आपत्तियाँ की जावें, मनोविज्ञान का आधार यही रीति हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह केवल अपने मन को जान सकता है। दूसरे व्यक्ति का मन हम अपने मन के आधार पर ही जानते हैं। दूसरे के मन का ज्ञान परोक्षज्ञान है। अतएव मनोविज्ञान का आधार सदा अन्तर्दर्शन ही रहेगा।

निरीक्षण—मनोविज्ञान की दूसरी विधि निरीक्षण है। जैसे कि दूसरे विज्ञान निरीक्षण से काम लेते हैं, मनोविज्ञान भी निरीक्षण से काम लेता है। दूसरे मनुष्यों के मनोभाव उनकी बाह्य चेष्टाओं, क्रियाओं तथा बात-चीत से जाने जाते हैं। क्रोध के समय मनुष्य की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं, उसका मुँह फूला-सा दिखलाई पड़ता है, कभी यह ओठ काटता है, कभी मुट्ठियों को जोर से बाँधता और जमीन पर पैर पटकता है। इन सब चेष्टाओं को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति क्रोध में है। इसी तरह भयभीत अवस्था में मनुष्य की विशेष प्रकार की चेष्टाएँ हो जाती हैं। इन चेष्टाओं को देखकर उसके मन की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य का ध्यान जब किसी बात में लगा रहता है तब उसे अपने आस-पास होनेवाली दूसरी बातों का ज्ञान नहीं रहता। यहाँ तक कि शरीर में कोई फोड़ा होने पर भी उसे खबर नहीं होती। थकावट की अवस्था में मनुष्य के अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं, उसका मन किसी काम में नहीं लगता। वह सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता। सिर एक ओर लटक जाता है। इन बाहरी चेष्टाओं को देखकर हम मनुष्य की मानसिक स्थिति की कल्पना करते हैं।

निरीक्षण की विधि का अधिक प्रयोग होने पर ही मनोविज्ञान की अनेक शाखाओं का विस्तार हुआ। शिक्षा-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, विक्षिप्त-मनोविज्ञान आदि मनोविज्ञान की शाखाएँ निरीक्षण का ही विशेष प्रयोग करती हैं। वास्तव में जब निरीक्षण और प्रयोग का उपयोग मनोविज्ञान में होने लगा तभी से यह विज्ञान विस्तीर्ण हुआ और संसार के महत्त्वपूर्ण विज्ञानों में से एक समझा जाने लगा। जब तक मनोविज्ञान का आधार अन्तर्दर्शन मात्र था तब तक उसका स्थान तत्त्व-विचार में था, पर उसे विज्ञान नहीं समझा जाता था।

प्रयोग—मनोविज्ञान के अध्ययन की तीसरी विधि प्रयोग है। प्रयोग सुपरिचित तथा सुनियन्त्रित परिस्थिति में किये गये निरीक्षण को कहते हैं। भौतिक मनोविज्ञान का प्रधान आधार प्रयोग ही है। प्रत्येक नियम की सत्यता प्रयोगों द्वारा स्थिर तथा प्रमाणित की जाती है। बालकों को भौतिक-विज्ञान के

किसी नियम को समझाते समय शिक्षक उसके नियम को सिद्ध करनेवाले प्रयोग को उनके समक्ष करके दिखाता है अथवा बालकगण स्वयं उस प्रयोग को करते हैं।

जैसे भौतिक-विज्ञान के अध्ययन में प्रयोग किये जाते हैं, वैसे ही मनोविज्ञान के अध्ययन में भी किये जाते हैं। पर मनोविज्ञान के प्रयोगों का क्षेत्र परिमित है। प्रत्येक मानसिक क्रिया पर प्रयोग नहीं किया जा सकता; मन की बहुत-सी क्रियाओं के लक्षणों का निरीक्षण मात्र किया जा सकता है। पागलपन की स्थिति समझने के लिए किसी मनुष्य को पागल नहीं बनाया जा सकता, इसी तरह शरीर और मन का सम्बन्ध प्रमाणित करने के लिए किसी व्यक्ति पर ऐसे प्रयोग नहीं किये जा सकते जिससे उसे कोई बड़ा दुःख हो। पर कुछ मन की क्रियाएँ ऐसी हैं, जिन पर प्रयोग किया जा सकता है। संवेदना, ध्यान, स्मृति आदि पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, रङ्ग के ज्ञान को लीजिए। कितने लोगों में लाल और हरे रङ्ग को देखने की शक्ति ही नहीं रहती और कितने लोग किसी प्रकार के रङ्ग नहीं देख सकते। लाल का विपरीत रङ्ग हरा और पीले का नीला है। सफेद रङ्ग का ज्ञान सब रङ्गों की संवेदना का सम्मिश्रण मात्र है—यह प्रयोग से सिद्ध किया जाता है। इसी तरह याद करने का सबसे उत्तम उपाय स्मृति के प्रयोगों द्वारा स्थिर किया जा सकता है। आज-कल शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक मौलिक प्रयोग हो रहे हैं, जिससे कि शिक्षा वैज्ञानिक ढङ्ग से दी जा सके।

तुलना—मनुष्यों के मन की अनेक प्रवृत्तियों का ज्ञान पशुओं की उन्हीं प्रवृत्तियों के अध्ययन से भलीभाँति होता है। इस ढङ्ग के अध्ययन को तुलना-विधि कहते हैं। हमारी सहज क्रियाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ पशुओं की सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों से भिन्न नहीं हैं। अतएव इनका वास्तविक स्वरूप जानने के लिए पशुओं के स्वभाव को जानना अति आवश्यक है। पशुओं पर जो प्रयोग किये जा सकते हैं वे मनुष्यों पर नहीं किये जा सकते, पर इन प्रयोगों का लाभ मनुष्य के स्वभाव को समझने में उठाया जा सकता है। पशुओं के व्यवहारों का निरीक्षण करके तथा प्रयोग द्वारा यह जाना जा सकता है कि प्राणियों में कौन-सी मूल प्रवृत्ति अधिक बली है और किंसमें अधिक परिवर्तन होना सम्भव है।

इस प्रकार के अध्ययन के प्रति कुछ आपत्तियाँ अवश्य खड़ी की जा सकती हैं। पशु के स्वभाव और मनुष्य के स्वभाव में विशेष अन्तर है। अतएव

पशु-स्वभाव के आधार पर मनुष्य स्वभाव का अनुमान लगाने में अनेक प्रकार की भूलें हो सकती हैं, जिसके कारण हमारा मनोविज्ञान का ज्ञान ही भ्रमात्मक हो सकता है। पशुओं की मूल प्रवृत्तियाँ उतनी परिवर्तनशील नहीं जितनी मनुष्यों की। पशुओं में विचार का भी सम्पूर्ण अभाव है। तुलना की विधि से काम लेते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

मनो-विश्लेषण—मन के अन्तर्पटल का अध्ययन करने के लिए आज-कल एक नई विधि का प्रयोग हो रहा है। यह चित्त-विश्लेषण की विधि है। इस विधि के द्वारा मनुष्य के अदृश्य मन का ज्ञान किया जाता है। मनुष्य की अनेक ऐसी भावनाएँ तथा वासनाएँ हैं जिनका न उसे ज्ञान है और न प्रयत्न करने पर ही वह उन्हें पहचान पाता है।

मनुष्य का अन्तर्दर्शन भी इन वासनाओं को खोजने में सफल नहीं होता। जितना ही मनुष्य इन वासनाओं को जानने की चेष्टा करता है वे उससे उतनी ही छिपती हैं। पर ये वासनाएँ उसके जीवन में अपना प्रभाव अनेक प्रकार से डालती हैं। इनके कारण मनुष्य अनेक बार अविवेक के काम कर बैठता है। इन कार्यों को करके फिर वह स्वयं ही पछताता है। इन्हीं के कारण उसके मन में अनेक प्रकार की झक सवार होती है। उसे कभी-कभी इन झकों का ज्ञान हो जाता है और वह उन्हें छोड़ना चाहता है पर वे छुड़ाने पर भी नहीं छूटतीं। विक्षिप्तता भी इन्हीं छिपी वासनाओं का कार्य है। फ्रायड महाशय ने मन के इस भाग का विशेष अन्वेषण किया है। युंग और एडलर महाशयों ने भी मन के इस अदृश्य भाग का पर्याप्त अन्वेषण किया है। उनके अध्ययन के परिणाम-स्वरूप चित्त-विश्लेषण-विज्ञान नामक एक नया विज्ञान निर्मित हो गया।

मनो-विश्लेषण-विज्ञान की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन इस स्थल पर उपयुक्त नहीं। आगे चलकर एक विशेष प्रकरण में इसका विस्तारपूर्ण वर्णन किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस विधि में मनुष्य के अनेक ऐसे अनुभवों का अध्ययन किया जाता है जो साधारण दृष्टि से निरर्थक समझे जाते हैं। उदाहरणार्थ स्वप्न के अनुभव, शारीरिक निरर्थक चेष्टाएँ, बकवाद के समय बोले गये शब्द, भूलें, पागलपन की अवस्था की चेष्टाएँ इत्यादि। चित्त-विश्ले-षकों का विश्वास है कि हमारी प्रत्येक क्रिया साधारण होती है। कोई भी क्रिया निरर्थक नहीं होती। जिन क्रियाओं को हम निरर्थक समझते हैं, वे हमारी गुप्त वासनाओं को प्रकाशित करती हैं।

मनोविज्ञान की शाखाएँ

आधुनिक काल में मनोविज्ञान एक व्यापक विज्ञान हो गया है। जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं जिसके समझने के लिए मनोविज्ञान से काम न लिया जाता हो। इस तरह मनोविज्ञान की अनेक शाखाएँ हो गई हैं। नीचे की तालिका में इन शाखाओं को दर्शाया गया है।

मनोविज्ञान
- सामान्य-मनोविज्ञान[1]
  - वैयक्तिक-मनोविज्ञान[4]
  - समाज-मनोविज्ञान[5]
- प्रयुक्त-मनोविज्ञान[2]
  - शिक्षा-मनोविज्ञान[6]
  - बाल-मनोविज्ञान[7]
  - व्यापार-मनोविज्ञान[8]
- असाधारण-मनोविज्ञान[3]
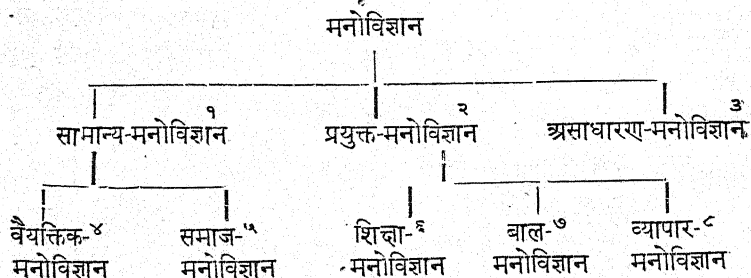
वैयक्तिक-मनोविज्ञान—साधारण मनोविज्ञान जिसका अध्ययन पुराने समय से करता चला आया है वह वैयक्तिक मनोविज्ञान है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने मन की क्रियाओं का अध्ययन करता है। दूसरे व्यक्तियों की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन भी व्यक्तिगत रूप से किया जाता है। इस प्रकार के मन के अध्ययन को विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान भी कहते हैं। इसके अध्ययन की प्रधान विधि अन्तर्दर्शन है। वास्तव में यही मनोविज्ञान मूल मनोविज्ञान है। इसी की वृद्धि होने पर मनोविज्ञान की दूसरी शाखाएँ निकली हैं। आज-कल यह मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र माना जाता है।

समाज-मनोविज्ञान—समाज मनोविज्ञान सामाजिक मन का अध्ययन करता है। समाज में आने पर मनुष्य जैसा व्यवहार करता है वैसा अकेला रहने पर नहीं करता। मनुष्य का स्वभाव ही समाज की भित्ति है। मनुष्य में कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो समाज-संगठन में लाभ पहुँचाती हैं, किन प्रवृत्तियों से हानि होती है, तथा उन प्रवृत्तियों के विकास के नियम क्या हैं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उनका रूप क्या होता है—इन प्रश्नों का अध्ययन समाज-मनोविज्ञान में किया जाता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य विशेष प्रकार के कपड़े क्यों पहनता है,

---

1. General Psychology. 2. Applied Psychology. 3. Abnormal Psychology. 4. Individual Psychology. 5. Social Psychology. 6. Educational Psychology. 7. Child Psychology. 8. Industrial Psychology.

वह विशेष त्योहारों को क्यों मनाता है, विशेष प्रकार के लोगों से मित्रता क्यों करता है--ऐसे प्रश्नों का उत्तर समाज-मनोविज्ञान से मिलता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की एक बिलकुल नई शाखा शिक्षा-मनोविज्ञान है। जिन लोगों के ऊपर बालकों की शिक्षा का भार पड़ा उन्होंने देखा कि बालकों को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से पढ़ाया जाय तो उन्हें पुरानी रीति से पढ़ाने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ होगा। मनोविज्ञान की यह शाखा प्रयोगों से भरी है। जिस तरह वैयक्तिक मनोविज्ञान का प्रधान आधार अन्तर्दर्शन और समाज-मनोविज्ञान का निरीक्षण है, उसी तरह शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रधान आधार प्रयोग है। शिक्षा-मनोविज्ञान में बालकों की बुद्धि मापी जाती है, विभिन्न प्रकार से पाठ याद करने की रीतियों पर प्रयोग किया जाता है, अध्ययन के समय और थकावट पर प्रयोग किये जाते हैं। ऐसे ही अनेक शिक्षा-सम्बन्धी विषयों का प्रयोग द्वारा अध्ययन होता है।

बाल-मनोविज्ञान—जिस तरह शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षक के लिए उपयोगी है, उसी तरह बाल-मनोविज्ञान प्रत्येक माता-पिता के लिए उपयोगी है। हरबर्ट स्पेंसर ने तो इसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य बनाने की सलाह दी है। प्रत्येक भावी माता को इस विज्ञान का अध्ययन अति आवश्यक है।

बाल-मनोविज्ञान में बालक के स्वभाव का अध्ययन किया जाता है। हम सभी एक समय बालक थे और अब भी बालकों को सदा अपने आस-पास देखते रहते हैं, तिस पर भी उनकी मनोवृत्तियों को भली-भाँति समझना कठिन है। बालक चलना-फिरना, बोलना, रहन-सहन कैसे सीखता है, इस विषय पर बाल-मनोविज्ञान विचार करता है। इसके अध्ययन से बालक के लालन-पालन में सहायता मिलती है।

व्यापार-मनोविज्ञान--मनोविज्ञान की यह शाखा व्यापारियों के लिए उपयोगी है। इसके ज्ञान से वे अपने ग्राहकों को प्रसन्न रख सकते हैं। इसी तरह मिल-मालिक अपने मजदूरों को प्रसन्न रख सकते हैं। जो व्यक्ति व्यापार-मनोविज्ञान के प्रतिकूल व्यवहार करता है वह व्यापार में असफल हो जाता है।

असाधारण-मनोविज्ञान--मनोविज्ञान की इस शाखा को असाधारण मनोविज्ञान भी कहा जाता है। साधारण व्यक्तियों के मन का अध्ययन असाधारण व्यक्तियों के मन के अध्ययन से हो सकता है। जिस तरह मनुष्य स्वास्थ्य के

रहस्य को बीमारियों के अध्ययन से ठीक तरह से समझता है, उसी तरह असाधारण मन के अध्ययन से साधारण मन की गूढ़ क्रियाएँ समझ में आती हैं।

आधुनिक काल में मनोविज्ञान की इस शाखा ने बड़ी उन्नति की है। इसकी वृद्धि से चित्त-विश्लेषण नामक नया ही विज्ञान खड़ा हो गया है। इस विज्ञान में मनुष्य की उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो उसके अनजाने होती रहती हैं। इसके अध्ययन से मनोविज्ञान के अध्ययन की महत्ता स्पष्ट हो जाती है और मनुष्य यह जान लेता है कि वह अपने ही विषय में कितना कम जानता है तथा अपने आपको कितने प्रकार से धोखा देता रहता है। इस शाखा के अध्ययन से मनुष्य को उसके अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों से मुक्त होने में सहायता मिलती है।

मनोवृत्ति[१]

ऊपर लिखा जा चुका है कि मनोविज्ञान मन की दृश्य और अदृश्य क्रियाओं का अध्ययन करता है। दृश्य क्रियाएँ चेतन[२] मन में होती हैं और अदृश्य क्रियाएँ अचेतन[३] मन में। मन की इन क्रियाओं को मनोवृत्ति भी कहा जाता है। साधारणतः मनोवृत्ति शब्द चेतन मन की क्रिया के बोध के लिए उपयुक्त होता है।

प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक[४], वेदनात्मक[५] और क्रियात्मक[६]। मनोवृत्ति के इन तीन पहलुओं को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से मनोवृत्ति का स्वरूप नष्ट हो जाता है। हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसके साथ-साथ वेदना और क्रियात्मक भाव की भी अनुभूति होती है। मान लीजिए, हम अँधेरे में जाते हुए रास्ते में एक रस्सी पड़ी देखते हैं। इस रस्सी को हम सर्प समझ बैठते हैं। सर्प का भ्रम उत्पन्न होते ही हमें भय होता है, और हम वहाँ से भागते हैं। हमारे इस साधारण से अनुभव में मनोवृत्ति के तीनों पहलू स्पष्ट दिखाई देते हैं। मनोवृत्ति का ज्ञानात्मक पहलू सर्पज्ञान है, वेदनात्मक पहलू भय और क्रियात्मक पहलू भागना है।

हमारे प्रत्येक अनुभव में मनोवृत्ति के उपर्युक्त ये तीनों पहलू वर्तमान रहते हैं, किन्तु विषय को भली-भाँति समझने के लिए इन तीनों पहलुओं को एक दूसरे से पृथक करके अध्ययन किया जाता है। मनोवृत्ति के विभिन्न स्तर होते हैं। उन स्तरों के अनुसार मानसिक क्रियाओं के भिन्न-भिन्न भाग होते हैं।

---

1. Psyconosis. 2. Conscious. 3. Unconscious. 4. Cognitive. 5. Affection. 6. Conative.

मनोविज्ञान में जिन मानसिक क्रियाओं और उनके परिणामों का अध्ययन किया जाता है, उन्हें मनोवृत्ति के पहलुओं के अनुसार निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है—
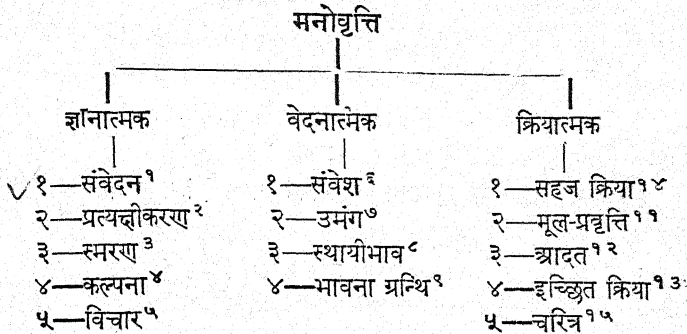
विषय-विस्तार

मनोविज्ञान, मनोवृत्ति के उपर्युक्त विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त वह अचेतन मन की क्रियाओं पर भी प्रकाश डालता है। व्यक्तित्व[१५] और बुद्धि[१६] की विलक्षणता, निद्रा, मूर्छा, सम्मोहन[१७] और विक्षिप्तता[१८] आदि विषयों का समावेश भी मनोविज्ञान में होता है।

मनोविज्ञान का दृष्टिकोण पूर्णतः वैज्ञानिक है। अतएव विधि और निषेध के लिए इस विज्ञान में स्थान नहीं। मन की भली और बुरी दोनों प्रकार की क्रियाओं पर मनोविज्ञान प्रकाश डालता है। मनोविज्ञान के लिए एक विक्षिप्त अथवा दुराचारी पुरुष का जीवन उतना ही महत्व का है जितना कि एक महात्मा का जीवन। मनोविज्ञान किसी भी मानसिक क्रिया को भली अथवा बुरी नहीं कहता। उसका लक्ष्य विभिन्न मानसिक क्रियाओं में कारण-कार्य के सम्बन्ध को खोजना है। कितनी ही मानसिक क्रियाओं के कारण अव्यक्त रहते हैं। इन कारणों का पता चलाना मनोविज्ञान का कार्य है।

मनोविज्ञान एक ओर पदार्थ-विज्ञान[१९] से भिन्न है और दूसरी ओर तर्क-विज्ञान[२०] से। पदार्थ-विज्ञान बाह्य-पदार्थों का अध्ययन उनके स्वभाव और क्रियाओं के समझने के लिए करता है। मनोविज्ञान बाह्य पदार्थों का अध्ययन उनके अनुभव की विलक्षणता पहचानने के लिए करता है। मनोवैज्ञानिक बाह्य पदार्थों

1 Sensation 2. Perception. 3. Remembering (Memory). 4 Imagination. 5. Thinking 6. Emotion. 7. Mood 8. Entiments 9. Complex. 10 Reflex. 11. Instinct. 12. Habit. 13. Voluntary action. 14. Character. 15. Personality. 16. Intelligence. 17. Hypnosis. 18. Insanity. 19. Physical Sciences. 20. Logic.

का स्वतन्त्र अध्ययन नहीं करता। इसी तरह मनोविज्ञान मन से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अध्ययन के विज्ञानों से भी पृथक् है। कर्त्तव्य-विज्ञान[1] तथा तर्क-विज्ञान मन की क्रियाओं का अध्ययन प्रामाणिकता[2] की दृष्टि से करते हैं। कर्त्तव्य-विज्ञान कर्त्तव्य के आदर्श को स्थिर करता है और तर्क-विज्ञान विचार के आदर्श अर्थात् प्रमाण[3] के स्वरूप को निर्धारित करता है। मनोविज्ञान का आदर्श से कोई सम्बन्ध नहीं। वह एक अनुभवात्मक[4] विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान[5] नहीं।

प्रश्न

१—मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय क्या है? क्या मनोविज्ञान विज्ञान कहा जा सकता है?

२—मनोविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता क्या है? व्यावहारिक जीवन से दो-एक उदाहरण देकर समझाइये।

३—"मनोविज्ञान मन की चेतन क्रियाओं का अध्ययन है"—मनोविज्ञान की इस परिभाषा की विवेचना कीजिये। मनोविज्ञान की एक ऐसी परिभाषा बनाओ जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के दोष न हों।

४—वैज्ञानिक विधि क्या है? मनोविज्ञान में इस विधि का कहाँ तक प्रयोग किया जाता है?

५—'अन्तर्दर्शन' और 'निरीक्षण' को उदाहरण देकर समझाइए 'अन्तर्दर्शन' क्यों मनोविज्ञान की मुख्य विधि मानी जाती है?

६—'अन्तर्दर्शन' की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं? उन कठिनाइयों को हल कैसे किया जाता है?

७—मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाएँ क्या-क्या हैं? बाल-मनोविज्ञान और विक्षिप्त-मनोविज्ञान के विषय को स्पष्ट कीजिए।

८—मनोवृत्ति के विभिन्न पहलू क्या हैं? वे एक दूसरे पर कहाँ तक अवलम्बित हैं? उदाहरण देकर समझाइए।

९—मनोविज्ञान का विस्तार क्या है? मनोविज्ञान की दूसरे मानसिक विज्ञानों से तुलना कीजिए।

१०—अपने किसी ऐसे अनुभव का वर्णन कीजिये, जिससे मनोविज्ञान के अध्ययन की महत्ता स्पष्ट हो।

---

1. Ethics. 2. Norm. 3. Right knowledge. 4. Positive Science. 5. Natural Science.

दूसरा प्रकरण

मन और शरीर का सम्बन्ध

साधारण विचार-धारा

शरीर और मन का पारस्परिक परावलम्बन—प्रत्येक साधारण मनुष्य के विचारानुसार मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है; मन शरीर के बिना नहीं रह सकता और न शरीर मन के बिना। जब शरीर से सब प्रकार की चेतना चली जाती है तो वह मुर्दा हो जाती है। हम साधारणतः जानते हैं कि विचार और इच्छाएँ हमारे मन में उठती हैं किन्तु इन विचारों अथवा इच्छाओं की पूर्ति के लिए शारीरिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। स्वयं शरीर में विचार या इच्छाएँ नहीं उठतीं। शरीर को हम मन से इस तरह स्वतन्त्र वस्तु नहीं मानते; किन्तु हम यह भी जानते हैं कि बिना शरीर के किसी भी इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती। जो कुछ कार्य किया जाता है वह शरीर के द्वारा ही किया जाता है। अधिक काम करने पर जब हम थक जाते हैं और शरीर अस्वस्थ होता है तो ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकते। जब कहीं शरीर में कोई क्षति हो जाती है तो हमें आन्तरिक वेदना होती है। विचार, वेदना और थकावट का अनुभव मन को होता है। किन्तु मन के इन अनुभवों के साथ-साथ शारीरिक क्रियाएँ भी होती हैं। इस तरह हमारा साधारण अनुभव बताता है कि न तो मन शरीर से स्वतन्त्र है और न शरीर मन से।

उपर्युक्त विचारधारा प्रत्येक साधारण मनुष्य की है। जब तक कोई मनुष्य विज्ञान अथवा दर्शन का अध्ययन नहीं करता, उपर्युक्त विचारधारा में कोई दोष नहीं देखता। वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण के आते ही उसका उपर्युक्त निश्चयात्मक ज्ञान सन्देहयुक्त हो जाता है। शरीर और मन के सम्बन्ध को हम जितनी ही दार्शनिक दृष्टिकोण से देखते हैं, अर्थात् इस सम्बन्ध में जितना ही सूक्ष्म विचार करते हैं उतना ही शरीर और मन का सम्बन्ध स्पष्ट न होकर अस्पष्ट होता जाता है। शरीर और मन के स्वभाव में इतना विरोध* है कि हम नहीं जानते कि एक दूसरे में सम्बन्ध कैसे

---

*योरोपीय दर्शन में इस विरोध का स्पष्टीकरण पहले-पहल डेकार्ट महाशय ने किया था। उनके कथनानुसार शरीर जड़-पदार्थ का बना है और जड़ पदार्थ क्रिया तथा चेतनारहित और अवकाशयुक्त होता है। मन के गुण इसके प्रतिकूल हैं। मन क्रियमाण, चेतन और अवकाशरहित होता है। डेकार्ट महाशय

स्थापित रह सकता है। शरीर और मन के सम्बन्ध को भलीभाँति जानने के लिए इन दोनों के स्वभाव को जानना आवश्यक होता है। किन्तु हम जितना मन और शरीर का अध्ययन करते हैं, ऐसी कई बातें ज्ञात होती हैं, जिससे उनके आपस के सम्बन्ध की समस्या सुलझने के बदले और भी उलझती जाती है। अपने वर्तमान ज्ञान की दशा में इस विषय में हम चाहे जिस निष्कर्ष पर पहुँचें, उसे कामचलाऊ ही समझना होगा। सम्भव है कि शरीर और मन के सम्बन्ध की समस्या का सन्तोषजनक उत्तर तभी मिले जब हमारी सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याएँ हल हो जायँ।

वैज्ञानिक विचार-धाराएँ

आधुनिक मनोविज्ञान में और शरीर के सम्बन्ध के विषय में निम्नांकित तीन प्रकार की प्रमुख विचारधाराएँ हैं—

(१) पारस्परिक प्रतिक्रियावाद[1], (२) समानान्तरवाद[2] और (३) जड़वाद[3] तथा व्यवहारवाद।

इन तीनों प्रकार की विचार-धाराओं में इतना विरोध है कि इन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

पारस्परिक प्रतिक्रियावाद—पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के अनुसार मन और शरीर दो भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु मन की किसी भी क्रिया का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और शरीर की क्रिया का मन पर प्रभाव पड़ता है। जब हमें प्रसन्नता होती है तब हमारा शरीर फुर्तीला हो जाता है और जब रंज रहता है तब शरीर भी सुस्त हो जाता है। स्वस्थ शरीर की अवस्था में हम जैसा

ने इस विरोध को दर्शाकर एक बड़ी दार्शनिक समस्या आधुनिक दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित कर दी है। यह समस्या आधुनिक दर्शन में 'जड़ और चेतन के विरोध' की समस्या के नाम से प्रसिद्ध है। शरीर और मन का विरोध इस समस्या का एक अङ्ग है। स्वयं डेकार्ट महाशय इस समस्या का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके। इस समस्या को हल करने के प्रयत्न में दो प्रकार की विरोधी विचार-धाराओं का उदय हुआ। एक के अनुसार जड़ पदार्थ कोई वस्तु नहीं, सभी चेतना सत्ता का प्रकाशमात्र है और दूसरे के अनुसार चेतन-पदार्थ, जड़-पदार्थ का ही एक रूप है।

जड़-चेतन के विरोध की समस्या एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। इस समस्या का अभी तक कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं मिला है।

1 Interaction. 2. Paralism. 3. Materialism. Behaviourism.

सोचते-विचारते हैं, वैसा बीमारी की अवस्था में नहीं। बीमारी की दशा में अनेक अभद्र विचार मन में उठने लगते हैं। इसी तरह अभद्र विचारों के उठने से बीमारी आ जाती है।

शरीर और मन की क्रियाओं के पारस्परिक अवलम्बन में प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास होता है। किन्तु यह निश्चय करना बड़ा ही कठिन है कि विचार और शरीर की प्रतिक्रियाओं में प्रधानता किसकी है। आधुनिक मनोविश्लेषण-विज्ञान की खोज करनेवाली हमारी सभी प्रकार की मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में विचार की प्रधानता दिखाते हैं अर्थात् मनुष्य के व्यवहार और उसके शरीर का स्वास्थ्य उसके विचारों और इच्छाओं पर ही निर्भर है। यदि कोई मनुष्य बहुत देर तक किसी दूषित विचार को मन में रखता है, तो वह किसी शारीरिक बीमारी के रूप में बाहर निकल आता है। बहुत-सी बीमारियाँ उनके आवाहन करने से आती हैं अर्थात् मनुष्य का मन बीमारियों का आकर्षण करता है, अथवा उनकी सृष्टि कर लेता है। पिछले महायुद्ध के समय बहुत से सिपाहियों की लकवे की बीमारी का यही कारण पाया गया था। हमारे प्रत्येक शुभ और अशुभ विचार का परिणाम हमारे शरीर पर पड़ता है। किसी भी विचार के अधिक देर तक रहने पर शरीर में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं।

समानान्तरवाद*—इस मत के अनुसार शरीर और मन एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। न तो शरीर की क्रियाओं का प्रभाव मानसिक क्रियाओं पर पड़ता है और न मन की क्रियाओं का शरीर पर। शरीर और मन की क्रियाओं में आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध न होते हुए भी वे एक दूसरे की सहगामी होती हैं। हम सोचते और बोलते हैं; सोचना और बोलना दो प्रकार की क्रियाएँ हैं—एक मानसिक क्रिया है और दूसरी शारीरिक। हमारी साधारण

* हालैंड के सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक स्पैनोजा ने पहले-पहल इस मत को प्रकाशित किया था। उनके कथनानुसार "विचार" और "देश" दोनों ही एक तत्त्व के गुण हैं। यह एक तत्त्व सर्वव्यापी है। यही मनुष्य का आत्मा है। "विचार" का रूपान्तरण मन है और "देश" का शरीर। दोनों आत्मा के "कल्पित" गुण हैं। गुणी एक ही होने के कारण दोनों गुणों में विषमता होने पर भी दोनों के कार्यों में पारस्परिक सहगामिता का सम्बन्ध रहता है। इस तरह मन के परिवर्तन शरीर की क्रियाओं में और शारीरिक परिवर्तन मानसिक क्रियाओं में प्रकाशित होते हैं।

धारणा के अनुसार सोचना कारण है और बोलना कार्य; किन्तु समानान्तरवाद के अनुसार दोनों प्रकार की क्रियाओं में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। न सोचना बोलने का कारण है और न बोलना सोचने का। सोचना पहले होनेवाली मानसिक क्रियाओं का फल है और बोलना पूर्वगामी शारीरिक क्रियाओं का फल है।

यह विचारधारा मन के अध्ययन को शारीरिक क्रियाओं के अध्ययन से स्वतन्त्र कर देती है। अब हमें मानसिक क्रियाओं के कारणों की खोज पूर्वगामी मानसिक क्रियाओं में ही करनी पड़ेगी न कि शारीरिक क्रियाओं में। जब तक शरीर और मन की क्रियाओं के पारस्परिक अवलम्बन पर विश्वास किया जाता है तब तक कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन का वैज्ञानिक अध्ययन करना कठिन है। मन दृश्य-पदार्थ के समान 'देश' से सीमित नहीं अर्थात् हम उसे नाप नहीं सकते हैं। किन्तु शरीर देश से सीमित रहता है। शारीरिक परिवर्तन भौतिक शक्ति के कारण होते हैं और मानसिक परिवर्तन मानसिक शक्ति के कारण। अतएव एक दूसरे में पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना करना बड़ा कठिन माना जाता है। इसके अतिरिक्त हमारा शरीर का ज्ञान इस सिद्धान्त के मानने पर भ्रमात्मक हो जाता है। क्योंकि जब तक हम मन के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं कर लेते, शारीरिक क्रियाओं के विषय में भी निश्चित मत नहीं प्रकाशित कर सकते।

समानान्तरवाद का सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं। पहले मन और शरीर की क्रियाओं में पूर्ण समता नहीं दिखाई देती। अर्थात् प्रत्येक शारीरिक परिवर्तन का सहगामी मानसिक परिवर्तन नहीं होता और न प्रत्येक मानसिक परिवर्तन का सहगामी शारीरिक परिवर्तन होता है। किन्तु यदि इस प्रकार का परिवर्तन मान भी लिया जाय, तो हमारा साधारण विचार यह स्वीकार नहीं करता कि मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में पूर्ण सहगामिता होते हुए भी एक दूसरे में कोई सम्बन्ध नहीं है।

सहगामी क्रियाओं में कारण-कार्य के सम्बन्ध को स्थिर न कर सकना हमारी अज्ञानता का सूचक है। जिन सहगामी क्रियाओं में हम कारण-कार्य की व्याप्ति नहीं देखते, उनमें यह व्याप्तिज्ञान की वृद्धि होने पर पाई जाती है।

जड़वाद—जड़वाद के अनुसार चेतना शरीर का ही एक प्रकार का विकार है। मिस्टर हाग्सन के कथनानुसार "चेतना फर्श में जड़े पत्थरों के रंगों के समान है।' जिस तरह फर्श के पत्थर रंगों के कारण एक दूसरे से नहीं जुड़े हैं वरन् दूसरे ही किसी कारण जुड़े हैं, इसी प्रकार हमारे विचार

शारीरिक क्रियाओं के चलाने में कोई अनिवार्य काम नहीं करते। शरीर की क्रियाएँ शरीर के नाड़ी-तन्तुओं के द्वारा चला करती हैं। विचार उनका ज्ञानमात्र करता है। वह एक निरपेक्ष साक्षी के सदृश्य है। कितने ही लोगों ने शरीर की क्रियाओं का चेतना से सम्बन्ध, घड़ी की क्रिया और उसकी घण्टी की उपमा देकर समझाया है। घण्टी के बजने पर घड़ी की क्रियाएँ निर्भर नहीं हैं वरन् घड़ी की क्रियाओं पर घण्टी का बजना निर्भर है। इस विचार के अनुसार मन की क्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं से भिन्न नहीं हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में बहुत से जीव-घटक (सेल) हैं। हमारे विचार करने में इन जीव-घटकों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का परिणाम ही विचार है। विचार हमारे शरीर की दूसरी क्रियाओं का सञ्चालन करता है। अर्थात् सभी क्रियाएँ मस्तिष्क[1] अथवा सुषुम्ना-नाड़ी[2] में रहनेवाले परिवर्तनों का फल है।

मनोविज्ञान में प्रचलित जड़वाद का आधुनिक रूप व्यवहारवाद है। इसके प्रवर्तक वाट्सन महाशय हैं। वाट्सन महाशय ने हमारी जटिल से जटिल मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं को सहज क्रिया का परिवर्तन रूप बताया है। अर्थात् मन की जटिल से जटिल क्रिया वातावरण के संघर्ष से इसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार नाक में धूल-कण जाने से छींक आती है, या जिस प्रकार मेढ़क के पैर को पिन से कोंचने पर वह पैर को झटकारता है। इन लोगों के विचारानुसार मनुष्य की सभी क्रियाएँ स्वगत और नियत हैं। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नामक कोई वस्तु ही नहीं। उसके विचार मस्तिष्क में चलनेवाले विचारों के परिणाम हैं।

जड़वाद की समालोचना

जड़वाद का खण्डन स्काउट और मैगडूगल महाशयों ने भलीभाँति किया है। जड़वादी यह मानकर चलते हैं कि चेतन-जीवों की क्रियाओं में और जड़ पदार्थों की क्रियाओं में कोई भेद नहीं है। जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों की क्रियाएँ एक से निश्चित नियमों का पालन करती हैं। डारविन ने प्राणियों के विकास का नियम ढूँढ निकाला था। इस नियम के अनुसार ही जीवों का विकास, वृद्धि और वितरण होता है। इस नियम को उन्होंने "प्राकृतिक चुनाव का नियम" कहा[3] है। यह नियम नियतवाद[4] का पोषक है।

1. Brain. 2. Spinal Cord. 3. Law of Natural Selection. 4. Determinism.

आधुनिक प्राणि-शास्त्र के पंडित डारविन के नियतवाद में अविश्वास करने लगे हैं। वे देखते हैं कि प्राणियों की सभी क्रियाएँ नियतवाद के सिद्धान्त पर नहीं समझाई जा सकती हैं। प्राणियों की क्रियाएँ और उनके विकास में हेतु[1] का भी स्थान देखा जाता है। जैसे-जैसे प्राणी का जीवन अधिकाधिक विकसित होता है, हेतुपूर्वक क्रियाओं की वृद्धि होती जाती है और निश्चित नियमों के अनुसार चलनेवाली क्रियाओं की कमी होती जाती है।

मस्तिष्क के विषय में इस समय हमारा अध्ययन इतना पर्याप्त नहीं है कि यह कह सकें कि हमारी विभिन्न मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। हमारे भिन्न-भिन्न विचार मस्तिष्क के किस स्थल में रहते हैं, यह किसी ने नहीं दर्शाया। कुछ समय पूर्व मस्तिष्क के विभिन्न स्थल भिन्न-भिन्न प्रकार की चेतना के विशेष स्थल बताए जाते थे; किन्तु आज इस प्रकार का सिद्धान्त निर्दोष नहीं माना जाता।

मनुष्य जब बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आता है तो उसके मस्तिष्क में उत्तेजना होती है। यह उत्तेजना अन्तर्गामी नाड़ियों के उत्तेजित होने से होती है। जड़वादी यह नहीं बताते कि मस्तिष्क की उत्तेजना संवेदना का रूप कैसे धारण कर लेती है; और विभिन्न संवेदनाएँ मिलकर पदार्थ-ज्ञान, कल्पना और विचार में कैसे परिणत हो जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि मस्तिष्क एक ऐसे जड़-पदार्थ का बना है कि किसी उत्तेजना के वहाँ तक पहुँचने पर वह चैतन्य संवेदना में परिणत हो जाता है, तो फिर हमें यह कहना होगा कि यह जड़-पदार्थ पदार्थ-विज्ञान में अध्ययन किये जानेवाले जड़-पदार्थ से भिन्न है।

वास्तव में जैसे-जैसे पदार्थ-विज्ञान का अध्ययन बढ़ता जाता है, मनुष्य की जड़-पदार्थ के विषय में पुरानी धारणाएँ भ्रमात्मक सिद्ध होती जाती हैं। वर्तमान काल के प्रमुख वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि हमारा विज्ञान से प्राप्त हुआ ज्ञान वस्तु के स्वरूप को नहीं बताता, वरन् उसके ऊपरी छिलके का वर्णन करता है।[2]

---

1. Motives. 2. प्रोफेसर एडिंक्टन के, जो ज्योतिष-शास्त्र का विशेषज्ञ है, निम्नलिखित वाक्य इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय हैं—"All through the Physical world runs that unknown content, which must surely be the stuff of our consciousness."—*Space, Time and Gravitation.*

सब भौतिक जगत् में एक अज्ञात सत्ता है, यह सत्ता हमारी चेतना से अवश्य अभिन्न है। फिजिक्स को "क्लाण्टम" कल्पना के जन्मदाता

चैतन्यवाद

जिस प्रकार जड़वाद हमारी मानसिक क्रियाओं को मस्तिष्क के विचारों का परिणाम मात्र दर्शाने की चेष्टा करता है, चैतन्यवाद भी मस्तिष्क और शरीर की सभी क्रियाओं को हमारे मन के विचारों और इच्छाओं के परिणाम मात्र दिखाने की चेष्टा करता है। भारतवर्ष का चैतन्यवाद जीवात्मा को अमर मानता है और उसका विभिन्न शरीरों का धारण करना उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर होना सिद्ध करता है। जीवात्मा का अमरत्व वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सका है, अतएव विज्ञान जीवात्मा के अमरत्व में विश्वास नहीं करता। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अन्वेषक यह बतला रहे हैं कि शरीर की क्रियाओं का संचालन तथा शरीर की वृद्धि और विनाश मन के ऊपर निर्भर है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति ही उसके व्यवहारों का मूल कारण है। यह इच्छा-शक्ति शरीर की बनावट के ऊपर निर्भर नहीं, वरन् शरीर की बनावट ही उसके ऊपर निर्भर है जिस तरह शरीर की क्रियाएँ उसके ऊपर निर्भर हैं।

प्रोफेसर मार्क्स प्लांक के निम्नलिखित इस विषय के विचार उल्लेखनीय हैं—"Scientists have learnt that the starting point of their investigation does not lie solely in perception of the senses, and that science cannot exist without some portion of metaphysics. Modern Physics impresses us particularly with the truth of the old doctrine which teaches that there are realities existing apart from our sense perception, and that there are problems and conflicts where these realities are of greater value for us than the richest treasures of the world of experience. "*The Universe in Light of Modern Physics*—P. 38.

अर्थात् आधुनिक भौतिक-विज्ञान के पण्डित अब इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि इन्द्रिय-ज्ञान को सत्य और अन्तिम ज्ञान मान कर चलने से हम तत्व के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सकते हैं और भौतिक विज्ञान तत्व-विज्ञान की सहायता के बिना ठहर नहीं सकता। आधुनिक विज्ञान यह दर्शा रहा है कि इन्द्रिय-गोचर पदार्थों के परे कोई ऐसी सत्ता है जिसका ज्ञान करना हमारी जीवन की जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए परमावश्यक है और जिसका

ज्ञान प्राप्त करना संसार के सबसे बड़े अनुभव के खजाने के प्राप्त करने से अधिक महत्व का है।

मन का विकास

प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक जड़ और चेतन पदार्थ में भेद मानते हैं। कंकड़ और कीड़े के व्यवहारों में मौलिक भेद होता है। उसका कारण यह है कि कंकड़ जड़-पदार्थ और कीड़ा चैतन्य। मनुष्य से लेकर अमियबा कीटाणु तक जितने भी विभिन्न प्रकार के प्राणी हैं, सभी के व्यवहारों में एक ऐसी विलक्षणता पाई जाती है जो जड़-पदार्थों के व्यवहारों में नहीं देखी जाती। सभी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, सभी को भूख लगती है और इच्छाएँ होती हैं। प्रोफेसर जैनिंग्ज ने अमियबा पर प्रयोग करके यह देखा कि उसे सुख और दुःख का ज्ञान होता है, उसे भूख लगती है और इसकी तृप्ति के लिए वह भोजन ढूँढ़ता है। अमियबा और उच्च प्राणी के मन में भेद इतना ही है कि जहाँ अमियबा की सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ पेट ही से सीमित रहती हैं, ऊँचे वर्ग के प्राणियों के शरीर में इन इन्द्रियों के विभिन्न स्थान होते हैं। अर्थात् शरीर का एक-एक अंग विशेष प्रकार के ज्ञान अथवा क्रिया के लिए निश्चित रहता है।

अमियबा से उच्चतर कोटि के प्राणियों में सहज क्रियाएँ[1] होती हैं। इन प्राणियों के बहुत कुछ कार्य अपने-आप होने वाले कार्यों जैसे होते हैं। कीड़े और पतङ्गों के कार्य सहज क्रियाओं से संचालित होते हैं। ये कार्य मशीन के कामों के समान होते हैं। किन्तु इनमें भी वह विशेषता पाई जाती है जो प्राणिमात्र के व्यवहार में पाई जाती है।

कीड़ों-मकोड़ों को सुख-दुःख और इच्छा की अनुभूति होती है। निर्जीव पदार्थ में गति बाहर के सम्पर्क से ही पैदा होती है। किन्तु कीड़ों-मकोड़ों में स्वेच्छानुसार गति पैदा होती है।

कीड़ों-मकोड़ों से उच्चकोटि के प्राणियों में कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का विकास अधिक होता है, तथा उनकी क्रियाओं का संचालन सहज क्रियाएँ न कर मूल प्रवृत्तियाँ[2] करती हैं। मूल प्रवृत्तियाँ किसी विशेष जाति के प्राणी के परम्परागत अनुभव का परिणाम हैं। मूल प्रवृत्तियों के द्वारा प्राणी अपने

---

1. Reflexes. 2. Instincts.

जीवन की रक्षा करता है और अपनी जाति की वृद्धि करता है। मूल प्रवृत्ति द्वारा संचालित कार्य बुद्धि से किये गये कार्यों के समान होते हैं। किन्तु मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, अतएव मूल प्रवृत्तियों से संचालित काम में वैसे वातावरण के अनुसार परिवर्तन नहीं हो सकते जैसे कि बुद्धि के कार्य में होते हैं। मूल-प्रवृत्तियों का परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। वे सहज-क्रियाओं के समान अपरिवर्तनशील नहीं हैं। मूल-प्रवृत्तियों का विकास मन की एक विकसित अवस्था का सूचक है। मनुष्य के अतिरिक्त सभी प्राणियों के व्यवहार मूल-प्रवृत्तियों द्वारा सञ्चालित और नियन्त्रित होते हैं।

मन की सबसे विकसित अवस्था मनुष्य में देखी जाती है। जहाँ और प्राणी सहज-क्रियाओं और मूल-प्रवृत्तियों से काम लेते हैं वहाँ मनुष्य बुद्धि से काम लेता है। मनुष्य का नाड़ी-तन्त्र[1] दूसरे प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। उसके मस्तिष्क की बनावट भी दूसरे प्राणियों की अपेक्षा अधिक जटिल है। मनुष्य में शब्द-प्रयोग की शक्ति है, जो दूसरे प्राणियों में नहीं है। जहाँ दूसरे प्राणी प्रयत्न और भूल के नियम से कोई नई बात सीखते हैं, मनुष्य सूक्ष्म विचार और कल्पना से नई बात सीखता है। उसके विचार करने की शक्ति के कारण उसे जीवन में उतनी भूलें नहीं करनी पड़तीं, जितनी दूसरे प्राणियों को करनी पड़ती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य के मन का विकास नीची श्रेणी के प्राणियों से लेकर धीरे-धीरे हुआ है। आधुनिक मनोविज्ञान हमें इस निष्कर्ष पर ले जा रहा है कि मनुष्य और दूसरे प्राणियों में विषमता की अपेक्षा समता अधिक है। जिस मन के विकास का प्रारम्भ अमियबा में होता है उसी की पूर्ति मनुष्यों में पाई जाती है। मनुष्य दूसरे प्राणियों से इतना भिन्न नहीं है जितना कि जीवित प्राणी निर्जीव पदार्थों से भिन्न है।

मानव-मन का विकास धीरे-धीरे हुआ है, अतएव हम उसके मन में विकास की पूर्ण श्रेणियों की विलक्षणता भी पाते हैं। मनुष्य के जीवन में विचार की प्रधानता होती है। किन्तु सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों का अभाव नहीं रहता। अतएव उनके मन का स्वरूप समझने के लिए हमें उसकी सहज-क्रियाओं और मूल-प्रवृत्तियों को समझना उतना ही आवश्यक है जितना कि विचारजन्य क्रियाओं को। अगले परिच्छेदों में हम मन की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का वर्णन करेंगे।

---

1. Nervous system.

प्रश्न

१—मन और शरीर के सम्बन्ध में कौन-कौन-सी कल्पनाएँ की गई हैं? इन कल्पनाओं में से आपको कौन-सी युक्तिसङ्गत दिखाई देती है?

२—'चेतन' मस्तिष्क की क्रियाओं का परिणाम है—इस सिद्धान्त के गुण-दोष बताइए।

३—मनुष्य और जानवरों के व्यवहार में कहाँ तक समता और विषमता है? मनुष्य की श्रेष्ठता उसके मन के किस गुण पर निर्भर है?

४—जड़-पदार्थ और प्राणी में मुख्य भेद क्या है? इस भेद का मनो-वैज्ञानिक महत्व क्या है?

५—वाट्सन महाशय के कथनानुसार मन का स्वरूप क्या है? उसके सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

तीसरा प्रकरण

नाड़ी-तन्त्र[1]

नाडी-तन्त्र के अध्ययन की आवश्यकता—मन और शरीर की क्रियाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब हमारा शरीर किसी बाह्य पदार्थ के सम्पर्क में आता है, तभी हमें उस पदार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार सांसारिक विषयों की ज्ञानोत्पत्ति में शरीर साधन है। इसी तरह बाह्य जगत् में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए भी हम शरीर के अंग से काम लेते हैं। मन की क्रिया को भलीभाँति समझने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि इस ज्ञान की उत्पत्ति का ढंग क्या है, तथा शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण कैसे होता है। जिस प्रकार हमारे ज्ञान और क्रियाओं को समझने में शरीर के उन भागों के समझने की आवश्यकता होती है जो उनकी उत्पत्ति में प्रधान कारण होते हैं, इसी प्रकार हमारे उद्वेगों के समझने में भी उन भागों के समझने की आवश्यकता है जो कि उद्वेगों की अवस्था में विशेष कार्य करते हैं। हमारे ज्ञान, क्रिया तथा उद्वेगों में शरीर के जो भाग विशेषतः कार्य करते हैं उन्हें नाड़ियाँ[2] कहते हैं। अतएव नाड़ियों की क्रियाओं तथा तन्त्र को समझे बिना इनको भलीभाँति समझना कठिन है।

नाड़ी-तन्त्र का स्वरूप—नाड़ी-तन्त्र एक जाल के सदृश है जो हमारे सारे शरीर के ऊपर बिछा हुआ है। इस जाल की उपमा हम किसी देश या शहर में फैले हुए तार के जाल से दे सकते हैं। जिस प्रकार तार-तंत्र शहर के विभिन्न भागों को एक दूसरे से मिलाता है, उसी प्रकार नाड़ी-तन्त्र भी शरीर के विभिन्न भागों में एकता स्थापित करता है। जिस प्रकार तार-तन्त्र में एक प्रधान केन्द्र होता है, जहाँ से खबर आने-जाने की प्रक्रिया का नियन्त्रण होता है, उसी प्रकार नाड़ी-तन्त्र में भी एक प्रधान केन्द्र होता है जहाँ पर अनेक प्रकार की नाड़ियाँ आकर मिलती हैं तथा जहाँ से उनके कार्य का नियन्त्रण होता है। जिस प्रकार प्रधान केन्द्र के बिगड़ जाने से तारों की व्यवस्था

---

1. Nervous System. 2. Nerves.

बिगड़ जाती है उसी तरह नाड़ी के प्रधान केन्द्र के बिगड़ जाने पर नाड़ियों की क्रिया में कोई संगठन नहीं रहता।

नाड़ी-तन्त्र के विभाग

नाड़ी-तन्त्र प्रायः निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) त्वक् नाड़ी-मण्डल[1], (२) केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल[2] और (३) स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल[3]।

त्वक् नाड़ी-मण्डल

त्वक् नाड़ी-मण्डल दो प्रकार की नाड़ियों का बना होता है—अन्तर्गामी[4] अथवा ज्ञानवाही[5] और निर्गामी[6] अथवा गतिवाही[7]। इनका एक ओर सम्बन्ध शरीर की त्वचा तथा पेशियों[8] से रहता है और दूसरी ओर सुषुम्ना[9] से रहता है। त्वक् नाड़ी-मण्डल बाह्य उत्तेजना को ग्रहण करता है और शरीर की काम करने वाली पेशियों का नियन्त्रण करता है।

सम्पूर्ण नाड़ी-तन्त्र नाड़ियों का बना रहता है। इनमें से कुछ नाड़ियाँ छोटी होती हैं और कुछ बड़ी, कुछ ज्ञानवाही होती हैं और कुछ क्रिया-वाही। (निर्गामी) प्रत्येक नाड़ी के तीन भाग होते हैं—

१—नाड़ी का मध्यम भाग, जिसे नाड़ी-कोषाणु[10] कहते हैं।

२—नाड़ी का छोर, जिसे अक्षतन्तु (एक्ज़ोन[11]) कहते हैं।

३—नाड़ी का दूसरा छोर, जिसमें एक अथवा बहुत शाखाएँ होती हैं। इन्हें ग्राहीतन्तु (डेंड्राइट्स) कहा जाता है।

इन भागों को अगले पृष्ठ में दिये (चित्र नं० १) में दिखाया गया है—

किसी भी प्रकार की उत्तेजना को डेन्ड्राइट्स पहले-पहल ग्रहण करते हैं। फिर यह उत्तेजना नाड़ी के मध्यम भाग अर्थात् नाड़ी-कोषाणु पर पहुँचती है। इसके उपरान्त वह अक्षतन्तु के द्वारा बाहर प्रवाहित होती है। इस तरह प्रत्येक

---

1. Peripheral Nervous System. 2. Central Nervous System. 3. Autonomic Nervous System. 4. Afferent. 5. Sensory. 6. Efferent. 7. Motor. 8. Muscles. 9. Spinal Cord. 10. Nerve Cell. 11. Exone.
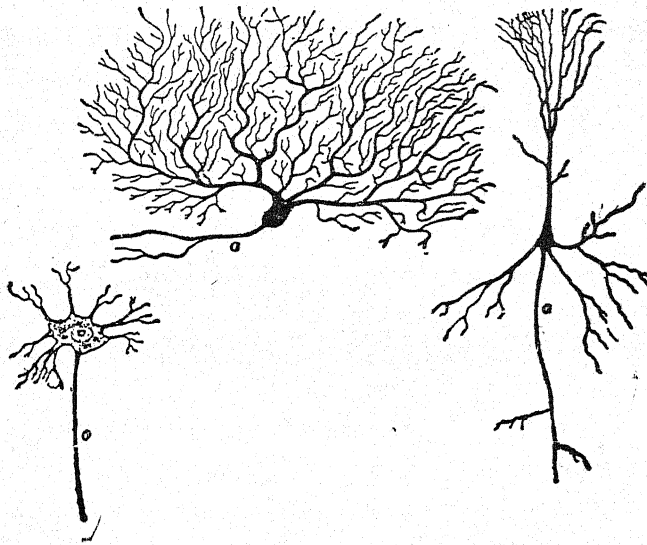
चित्र नं० १

नाड़ी में हर समय उत्तेजना का ग्रहण डेन्ड्राइट्स करते हैं और बाहर की ओर उसका प्रवाह अक्षतन्तु के द्वारा होता है। डेन्ड्राइट्स अक्षतन्तु की अपेक्षा छोटे होते हैं तथा देखने में वृक्ष के ऊपरी भाग की तरह दिखाई देते हैं। अक्षतन्तु बड़े होते हैं। इनमें इतने फुक्से नहीं होते जितने डेन्ड्राइट्स में। जहाँ दो नाड़ियाँ एक दूसरी से मिलती हैं, अर्थात् जहाँ एक नाड़ी का अक्षतन्तु नामक सिरा दूसरी नाड़ी के डेन्ड्राइट्स नामक सिरे के समीप आता है उस स्थान को साइनाप्स[1] कहते हैं। साइनाप्स की तुलना प्रायः रेल के जंक्शन से की जाती है। जिस प्रकार एक बड़े रेल के जंक्शन पर यात्री भिन्न-भिन्न दिशाओं से आनेवाली रेलों से उतर कर किसी विशेष दिशा को जानेवाली रेलों में बैठ जाते हैं और उनके द्वारा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं, इसी प्रकार किसी विशेष तरह की उत्तेजना एक नाड़ी के द्वारा आकर दूसरी नाड़ी में प्रवाहित होती है। जिस स्थान पर यह उत्तेजना एक नाड़ी से दूसरी नाड़ी पर जाती है उसे साइनाप्स कहते हैं। उत्तेजना का प्रवाह सदा एक ही ओर होता है। उसका एक सिरा अर्थात् डेन्ड्राइट उत्तेजना

1. Synopse.

को ग्रहण करता है और दूसरा सिरा अर्थात् अक्षतन्तु उस उत्तेजना का प्रवाह बाहर निकालता है। जंक्शन के स्थान पर एक नाड़ी के डेन्ड्राइट्स का सम्बन्ध कई दूसरी नाड़ियों के अक्षतन्तुओं से होता है। इसी तरह एक अक्षतन्तु का सम्बन्ध कई नाड़ियों के डेन्ड्राइट्स से रहता है। इस तरह एक ही नाड़ी कई दिशाओं से आनेवाली उत्तेजना को ग्रहण करती है, और उससे ग्रहण की गई उत्तेजना विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित हो सकती है। साइनाप्स उत्तेजना के प्रवाह को किसी विशेष ओर बहाने में सहायक होते हैं, और दूसरी ओर बहने में रुकावट डालते हैं। उत्तेजना का प्रवाह उसी ओर रहता है, जिस ओर वह एक बार प्रवाहित हो जाता है, मानों उत्तेजना का एक बार का प्रवाह भविष्य में उसके प्रवाह के लिए मार्ग बना लेता है। किसी भी नये काम का सीखना अथवा आदत का बनना उत्तेजना के प्रवाह के इसी नियम के ऊपर निर्भर रहना है, जिस ओर उत्तेजना का प्रवाह पहले से चला आया है उसी ओर उसके प्रवाहित होने में सरलता होती है तथा दूसरी ओर प्रवाहित होने में रुकावट आती है। यही कारण है कि नये काम को करने में कठिनाई होती है तथा अभ्यस्त काम करने में सरलता होती है।

साइनाप्स सदा मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में ही होते हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना में एक भूरा पदार्थ होता है। यह नाड़ियों का सूक्ष्म भाग है। इसी के अन्तर्गत साइनाप्स रहते हैं। साइनाप्स अन्तर्वाही और निर्गामी नाड़ियों के बीच सुषुम्ना तथा मस्तिष्क के भीतर होते हैं। यही साइनाप्स हमारी साधारण और जटिल दोनों क्रियाओं में काम करते हैं।

सहज क्रिया[1]—उत्तेजना का सबसे सरल कार्य सहज क्रियाएँ, जैसे छींकना, खुजलाना, आँसू आना आदि हैं। जब कोई बाहरी पदार्थ हमारे शरीर के किसी अंग से स्पर्श करता है, तो उस स्थान की ज्ञानवाही नाड़ियों के छोर उत्तेजित हो जाते हैं। इन्हीं छोरों से विशेष प्रकार की इन्द्रियाँ बनी हैं। जो छोर आँखों की रेटिना के पास हैं, उनके उत्तेजित होने पर देखने का ज्ञान होता है। नाक के भीतर रहनेवाले कुछ छोरों से गन्ध का ज्ञान होता है, और शरीर के अन्य भागों के उत्तेजित होने पर विभिन्न प्रकार का स्पर्श-ज्ञान होता है। इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य उत्तेजना अन्तर्वाही अर्थात् ज्ञानवाही नाड़ियों के द्वारा सुषुम्ना अथवा मस्तिष्क पर पहुँचती है। यहाँ इस उत्तेजना का ग्रहण कोई निर्गामी अर्थात् गतिवाही नाड़ी करती है, तब यह उत्तेजना इस नाड़ी के द्वारा

1. Reflex action.

शरीर के बाहरी भाग की ओर जाती है। गति-गामी नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न भागों की पेशियों से रहता है। इन पेशियों के उत्तेजित होने पर सहज क्रिया अथवा परावर्तन क्रिया होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारी सहज क्रिया में उत्तेजक पदार्थ[1], इन्द्रिय[2], ज्ञानवाही नाड़ी[3], साइनाप्स[4], गतिवाही नाड़ी[5] और पेशियाँ[6] काम करती हैं। निम्न खचित चित्र उक्त कथन को स्पष्ट करता है—
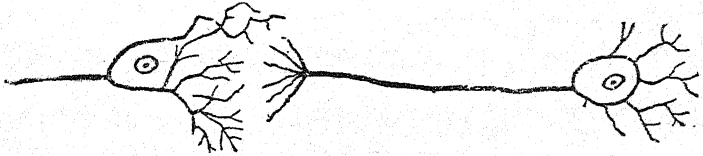
चित्र नं०.२

त्वक् नाड़ी-तंत्र का सम्बन्ध सुषुम्ना से रहता है। कितनी ही उत्तेजनाएँ सुषुम्ना तक पहुँचकर गति-वाही नाड़ियों के द्वारा पेशियों तक आती हैं और शारीरिक क्रिया में परिणत हो जाती हैं। कितनी ही दूसरी उत्तेजनाएँ सुषुम्ना तक पहुँचकर मस्तिष्क की ओर जाती हैं। मस्तिष्क तक पहुँचकर वहाँ ज्ञान-केन्द्र के किसी भाग को उत्तेजित करती हैं। इस भाग का सम्बन्ध किसी क्रिया-नियन्त्रक भाग से रहता है। वह उत्तेजित होता है। यह उत्तेजना क्रिया-वाहक नाड़ियों के द्वारा शरीर के बाहरी भाग और पेशियों की ओर आती है और क्रिया में परिणत हो जाती है।

सहज क्रियाओं के दैनिक जीवन में अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब हम अँधेरे से उजाले में जाते हैं तब हमारी आँख की पुतली सिकुड़ जाती है और जब हम उजेले से अँधेरे में जाते हैं तो पुतली फैलकर बड़ी हो जाती है। इस प्रकार पुतली का सिकुड़ना और फैलना अपने-आप होता है। इसका ज्ञान हमको नहीं रहता। इस तरह यदि हमारी आँख में कोई कीड़ा आ जाय तब हमारी आँख तुरन्त बन्द हो जाती है। हमारी आँख का पलक तुरन्त झपक जाता है, इसमें हमारे विचार की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह आँख में कोई चीज चली जाने से आँख में आँसू अपने-आप आ जाता है और वह चीज

---

1. Stimulus. 2. Sense organ. 3 Sensory nerve. 4. Synopse. 5. Motor nerve. 6. Muscles.

बाहर निकल जाती है। जब हम नीबू को अपने सामने देखते हैं तो मुँह में पानी भर जाता है—ये सब क्रियाएँ त्वक् नाड़ी-मण्डल द्वारा संचालित होती हैं, जो त्वक् से लेकर सुषुम्ना तक फैला है।

केन्द्रीय नाड़ी-तन्त्र (मस्तिष्क-सुषुम्ना नाड़ी-तन्त्र)[१]

केन्द्रीय नाड़ी-तन्त्र दो प्रधान भागों का बना रहता है—

(१) सुषुम्ना-नाड़ी[२] —इसका ऊपरी भाग, जहाँ उसका दिमाग से सम्बन्ध होता है, सुषुम्ना शीर्षक[३] कहलाता है।

(२) मस्तिष्क[४]—इसके तीन भाग हैं—बृहत् मस्तिष्क[५], लघु मस्तिष्क[६] (धम्मिलक) और सेतु[७]।

ऊपर कहा जा चुका है कि अन्तर्गामी नाड़ी किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की गई उत्तेजना को केन्द्रीय नाड़ी-तन्त्र की ओर ले जाती है। इस प्रकार की इकतीस जोड़ी अन्तर्गामी (ज्ञानवाही) नाड़ियाँ सुषुम्ना में आकर मिलती हैं। प्रत्येक जोड़ी की एक नाड़ी शरीर के दाहिने अंग से और दूसरी नाड़ी शरीर के बाईं ओर से आती है। पृष्ठ ३५ में दिया गया चित्र इन नाड़ियों को दर्शाता है।

जब ये अन्तर्गामी नाड़ियाँ सुषुम्ना में मिलती हैं तो निर्गामी अर्थात् गतिवाही नाड़ियों के साथ एक गट्ठर में बँध जाती हैं। ये गतिवाही नाड़ियाँ किसी भी उत्तेजना का प्रवाह पेशियों तथा शरीर के चक्रों (गंडों) की ओर करती हैं। इसी तरह अन्तर्गामी नाड़ियाँ सुषुम्ना के द्वारा किसी भी ज्ञान-उत्तेजना को मस्तिष्क की ओर ले जाती हैं। इनके अतिरिक्त बारह जोड़ी और नाड़ियाँ होती हैं, जो सीधे ही मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। इन नाड़ियों को शीर्षणी[८] नाड़ियाँ कहते हैं। ये नाड़ियाँ गर्दन से ऊपर सिर में स्थित हैं। इनमें से कुछ ज्ञानवाही (अन्तर्गामी) और कुछ गतिवाही (निर्गामी) होती हैं। इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की, जैसे देखने की, सुनने की, सूँघने की, स्वाद लेने की और स्पर्श की उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचती है और आँख, कान, नाक, जीभ के विभिन्न भागों में होनेवाली क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। इस तरह शीर्षणी नाड़ियाँ सिर में होनेवाली उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं

---

1. Central Nervous System (Cerebro-spinal Nervous System). 2. Spinal cord. 3. Medulla oblongata. 4. Brain. 5. Cerebrum, 6. Cerebellum. 7. Pons. 8. Cranial nerves.
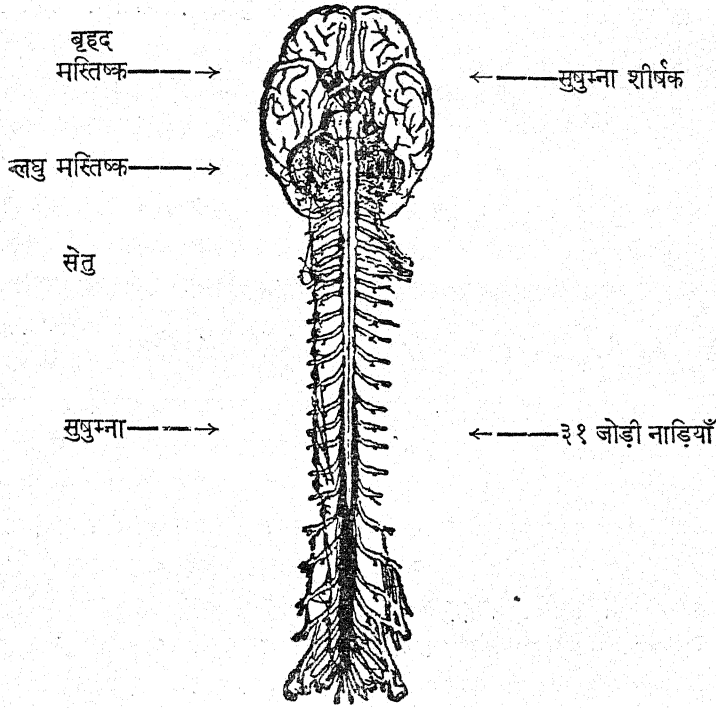
मस्तिष्क सुषुम्ना नाड़ी-तन्त्र
चित्र नं० ३

और मस्तिष्क से उत्तेजना को सिर के बाहरी भाग की ओर अर्थात् पेशियों तक ले जाती हैं।

सुषुम्ना

ऊपर कहा जा चुका है कि (सुषुम्ना नाड़ी में इकतीस जोड़ी नाड़ियाँ बाहर से आकर मिलती हैं)। इनमें से प्रत्येक जोड़ी की एक नाड़ी ज्ञानवाही और एक क्रियावाही होती है। सुषुम्ना के बाहर ये दोनों प्रकार की नाड़ियाँ एक गट्ठर में बँध जाती हैं। ये इसी प्रकार शरीर के अन्त भाग तक पहुँचती हैं। सुषुम्ना में क्रियावाही और ज्ञानवाही नाड़ियों का इस प्रकार सम्बन्ध होता है कि शरीर के बाहरी अङ्ग में होनेवाली किसी प्रकार की उत्तेजना दो तरह से

काम कर सकती है। एक ओर वह मस्तिष्क की ओर जा सकती है और दूसरी ओर वह उत्तेजना मस्तिष्क की ओर न जाकर तुरन्त ही क्रिया में परिणत हो सकती है।

मान लीजिए, एक मच्छर हमारे पैर में काट लेता है। हम तुरन्त पैर को झटकार देते हैं। यह एक प्रकार की सहज क्रिया है। उसका नियन्त्रण सुषुम्ना के द्वारा ही होता है। ज्ञानवाही नाड़ी बाहर से आनेवाली उत्तेजना को सुषुम्ना तक ले जाती है। इस नाड़ी का सम्बन्ध साइनाप्स के द्वारा एक विशेष प्रकार की गतिवाही नाड़ी से रहता है; अतएव जब ज्ञानवाही नाड़ी की उत्तेजना गतिवाही नाड़ी में प्रवाहित होती है, तो वह उत्तेजना शरीर के बाहरी ओर आकर पैर की उन पेशियों में गति उत्पन्न करती है, जो पैर के झटकारने में काम करती है।

ज्ञानवाही नाड़ी द्वारा लाई गयी उत्तेजना सुषुम्ना तक आकर मस्तिष्क की ओर जा सकती है। ऐसी स्थिति में वह उत्तेजना सुषुम्ना के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचती है। मस्तिष्क में पहुँचने पर वह मस्तिष्क के उस भाग को उत्तेजित करती है जिसका शरीर के उत्तेजित भाग से संबंध रहता है। तब हमें यह ज्ञान होता है कि हमें मच्छड़ ने काटा। यह ज्ञान सहज-क्रिया के समय नहीं होता। मच्छड़ के काटने का ज्ञान होने पर हम पैर को खुजलाने के लिए हाथ से काम लेते हैं। मस्तिष्क के ज्ञान-प्रान्त का सम्बन्ध क्रिया-प्रान्त से रहता है। अतएव मच्छड़ के काटने से ज्ञान-प्रान्त में होनेवाली उत्तेजना क्रिया-प्रान्त के किसी विशेष भाग को उत्तेजित करती है। फिर यह उत्तेजना सुषुम्ना-नाड़ियों के द्वारा हाथ की ओर जाती है और हाथ के पास की उन गतिवाही नाड़ियों को उत्तेजित करती है, जिनका सम्बन्ध हाथ को काम में लाने की पेशियों से होता है। इन पेशियों के क्रियमाण होने पर हाथ पैर के समीप जाता है और खुजलाने लगता है।

सुषुम्ना में प्रवेश करने पर अन्तर्गामी नाड़ी के कई भाग हो जाते हैं। एक छोटे भाग का सुषुम्ना में अन्त हो जाता है और बड़ा भाग मस्तिष्क की ओर चला जाता है। मस्तिष्क तक सूचना पहुँचने में बहुत देर लगती है, उससे पहले ही सुषुम्ना निर्गामी नाड़ियों द्वारा उचित आज्ञा भेज देती है, जिससे पेशियाँ काम करने लगती हैं और तुरन्त आवश्यक कार्य होने लगता है। सहज क्रिया के द्वारा वह कार्य होता है जो शरीर-रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

सुषुम्ना की आज्ञा एक छोटे अफसर की आज्ञा है और मस्तिष्क की

आज्ञा प्रधान अधिकारी की आज्ञा के समान है। जिस प्रकार कोई घटना होने पर घटनास्थल पर उपस्थित अधिकारी तुरन्त का आवश्यक काम करता है तथा प्रधान अधिकारी की आज्ञा की अपेक्षा नहीं करता, इसी तरह सुषुम्ना के पास जब कोई अचानक सूचना पहुँचती है तो वह जो काम तुरन्त ही करना आवश्यक है उसे करने के लिये निर्गामी नाड़ियों को उत्तेजित कर देती है। पीछे इस घटना की खबर मस्तिष्क तक पहुँचती है। मस्तिष्क की आज्ञा प्रायः सुषुम्ना के कार्य के समर्थन में ही होती है। किन्तु कभी-कभी सुषुम्ना द्वारा किए गये कार्य का विरोध भी होता है।

मान लीजिए, किसी लड़के की उँगली में ततैया बर्रें काट लेती है। इसके प्रतिकार के लिए सहज क्रिया उँगली का फटकारना होगा। किन्तु लड़के का दुःख इतने से नहीं जाता। उँगली में ततैया के काटे जाने की खबर मस्तिष्क तक पहुँचती है। वह लड़का एक ओर दूसरी हाथ से ततैया द्वारा काटी उँगली को पकड़ता है, दूसरी ओर जोर-जोर से चिल्लाकर रोने लगता है; जिससे दूसरे लोग उसकी सहायता के लिए आ जायँ। वह बेचैन होकर कभी-कभी इधर-उधर नाचने लगता है। उसके चिल्लाने की क्रिया उसके मस्तिष्क से सञ्चालित होती है और उसके इधर-उधर नाचने की क्रिया उत्तेजना के चारों तरफ फैल जाने से संचालित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुषुम्ना एक ओर सहज क्रियाओं का नियंत्रण करती है, दूसरी ओर मस्तिष्क और शरीर के बाहरी अङ्ग में सम्बन्ध स्थापित करती है; अर्थात् वह शरीर के बाहर होनेवाली उत्तेजनाओं को मस्तिष्क की ओर ले जाती है और मस्तिष्क में होनेवाली उत्तेजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने में सहायक होती है। सुषुम्ना में स्थित ज्ञान और क्रियावाही नाड़ियाँ मस्तिष्क से इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि शरीर का दाहिनी ओर का भाग मस्तिष्क के बाएँ अंग से नियन्त्रित होता है और बाईं ओर का भाग मस्तिष्क के दाहिनी ओर से नियन्त्रित होता है। जिस स्थल पर ये नाड़ियाँ एक दूसरी को पार करती हैं उसे सुषुम्ना-शीर्षक कहते हैं। यहाँ सुषुम्ना का अन्त होता है।

सुषुम्ना हमारी सभी प्रकार की बाह्य क्रियाओं का नियन्त्रण करती है और उनमें सम्बन्ध जोड़ती है; चाहे ये क्रियाएँ विचारपूर्वक हों अथवा विचाररहित। सहज क्रियाओं और आदत से होनेवाली क्रियाओं का नियन्त्रण इसीसे होता है। चलना, फिरना, भागना, टाइप करना, हारमोनियम बजाना इत्यादि क्रियाओं में सुषुम्ना नाड़ी बिना किसी दूसरे प्रकार की सहायता के

काम करती है। जिस किसी शरीर की क्रियाओं में मनुष्य पूर्ण अभ्यस्त हो जाता है, उसमें मस्तिष्क को काम नहीं करना पड़ता है। ऐसी क्रिया का नियन्त्रण सुषुम्ना से ही होता है। हमारे प्रतिदिन के अनेक कार्य सुषुम्ना द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं; आदत के काम और सहज क्रियाओं का नियन्त्रण करना सुषुम्ना का विशेष कार्य है।

सुषुम्ना शीर्षक[1]—यह सुषुम्ना का सबसे ऊपरी बढ़ा हुआ भाग है। इसके द्वारा सुषुम्ना के नीचे के भाग में होनेवाली उत्तेजनाएँ मस्तिष्क में जाती हैं और मस्तिष्क में होनेवाली उत्तेजनाएँ सुषुम्ना के नीचे की ओर जाती हैं। साँस लेना और रक्त-प्रवाह आदि अपने-आप से होनेवाले कार्य भी इसी नाड़ी से नियन्त्रित होते हैं। हृदय और फेफड़े से आनेवाली अन्तर्गामी नाड़ियाँ यहाँ आकर मिलती हैं। जब कभी हवा में कारबोनिक एसिड गैस की मात्रा बढ़ जाती है तो हृदय में और फेफड़ों में विशेष प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न होती है। यह उत्तेजना सुषुम्ना शीर्षक पर पहुँचती है। यहाँ पर यह हृदय और फेफड़ों की ओर जानेवाली नाड़ियों को उत्तेजित करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप हृदय और फेफड़ों की गति बढ़ जाती है।

मस्तिष्क

मस्तिष्क को तीन प्रधान भागों में विभक्त कर सकते हैं—बृहत् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क (धम्मिलक) और सेतु। इन तीनों भागों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। बृहत् मस्तिष्क में ज्ञान और क्रिया-उत्पादन-स्थल हैं। लघु मस्तिष्क का प्रधान काम विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं में सम्बन्ध जोड़ना और शरीर में समता रखना है, अर्थात् उसे झुकने, गिरने आदि से बचाना है। बृहत् मस्तिष्क दो बड़े-बड़े हिस्सों में बँटा रहता है। एक दाहिनी ओर होता है और दूसरा बाईं ओर। दाहिने भाग को दक्षिण गोलार्द्ध और बायें भाग को वाम गोलार्द्ध कहते हैं। नाड़ी-तन्तु के एक गुच्छे द्वारा दोनों भाग एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं, जिसे कारपस स्ट्राइटम कहते हैं।

बृहत् मस्तिष्क—बृहत् मस्तिष्क का ऊपरी भाग ऊँचा-नीचा होता है। इसके ऊपर एक भूरा पदार्थ फैला हुआ रहता है। यह भूरा पदार्थ नाड़ी-तन्तुओं का ही भाग है। मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं। मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों[2] में इस प्रकार

---

1. Medulla Oblongata. 2. Hemisphere.

के स्थल रहते हैं। इसी तरह विभिन्न प्रकार के ज्ञान के लिए भी स्थल हैं, जो दोनों गोलार्द्धों में होते हैं। प्रत्येक गोलार्द्ध में दो कर्ष[1] होते हैं; एक मध्यन्तरा (रोलैन्डो) का कर्ष[2] कहलाता है और दूसरा सिलह्विस का कर्ष कहलाता है। ये कर्ष मस्तिष्क में नाली के समान होते हैं। रोलैन्डो के कर्ष के समीप एक के नीचे एक शरीर के विभिन्न स्थानों की क्रियाओं का सञ्चालन करनेवाले स्थल होते हैं, और सिलह्विस के कर्ष के नीचे सुनने और बोलने सम्बन्धी ज्ञान के स्थल होते हैं। दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान रोलैन्डो के कर्ष से कुछ दूरी पर होता है। शरीर के विभिन्न स्थलों से ज्ञान इसी कर्ष के पीछे के विभिन्न भागों में होता है। यह नीचे दिये चित्र से स्पष्ट होता है।
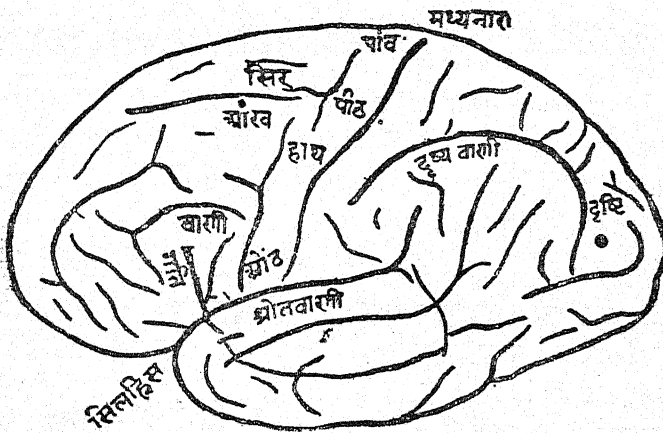
मस्तिष्क

चित्र नं० ४

मस्तिष्क के सभी भागों की क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान अभी तक नहीं हुआ। मस्तिष्क के सामने का भाग जो क्रिया-सम्बन्धी भागों और दृष्टि-सम्बन्धी भागों के बीच पड़ता है, विचार की क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। इस भाग में कोई क्षति होने से मनुष्य की विचार-शक्ति में ह्रास होता है, किन्तु उसके साधारण व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं दिखाई पड़ती।

जब मस्तिष्क के विशेष भाग में कोई क्षति हो जाती है तो उस भाग-संबंधी क्रियाओं में भी क्षति होती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के मस्तिष्क के वाक्-स्थल में कोई क्षति हो गई तो ऐसा व्यक्ति बोलकर अपने भाव प्रकट नहीं कर

1. Fissure. 2. Fissure of Rollando.

सकता। वह जो कुछ दूसरे कहते हैं, ठीक से सुनता और समझता है और जो कुछ उसके मुँह से अपने-आप निकल पड़ता है, उसको भी वह समझता है। वह अपने विचार संकेतों द्वारा अथवा लिखकर प्रकाशित कर सकता है; किन्तु वह बोलकर अपने भाव प्रकाशित नहीं कर सकता। इस प्रकार की अक्रियता को गतिरोध (मोटर एफेजिया) कहते हैं। रूस के प्रसिद्ध अधिनायक लेनिन को इस प्रकार का गतिरोध उसकी मृत्यु के पूर्व हो गया था। जिस प्रकार बोलने के सम्बन्ध में गतिरोध हो जाता है, इसी तरह लिखने के सम्बन्ध में मस्तिष्क के लेखस्थल में क्षति हो जाने से गतिरोध हो जाता है। इस प्रकार के गतिरोध को लेखरोध (एग्राफिया) कहा जाता है।

जिस तरह क्रिया-सम्बन्धी मस्तिष्क के स्थलों में क्षति होने से विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के होने में रुकावट होती है, उसी तरह मस्तिष्क के ज्ञान-स्थलों में क्षति होने पर विभिन्न प्रकार के ज्ञान होने में बाधा होती है। जिस समय मस्तिष्क के दृष्टि-स्थल में कोई क्षति होती है, उस समय मनुष्य किसी वस्तु को स्पष्टतः नहीं देखता। इसी प्रकार श्रवणस्थल में क्षति होने पर मनुष्य ठीक से किसी बात को सुन नहीं पाता।

देखा गया है कि जब मनुष्य के मस्तिष्क के किसी विशेष भाग की क्षति होती है तो उसका प्रभाव दूसरे प्रान्तों पर भी पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति को दृष्टि-सम्बन्धी क्षति हुई है, उसे बोलने में भी कठिनाई हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के मस्तिष्क के विभिन्न भाग एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जब मस्तिष्क का कोई विशेष भाग कार्य करता है तो समस्त मस्तिष्क उसकी सहायता करता है। जब हम किसी व्याख्यानदाता की वक्तृता सुनते हैं तो मस्तिष्क का श्रवणस्थल विशेष कार्य करता है; किन्तु दृष्टिस्थल भी उसकी सहायता करता है। आँख खोलकर और आँख मूँदकर किसी वक्तृता को सुनने में जो अन्तर पड़ता है, वह दृष्टिस्थल के कार्य के कारण पड़ता है। किसी भी व्यक्ति की बातों को जितना हम आँख खोलकर सुन सकते हैं उतना आँख मूँदकर नहीं, यद्यपि हम साधारणतः यह समझते हैं कि देखने और सुनने की क्रिया में कोई सम्बन्ध नहीं है।

लघु मस्तिष्क—लघु मस्तिष्क (धम्मिलक) बृहत् मस्तिष्क के नीचे स्थित है। बृहत् मस्तिष्क के समान यह भी दो हिस्सों में बँटा हुआ है। जिस प्रकार बृहत् मस्तिष्क के दोनों भाग बहुत से नाड़ी-तन्तुओं (कारपस स्ट्राइटम) से सम्बन्धित हैं, इसी तरह लघु मस्तिष्क के दोनों भाग भी बहुत से

नाड़ी-तन्तुओं के गुच्छे से एक दूसरे से बँधे हैं। इन गुच्छों को सेतु (पान्स) कहा जाता है। लघु मस्तिष्क एक ओर सुषुम्ना शीर्षक से अनेक नाड़ी-तन्तुओं के द्वारा जुड़ा रहता है और दूसरी ओर के सेतु के द्वारा बृहत् मस्तिष्क से जुड़ा रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि लघु मस्तिष्क का विशेष कार्य विभिन्न उत्तेजनाओं में सम्बन्ध स्थापित करना और शरीर की क्रियाओं में समता स्थापन करना है। जब किसी पशु के मस्तिष्क का यह भाग हटा दिया जाता है, तो वह ठीक तरह से चल-फिर नहीं सकता। जिस समय बृहत् मस्तिष्क से कोई उत्तेजना गतिगामी नाड़ी के द्वारा शरीर के बाहरी अंग की ओर जाती है, उसी समय इस उत्तेजना की सूचना लघु मस्तिष्क को भी मिलती है, जिससे वह सावधान हो जाता है और जब शरीर किसी विशेष प्रकार की क्रिया में लग जाता है तो उसमें विषमता उत्पन्न होने से रोकता है। लघु मस्तिष्क में इन्द्रिय-उत्तेजन की सूचना और मस्तिष्क के क्रिया-प्रवृत्ति की सूचना सदा मिलती रहती है। इसीसे यह विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं तथा शरीर के कार्यों में समता रखने में समर्थ होता है।

किसी शराबी के लड़खड़ाने का यही कारण है कि उसका छोटा मस्तिष्क शराब के प्रभाव से विवश रहता है। किसी भी नाजुक काम में पेशियों का सन्तुलन धम्मिलक के द्वारा होता है। बाजा बजाना और चित्रकारी आदि कामों में धम्मिलक कार्य करता है।

सेतु—सेतु की आकृति पुल के मेहराब की तरह होती है। इसका रङ्ग सफेद होता है तथा यह लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाये रखता है। बड़े मस्तिष्क से स्नायु-सूत्र सेतु से होकर जाते हैं और यहीं बड़े मस्तिष्क के दाहिने और बायें गोलार्द्ध से आये सूत्र एक दूसरे को पार करते हैं। जो स्नायु-सूत्र दक्षिण गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के वाम भाग से होते हुए शरीर के वाम भाग की पेशियों तक जाते हैं और यदि कहीं दक्षिण गोलार्द्ध में कुछ गड़बड़ी हुई तो शरीर के वाम भाग की इच्छित क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी तरह जो स्नायु-सूत्र वाम गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के दक्षिण भाग से होते हुए शरीर के दक्षिण भाग की पेशियों तक जाते हैं और यदि कहीं वाम गोलार्द्ध में कुछ गड़बड़ी हुई तो शरीर के दक्षिण भाग की गतियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं।

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल[1]

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल की एक प्रकार की

1. Autonomic Nervous System.

शाखा है। सुषुम्ना नाड़ी के दोनों ओर प्रत्येक नाड़ी की शाखा दो फुँगसेदार होती है। बहुत से नाड़ी-तन्तु सुषुम्ना से मिलकर स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल में मिलते हैं। इस तरह दोनों नाड़ी-मण्डल का सम्बन्ध होता है। स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल में बहुत से चक्र अथवा गंड रहते हैं। ये चक्र सुषुम्ना और शीर्षणी नाड़ी से नाड़ी-तन्तुओं के द्वारा जुड़े रहते हैं। ये नाड़ी-तन्तु गले, सिर और निचले भाग से निकलते हैं। इन चक्रों से दूसरे नाड़ी-तन्तु भी निकलते हैं जो शरीर के विभिन्न भागों में फैले रहते हैं। रक्तवाहक कोश पसीना पैदा करनेवाली ग्रन्थि (ग्लैंड) का नियन्त्रण इन्हीं नाड़ियों से होता है।

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल के भाग—स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल के निम्नलिखित तीन भाग हैं —

(१) शीर्षणी[1]
(२) मध्यम[2]
(३) अनुत्रिका[3]

शीर्षणी भाग अपने-आप होनेवाली अनेक क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। आँख के ताल (लेन्स) और पुतली[4] (तारे) की क्रियाओं का नियन्त्रण इसी भाग से होता है। जब हम अँधेरे में जाते हैं तो आँख का तारा बड़ा हो जाता है। यह बढ़ाने-घटाने का काम स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल का शीर्षणी भाग करता है। शीर्षणी स्वतन्त्र नाड़ी ही भोजन पचाने की क्रिया, हृदय की गति तथा फेफड़ों के कोशों का नियन्त्रण, थूक का आना इन्हीं नाड़ियों की क्रिया से होता है।

अनुत्रिका सुषुम्ना के नीचे के छोर के समीप स्थित है। यह भाग मलमूत्र त्याग करने में काम करता है। कामभाव की उत्तेजना के समय भी यह भाग काम करता है।

मध्यम भाग प्रायः वही काम करता है जो कि उपर्युक्त दो भाग करते हैं; पर इसकी क्रियाएँ उन दोनों से विपरीत हैं। जहाँ मध्यम आँख के तारे को फैलाता है वहाँ शीर्षणी उसे सिकोड़ता है। शीर्षणी और अनुत्रिका पचाने की क्रिया को उत्तेजित करते हैं; इसके विपरीत मध्यम पचाने की क्रिया की गति मन्द करता है।

स्वतन्त्री नाड़ी-मण्डल का एक विशेष कार्य उद्वेगों को उत्तेजित करना है।

1. Cranial. 2. Sympatheic. 3. Sacral, 4. Pupil.

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल में स्थित ग्रन्थियाँ और चक्र कई एक ऐसे रस पैदा करते हैं कि उनसे उद्वेग प्रबल हो जाते हैं, मनुष्य के शरीर में विशेष शक्ति का संचार हो जाता है और जो कार्य वह अपनी साधारण अवस्था में करने में असमर्थ रहता है, वह सरलता से उद्वेगों की अवस्था में कर डालता है।

गिल्टियाँ[1]

स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल का सम्बन्ध हमारे शरीर में फैली हुई उन अनेक गिल्टियों से रहता है, जो शरीर में होनेवाली अति उपयोगी क्रियाओं का संचालन करती हैं। हृदय की धड़कन, भोजन का पचना, मल-मूत्र का बाहर निकलना आदि कार्यों में ये गिल्टियाँ काम करती हैं। कुछ गिल्टियाँ शरीर की बाढ़ और इसे स्वस्थ रखने में बड़ी ही उपयोगी हैं और कुछ का सम्बन्ध हमारे मनोभावों के उत्पन्न करने तथा उन्हें बढ़ाने और घटाने से रहता है।

प्रणाली-युक्त गिल्टियाँ[2]—गिल्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—प्रणाली-युक्त और प्रणाली-विहीन[3]। प्रणाली-युक्त गिल्टियाँ कुछ ऐसे रसों का उत्पादन करती हैं जो शरीर की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। भोजन पचाने के कार्य में आमाशय में एक प्रकार के रस की आवश्यकता होती है। इस रस को एक विशेष प्रकार की प्रणाली-युक्त गिल्टी बनाती है और वह एक प्रणाली के द्वारा उस रस को आमाशय तक पहुँचाती है। किसी गिल्टी के बनाये रस की आवश्यकता यदि जहाँ वह है उस स्थान के समीप न होकर दूर पर होती है, तो प्रणाली के द्वारा आवश्यक रस को उस स्थान तक पहुँचाया जाता है। इस तरह की एक प्रणाली जिगर के पास से निकल कर छोटी आँत के पाकाशय नामक स्थान में पहुँचती है। क्लोम नामक गिल्टी से निकलकर एक प्रणाली अथवा नली छोटी आँत तक पहुँचाती है। इसी तरह गुर्दे से एक नली निकलती है जो पेशाब के काम में सहायक होती है।

प्रणाली-विहीन गिल्टियाँ—प्रणाली-युक्त गिल्टियों का काम डाक्टर लोगों को बहुत पहले से ही ज्ञात था। किन्तु प्रणाली-विहीन गिल्टियाँ शरीर विज्ञान[4] की नई खोज है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन गिल्टियों का अध्ययन बड़े महत्व का है। ये गिल्टियाँ अनेक प्रकार के मानसिक उद्वेगों को बढ़ाने-घटाने में महत्व का काम करती हैं। प्रणाली-विहीन गिल्टियाँ जिस रस का उत्पादन करती हैं, वह रस किसी विशेष प्रणाली के द्वारा शरीर के एक स्थान

---

1. Glands. 2. Glands with ducts. 3. Ductless glands. 4. Physiology.

से दूसरे स्थान पर नहीं जाता है वरन् सीधे रक्त में मिल जाता है और रक्त-सञ्चार के साथ-साथ सारे शरीर में मिल जाता है। प्रणाली की सहायता के बिना काम करने के कारण इन गिल्टियों को प्रणाली-विहीन कहा जाता है। प्रणाली-विहीन गिल्टियों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) कण्ठमणि[1] (चुल्लिका),
(२) उपचुल्लिका[2],
(३) पीनियल[3],
(४) पिट्यूटरी[4],
(५) एड्रिनल्स[5]।

इनके अतिरिक्त क्लोम नामक एक गिल्टी है, जो दो प्रकार के रसों का उत्पादन करती है। एक का सञ्चार प्रणाली के द्वारा होता है और दूसरे का बिना प्रणाली के। उक्त प्रणाली-विहीन गिल्टियों के कार्य विभिन्न हैं। इन पर यहाँ प्रकाश डालना विषय के प्रतिपादन के लिए आवश्यक है।

कण्ठमणि—यह गिल्टी टेटुआ[6] (गले की घण्टी) के पास स्थित है। इसका आकार एक देशी चूहे से मिलता-जुलता है। इसी कारण इसे चुल्लिका भी कहा जाता है। यह एक बड़े महत्व के रस का, जिसे थायरॉक्सिन[7] कहते हैं उत्पादन करती है, जिसका सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यह रस शरीर की वृद्धि और पुष्टि करने में विशेष लाभकारी होता है। यदि लड़कपन से ही इस गिल्टी के कार्य में कोई त्रुटि रहे, और इसका रस पर्याप्त मात्रा में रक्त में न मिले तो शरीर और मन का पूरा-पूरा विकास नहीं होता है। इससे बालक दुर्बल शरीर और मन्दबुद्धि हो जाता है। इसके बढ़ जाने पर घेघा[8] नामक रोग हो जाता है। इसके रस के प्रभाव के कम होने पर बौनापन[9] आ जाता है। थायरॉक्सन की कमी कभी-कभी कृत्रिम रूप से पूरी की जाती है; अर्थात् दूसरे जानवरों के शरीर में पैदा हुआ थायरॉक्सिन रोगी को दिया जाता है। इस तरह बौनेपन के रोग से बालक मुक्त किया जा सकता है और उसकी बुद्धि में तीव्रता लाई जा सकती है। किन्तु इस प्रकार कृत्रिम रूप से पूर्ति की गई कमी को यदि हटाते नहीं रहते तो वह रोग पुनः पैदा हो जाता है।

भय और क्रोध की अवस्था में जिस तरह मुँह से लार पैदा करनेवाली

---

1. Thyroid. 2. Para-thyroid. 3. Pineal. 4. Pitutary. 5. Adrinals. 6. Throat. 7. thyroxin. 8. Goitre. 9. Cretinism.

गिल्टियाँ ठीक से काम नहीं कर पाती हैं, जिससे ऐसी अवस्था में मुँह सूख जाता है, उसी तरह से यह गिल्टी भी ठीक से काम नहीं करती। अतएव जितने परिमाण में वह साधारणतः थायरॉक्सिन नामक रस का उत्पादन करती है उतने परिमाण में वह भय और क्रोध की अवस्था में उस रस को उत्पादित नहीं करती। रक्त में इस रस की कमी होने पर शरीर में अनेक प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं। थायरॉक्सिन एक प्रकार का अमृत रस है। यह अमृत हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है तथा रोगों का विनाश करता है। इसकी कमी होने पर शरीर की विनाशात्मक क्रियाओं की वृद्धि हो जाती है तथा मनुष्य का मृत्युकाल निकट आ जाता है। सिर-दर्द, हृदय की धड़कन, अपच आदि रोग बढ़ जाते हैं; शरीर की स्फूर्ति और तेज चले जाते हैं। इस तरह जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक भय और क्रोध सताते हैं, उसका शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही नष्ट हो जाता है।

प्रेम और उत्साह की अवस्था में इस गिल्टी का कार्य क्रोध और भय की अवस्था के ठीक प्रतिकूल होता है। ऐसी अवस्था में अमृत रस की वृद्धि हो जाती है। अतएव शरीर तेजी के साथ बढ़ने लगता है तथा उसकी बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं। मन्द बुद्धि का रोग भी इस प्रकार कम हो जाता है क्योंकि शरीर में स्फूर्ति आने के साथ-साथ बुद्धि में भी स्फूर्ति आती है। इस तरह प्रेम और आशा, स्वास्थ्य और प्रतिभा के उसी प्रकार पोषक हैं, जिस तरह क्रोध और निराशा उनके विनाशक हैं।

किसी भी गिल्टी के रस की वृद्धि उसके बराबर उत्तेजित करने से की जा सकती है। थायरॉक्सिन की कमी की पूर्ति कुछ दूर तक कण्ठमणि को कृत्रिम रूप से उत्तेजित करके कर सकते हैं। इसके लिए गले की नसों का व्यायाम विशेष लाभकारी होता है। व्यायाम करते समय यदि हम अपने विचारों को भी कण्ठ-मणि पर केन्द्रित करें तो और भी अधिक लाभ हो।*

उपचुल्लिका—ये गिल्टियाँ मटर के बराबर उसी आकार की होती हैं और चुल्लिका के दाहिने और बायें भाग में दो-दो रहती हैं। इनके कार्य में त्रुटि होने से या इनके निकाल देने से टेटिनी नामक रोग उत्पन्न हो जाता है।

थाइमस—यह गिल्टी छाती के हड्डी के पीछे और गर्दन के निचले

---

* हठयोग की कई एक ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा कण्ठमणि की विशेष उत्तेजना होती है और अमृत रस की वृद्धि होती है। शीर्षासन, हलासन, पश्चिमोत्तान और मत्स्यासन इस दृष्टि से स्वास्थ के लिए विशेष लाभकारी हैं।

भाग के पास है। यह चौदह-पन्द्रह वर्ष तक बढ़ती जाती है तत्पश्चात् धीरे-धीरे छोटी होती जाती है। इसके काम का अभी तक पूरा-पूरा पता नहीं चला; किन्तु इसके निकाल देने पर अथवा इसके विकारयुक्त होने पर शरीर की बाढ़ में कमी हो जाती है।

पीनियल गिल्टी—यह गिल्टी मस्तिष्क की नली में रहती है। फ्रान्स के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डेकार्ट ने इस गिल्टी को जीवात्मा का निवास-स्थान कहा है। उसके कथनानुसार शरीर की सभी क्रियाओं का सञ्चालन इसी गिल्टी से होता है। शरीर-विज्ञान के अनुसार इस गिल्टी का काम इतने महत्त्व का नहीं जितना कि डेकार्ट महाशय ने उसे माना है। किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह गिल्टी शरीर-विकास में महत्त्व का कार्य करती है। यह गिल्टी लिंग-भेद के ऊपरी चिन्ह को पहचानने में सहायक है। लड़के में दाढ़ी-मूँछ का आना तथा स्त्रियों में विशेष अवयवों का बढ़ना इसी गिल्टी के कार्य से होता है। अतएव इस गिल्टी को कभी-कभी कामोद्दीपक गिल्टी भी कहा जाता है।

पीच्यूटरी—यह गिल्टी मस्तिष्क के नीचे की नली से लटकती रहती है। इसके दो हिस्से हैं; दोनों से विभिन्न प्रकार के रस निकलते रहते हैं। सामनेवाले भाग का कार्य शरीर की बाढ़ के लिए आवश्यक होता है और पिछले भाग के कार्य का प्रभाव आँत और रक्त-वाहिनी नलियों पर पड़ता है।

एड्रिनल—एड्रिनल नामक दो गिल्टियाँ गुर्दों[1] के ऊपरी सिरे पर स्थित हैं। ये एड्रिनलीन[2] नामक रस का उत्पादन करती हैं। यह रस शरीर में रक्त के द्वारा प्रवाहित होता है तथा शरीर में स्फूर्ति लाता है। इसके प्रवाहित होने पर शरीर चौकन्ना हो जाता है और किसी विशेष प्रकार के खतरे का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। यदि मनुष्य को भागना हो या किसी से लड़ना हो तो विशेष मात्रा में एड्रिनलीन की उत्पत्ति हो जाती है, जिसके कारण मनुष्य असाधारण कार्य कर डालता है। चोर पीछा किये जाने पर जितनी तेजी से दौड़ सकता है और जितनी ऊँची-ऊँची दीवालें कूद सकता है, पीछा करनेवाले न तो उतनी शीघ्रता से दौड़ सकते हैं और न उतनी लम्बी कूद-फाँद ही कर सकते हैं। वह अकेला दो-तीन आदमियों के हाथ से भी छूटकर भाग जाता है। कूद-फाँद में जो चोट लगती है उसकी वेदना उसे उस समय नहीं होती। इसी तरह लड़ाई में लड़नेवाले सिपाही को लड़ते

1, Kidney. 2. Adrinalin.

समय चोट का ज्ञान नहीं रहता। हाकी या फुटबाल खेलते समय जो चोट बालकों को लग जाती है उसका ज्ञान उन्हें खेल के समाप्त होने पर होता है। एड्रिनलीन रस का सञ्चार शरीर में ऐसी उत्तेजना पैदा करता है जिससे मनुष्य शरीर की सारी वेदना की परवाह न कर असाधारण कार्यों को सरलता से कर लेता है।

प्रश्न

१—'नाड़ी-तन्त्र नगर के तार-तन्त्र के समान हैं', इस कथन को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

२—शरीर के नाड़ी-तन्त्र के अध्ययन से मानसिक क्रियाओं के समझने में कहाँ तक सहायता मिलती है? उदाहरण देकर समझाइए।

३—त्वक् नाड़ी-मण्डल क्या है? अन्तर्गामी और निर्गामी नाड़ियों का कार्य और उसके आपस का सम्बन्ध समझाइए।

४—'साइनाप्स' किसे कहते हैं? एक उदाहरण देकर इसका कार्य समझाइए।

५—सहज क्रिया में कौन-कौन सी नाड़ियाँ कार्य करती हैं? एक चित्र के द्वारा सहज क्रिया के विभिन्न भागों को समझाइए।

६—मान लीजिए, हमें एक कीड़े ने पैर में काट लिया, इस घटना की जो-जो प्रतिक्रियाएँ सम्भव हैं; उन पर प्रकाश डालिए।

७—सुषुम्ना के मुख्य-मुख्य कार्य क्या हैं? इसका मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध है?

८—मस्तिष्क के प्रधान भाग कौन-कौन से हैं? उनके कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

९—मस्तिष्क में क्षति होने पर क्या होता है? सविस्तार समझाइए।

१०—लघु मस्तिष्क और सेतु का क्या सम्बन्ध है? मस्तिष्क के कार्य पर प्रकाश डालिए।

११—स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल और केन्द्रीय नाड़ी मण्डल का क्या सम्बन्ध है? स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल का प्रधान कार्य क्या है?

१२—स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल के प्रमुख भाग कौन-कौन हैं तथा उनके कार्य क्या हैं?

१३—हमारे शरीर में स्थित प्रमुख गिल्टियों के कार्य बतलाइए।

———

चौथा प्रकरण

मानसिक प्रतिक्रियाएँ[1]

इस पुस्तक के पहले प्रकरण में मनोवृत्ति का स्वरूप दर्शाया गया है। प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक[2], क्रियात्मक[3] और भावात्मक[4]। मनोविज्ञान का अध्ययन इसी मनोवृत्ति के किसी एक पहलू से आरम्भ किया जाता है। हम किसी भी पहलू को पहले-पहल क्यों न लें, उसके वर्णन करते समय हमें दूसरे पहलू पर भी कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना ही पड़ता है। वास्तव में, जैसा पहले कहा गया है, तीनों पहलू एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। मनोवैज्ञानिक लोग साधारणतः मन का अध्ययन या तो मनोवृत्ति के क्रियात्मक पहलू को लेकर प्रारम्भ करते हैं अथवा ज्ञानात्मक पहलू को। यूरोपीय मनोवैज्ञानिक अधिकतर पहले ज्ञानात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं, पीछे क्रियात्मक पहलू का वर्णन करते हैं। इसके प्रतिकूल अमेरिकन मनोवैज्ञानिक सामान्यतः क्रियात्मक पहलू से ही मनोविज्ञान का अध्ययन आरम्भ करते हैं।

पिछले प्रकरण में हमने नाड़ी-तन्त्र का वर्णन करते हुए यह दर्शाया है कि मनुष्य की नाड़ियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञानवाही[5] और क्रियावाही[6]। आपस में सम्बन्ध होने पर हमारे मस्तिष्क में ज्ञानवाही और क्रियावाही केन्द्र एक दूसरे से पृथक् हैं। ज्ञानवाही नाड़ियाँ तथा मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्र हमारे ज्ञान-संचय और उसके विकास में काम करते हैं। इसी तरह क्रियावाही नाड़ियाँ और मस्तिष्क के क्रिया-केन्द्र हमारी क्रियात्मक मनोवृत्ति में काम करते हैं। इससे मनुष्य की कार्य करने की शक्ति का विकास होता है। मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्र और क्रिया-केन्द्र में घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण इसकी एक प्रकार की शक्ति का विकास होने पर दूसरे प्रकार की शक्ति का भी विकास हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे मनुष्य की काम करने की योग्यता बढ़ती है, उसका ज्ञान भी स्पष्ट और सुदृढ़ होता है। इसी तरह मनुष्य के ज्ञान के स्पष्ट और सुदृढ़ होने से उसकी कार्यशीलता का भी विकास होता है।

---

1. Reactions. 2. Cognitive. 3. Conative. 4. Affective. 5. Sensory. 6. Motor.

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हम मन का अध्ययन चाहे उसके ज्ञानात्मक पहलू से प्रारम्भ करें अथवा क्रियात्मक पहलू से, हमें एक-सा ही लाभ होगा। मन का ज्ञानात्मक पहलू क्रियात्मक पहलू से अधिक सूक्ष्म है। अतएव विषय की सुबोधता के लिए यह आवश्यक है कि हम मन की विभिन्न शक्तियों का वर्णन उसकी क्रियात्मक प्रवृत्तियों से ही करें।

सहज प्रतिक्रिया[1]

जिस प्रकार मन में बाहर से आनेवाली उत्तेजना[2] को ग्रहण करने की शक्ति होती है, उसी तरह उसमें उन उत्तेजनाओं का प्रतिकार करने की भी शक्ति होती है। बाहर से आनेवाली उत्तेजना मन में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न करती है। इस क्रिया के उत्तर में जो क्रियात्मक[3] वृत्ति मन में उत्पन्न होती है और जिसके परिणाम-स्वरूप बाह्य परिस्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है उसे प्रतिक्रिया कहते हैं। बाह्य उत्तेजना का परिणाम संवेदना[4] होता है। इसका प्रकार शारीरिक काम तथा बाह्य संसार में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है।

मान लीजिए, कोई कीड़ा हमारे पैर पर चढ़ने की कोशिश करता है। ज्योंही उस कीड़े का सम्पर्क हमारे पैर से होता है, हम एकाएक पैर को झटकार देते हैं। पैर के झटकारने में बाह्य उत्तेजना की क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया का सबसे सरल उदाहरण हम देखते हैं। कीड़ा यहाँ उत्तेजक पदार्थ का काम करता है। यह उत्तेजना हमारी संवेदनात्मक नाड़ियों को उत्तेजित करती है। इस नाड़ी का एक सिरा शरीर की त्वचा से मिला रहता है और दूसरा सिरा सुषुम्ना नाड़ी से सम्बन्धित रहता है। यहाँ इसका सम्बन्ध क्रियावादी नाड़ी से होता है। संवेदनात्मक[5] (ज्ञानवाही) नाड़ी क्रियावाही[6] नाड़ी को उत्तेजित करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप पैर की पेशियों में गति उत्पन्न होती है और झटकारने की प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार की क्रिया को सहज क्रिया अथवा परिवर्तन क्रिया कहते हैं। यह क्रिया मशीन के समान एक-सी ही होती है। जब कभी उत्तेजना होती है तो यह क्रिया अपने

---

1. Reflexes. 2. Stimulus. 3. Conative. 4. Sensation. 5. Sensory. 6. Motor.

आप हो जाती है। इस प्रतिक्रिया को निम्नलिखित सांकेतिक चिन्ह से दर्शाया जा सकता है—

उ———→प्र

चित्र नं० ५

यहाँ 'उ' उत्तेजना को संकेत करता है और 'प्र' प्रतिक्रिया को।

हमारे जीवन की अनेक प्रतिक्रियाएँ उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं के समान सरल नहीं होतीं। जैसे-जैसे प्राणिवर्ग का विकास होता है उनकी प्रतिक्रियाएँ अधिकाधिक जटिल होती जाती हैं। पतंगे की प्रतिक्रियाएँ इतनी जटिल नहीं होतीं जितनी कि कबूतर की होती हैं। चौपायों की प्रतिक्रियाएँ पक्षियों की प्रतिक्रियाओं से भी जटिल होती हैं। मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ सबसे अधिक जटिल होती हैं। जैसे-जैसे प्राणियों में मस्तिष्क का अधिकाधिक विकास होता जाता है, उनकी प्रतिक्रियाओं की जटिलता बढ़ती जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऊँची श्रेणी के प्राणियों में नीची श्रेणी के प्राणियों में होनेवाली प्रतिक्रियाओं का पूर्णतः अभाव रहता है। उच्चवर्ग के प्राणियों में नीचे वर्ग के प्राणियों की प्रतिक्रियाएँ तो होती ही हैं, उत्तरोत्तर जटिल प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। उनकी सभी प्रतिक्रियाएँ मशीन के समान नहीं होतीं, किन्तु हेतुपूर्वक होती हैं।

हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया[1]

हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया मशीन की प्रतिक्रिया के समान नहीं होती। उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच हेतु की उपस्थिति होती है। सहज क्रिया में सदा उत्तेजक पदार्थ बाहरी रहता है। इसकी शक्ति भीतर से न आकर बाहर से ही आती है, किन्तु हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया की शक्ति भीतर से आती है। इसमें बाहरी उत्तेजना मन में रहनेवाली किसी स्थायी प्रवृत्ति को जाग्रत करती है; और वह उत्तेजना किसी निश्चित प्रतिक्रिया में परिणत न होकर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं में से किसी एक में परिणत हो जाती है। उदाहरणार्थ, अभी लेखक के हाथ में डाक द्वारा 'हमारे बालक' नाम का एक मासिक पत्र आया। साधारणतः जब कोई व्यक्ति मासिक पत्र पाता है तो उसे पढ़ने लगता

1. Purposive Reactions.

है। लेखक ने इस पत्र को हाथ में लेकर रख दिया और अपने एक छात्र से कहा कि इस पत्र के सम्पादक को बहुत दिन से लेख नहीं भेजा गया। इसे तुम कल ही 'शिशु के दूध पिलाने की समस्या' पर एक लेख भेज दो। इस ढंग की प्रतिक्रिया हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया कही जाती है। पत्र को देखते ही कई प्रकार की प्रतिक्रियाओं की सम्भावना होती है। उनमें से एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया वास्तव में घटित होती है। यह प्रतिक्रिया उस समय की मानसिक स्थिति पर निर्भर रहती है, किन्तु हमारे हेतुओं के कारण अधिकतर स्थायी होते हैं।

हेतुपूर्वक प्रतिक्रियाओं की दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ सहज प्रतिक्रिया एकाएक और तुरन्त होती है, हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया देर तक ठहरती है। यदि हमारी नाक में लुँग्ची (साई) घुस जाय तो हमें एकाएक छींक आ जाती है। नाक में लुँग्ची के प्रवेश करने और छींक की प्रतिक्रिया में किसी प्रकार की देरी नहीं होती। किन्तु हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया बहुत देर तक ठहरती है। जब किसी मनुष्य को बैङ्क का चेक मिलता है तो उसे भजाने के लिए बैङ्क की ओर दौड़ा जाता है। उसका ध्यान मार्ग में होनेवाली घटनाओं की ओर नहीं जाता। वह अपने अनेक मित्रों से मिलता है पर उनसे बातचीत करने को नहीं ठहर जाता। उसे चिन्ता रहती है कि कहीं बैङ्क बन्द न हो जाय, इसलिए वह दूसरी अनेक घटनाओं की परवाह न कर बैङ्क के कार्यालय में जाता है और वहाँ कर्मचारियों से मिलता है, तथा जब तक उसे रुपया नहीं मिल जाता, वह शान्त नहीं होता।

हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया का तीसरा लक्षण यह है कि उसमें एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति उपस्थित रहती है जो एक निश्चित लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट रहती है। हेतु से काम करनेवाला व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अग्रसर रहता है जो उसे प्राप्त नहीं है तथा जिसकी भविष्य में प्राप्ति के लिए वह आशा करता है। उत्तेजना मनुष्य को पीछे से ढकेलती है किन्तु लक्ष्य उसके सामने से अपनी ओर आकर्षित करता है। सहज प्रतिक्रिया में इस प्रकार के लक्ष्य की अनुपस्थिति रहती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हेतुपूर्वक प्रतिक्रियाओं में बाह्य उत्तेजना के अतिरिक्त एक ऐसा कारण भी उपस्थित रहता है जो उत्तेजना को जिस ओर प्रवाहित करना चाहे कर देता है। यह कारण भीतरी मानसिक स्थिति है, जो कुछ देर तक ठहरती है और क्रिया का प्रवाह एक विशेष

ओर ले जाती है। यह मानसिक स्थिति निम्नलिखित चित्र से दर्शायी जा सकती है—
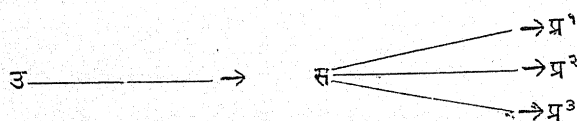
चित्र नं० ६

यहाँ 'उ' उत्तेजक पदार्थ सूचित करता है, 'स' प्रबल संस्कारों को—जो उत्तेजना से जाग्रत होते हैं—सूचित करता है, तथा 'प्र' १, 'प्र' २ और 'प्र' ३ उन प्रवृत्तियों को सूचित करते हैं जिनकी उत्तेजना से जाग्रत होने की सम्भावना होती है।

हेतुपूर्वक प्रतिक्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक में हेतु की उपस्थिति होती है, किन्तु विचार नहीं रहता और दूसरी में हेतु की उपस्थिति के साथ-साथ चैतन्य विचार भी रहता है। मनुष्य से निम्न श्रेणी के प्राणियों के अनेक कामों में हेतु की उपस्थिति रहती है, किन्तु विचार का अभाव रहता है। मनुष्य में ही विचार करने की शक्ति होती है। अतएव उसकी अनेक क्रियाओं में हेतु के साथ-साथ विचार भी रहता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि विचारमात्र में ही हेतु नहीं होता। हमारी साधारण भाषा और कर्तव्य-शास्त्र में हेतु को विचार द्वारा स्थिर किया गया लक्ष्य माना गया है। इससे यह बोध होता है कि विचार की अनुपस्थिति में हेतु की सम्भावना न होगी। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त इसके प्रतिकूल है। विचार हेतु-प्राप्ति का साधन बन सकता है, वह मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है, किन्तु किसी विशेष प्रकार की प्रवृत्ति के अभाव में स्वयं विचार क्रियामूलक नहीं होता। सम्भव है कि विचार मनुष्य की किसी दबी हुई प्रवृत्ति को उभाड़े जो उसके कार्यों का हेतु बन जाय।

मानसिक प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हमारी मानसिक प्रतिक्रियाएँ कई प्रकार की हैं। ये कुछ सरल और जटिल होती हैं।

निम्नलिखित तालिका मानसिक प्रतिक्रियाओं को दर्शाती है—
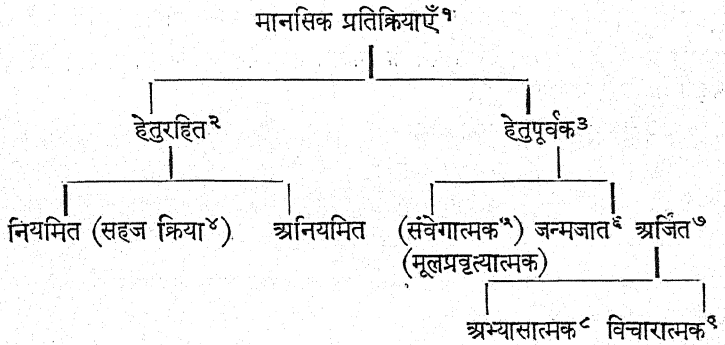
सहज क्रिया—सहज क्रिया या परिवर्तन क्रिया एक सरल प्रतिक्रिया है। इसका बहुत-कुछ वर्णन पहले किया जा चुका है। इस क्रिया की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। इसका सञ्चालन मस्तिष्क से नहीं होता, अर्थात् इसमें विचार की आवश्यकता नहीं होती। सहज क्रिया को प्रयत्न के द्वारा एकाएक नहीं रोका जा सकता। यदि हमारी नाक में कोई उत्तेजना हो जाय और हम छींकना न चाहें तो भी बरबस छींक आ जाती है, रोकने के प्रयत्न करने पर छींक और जोर से आती है। सहज क्रिया एक प्रकार की हमारी नाड़ियों की आदत मात्र है जो जन्म से ही उनमें स्थित रहती है। बड़े प्रयत्न के पश्चात् इसमें परिवर्तन करना सम्भव होता है, किन्तु न इसमें एकाएक परिवर्तन होता है और न विचारजन्य प्रतिक्रियाओं की तरह इसमें अधिक परिवर्तन हो सकता है। अन्य प्राणियों की भाँति मानव-जीवन में सहज क्रियाएँ पाई जाती हैं। इन क्रियाओं में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) घुटना झटकारना—इस क्रिया का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मस्तिष्क के हटा देने पर भी यह क्रिया होती रहती है। प्राणि-विज्ञान के प्रयोग-

---

1, Reactions. 2. Reflexes. 3. Purposive reactions. 4. Confused (Emotional). 5. Innate. 6. Instinctive 7. Acquired. 8. Habitual. 9. Thoughtful (voluntary).

कर्त्ताओं ने देखा है कि मस्तिष्क हटाये हुए मेंढक के पैर में जब कोई सूई चुभोता है तो वह पैर को झटकारता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इस क्रिया के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं रहती।

(२) उपतारे की क्रिया—जब हम आकाश में आते हैं तो हमारी आँख का उपतारा आकार में बढ़ जाता है, और जब हम अँधेरे में जाते हैं तो वह छोटा हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था से हमारी आँख में उतना ही प्रकाश जाता है जितना कि सामने के पदार्थ को रेटिना के ऊपर स्पष्ट प्रतिमा पड़ने के लिए आवश्यक है।

(३) छींकने की सहज क्रिया—इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। छींक के द्वारा नाक में घुसा हुआ पदार्थ दिमाग में नहीं जाता, किन्तु एकाएक बाहर आ जाता है।

(४) पलक गिरने की प्रतिक्रिया—जब कोई पदार्थ हमारी आँख के अति समीप आ जाता है तो हमारी आँख की पलक अपने आप ढरक जाती है। इस सहज क्रिया से आँख की भारी रक्षा होती है।

(५) लार आने की सहज क्रिया—जब हमारे सामने कोई खाद्य-पदार्थ आता है तो हमारे मुँह से लार आने लगती है। भोजन को मुँह में डालते ही वह लार से सन जाता है जिससे उसका पचना सुगम हो जाता है। बिना लार के न तो भोजन का आस्वादन किया जा सकता है और न उसे पचाया जा सकता है।

(६) आँसू आने की प्रतिक्रिया—जब कभी धूल का कण या तिनका हमारी आँख में चला जाता है तो हमारी आँख एकाएक आँसू से भर जाती है, इसके कारण धूल या तिनका बाहर निकल जाता है।

उपर्युक्त क्रियाओं के अतिरिक्त दूसरी और भी सहज क्रियाएँ हैं जो जीवन को अनेक प्रकार से लाभदायक होती हैं। जम्हाई लेना, वमन करना, खुजलाना आदि क्रियाएँ भी जीवन को लाभकारी हैं। इन क्रियाओं से प्राणी की जीवन-रक्षा होती है। प्रकृति ने इन क्रियाओं की योग्यता मनुष्य में इसलिए दी है जिससे उसके प्राण की रक्षा, विचार की अनुपस्थिति में हो सके। विचार करने में कुछ देर लगती है, किन्तु कई एक परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें काम करने की तुरन्त आवश्यकता होती है और विलम्ब करना प्राणघातक होता है। यदि हमारी नाक में कोई चीज चली जा रही है और तुरन्त छींक नहीं आ रही है, वरन् हम विचार द्वारा उसे निकालने की चेष्टा करते हैं तो हमारे निकालने के प्रयत्न के पूर्व ही वह हमारे मस्तिष्क के मर्मस्थल

तक पहुँच जायगी। सम्भव है कि इससे हमको बहुत भारी हानि हो। इसी तरह मुँह में मक्खी चले जाने से एकदम वमन हो जाता है। इससे मक्खी बाहर निकल आती है और उसका जहर हमारे पेट में नहीं ठहरता।

संवेगात्मक प्रतिक्रिया—ये प्रतिक्रियाएँ भी जन्मजात होती हैं किन्तु ये सहज क्रियाओं के सदृश नियमित नहीं होतीं। इन प्रतिक्रियाओं में हेतुपूर्वक प्रतिक्रियाओं जैसे किसी लक्ष्य की उपस्थिति नहीं रहती। जब किसी प्रबल संवेग या पीड़ा के समय मनुष्य इधर-उधर नाचता-कूदता दिखाई देता है, जो व्यर्थ क्रिया होती है, तब हम उक्त प्रकार की प्रतिक्रिया को देखते हैं। इस समय जो कुछ चेष्टाएँ मनुष्य करता है वे न तो नियमित होती हैं और न उनसे किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं से मनुष्य की शक्ति का केवल ह्रास मात्र होता है।

मूल प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया—मूल प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रियाएँ, जिनका आगे चलकर हम विस्तृत वर्णन करेंगे, हेतुपूर्वक प्रतिक्रियाएँ हैं। ये प्रतिक्रियाएँ बहुत कुछ नियमित होती हैं। ये सहज क्रियाओं के सदृश एक-सी ही होती हैं, किन्तु इनमें परिवर्तन सम्भव है। इन प्रतिक्रियाओं की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। ये प्रतिक्रियाएँ किसी विशेष लक्ष्य से प्रेरित रहती हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति होने पर ये शान्त हो जाती हैं।

अभ्यासात्मक प्रतिक्रिया—ये प्रतिक्रियाएँ सीखने से आती हैं। जब ये सीखी जाती हैं तब विचार की उपस्थिति रहती है, पर एक बार आदत पड़ जाने पर ये प्रतिक्रियाएँ सहज क्रियाओं के समान अपने आप उत्तेजना की उपस्थिति से होने लगती हैं। ये आदतजन्य होती हैं, पर इनमें परिवर्तन सम्भव है। मूल प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रियाओं के सदृश इनमें हेतु की उपस्थिति रहती है।

विचारात्मक प्रतिक्रिया—ये प्रतिक्रियाएँ मनुष्य की विशेष प्रतिक्रियाएँ हैं। इनमें हेतु की उपस्थिति रहती है और इस हेतु का ज्ञान भी प्रयत्नकर्त्ता को रहता है। प्रतिक्रियाएँ निश्चित नहीं रहतीं। इनमें इच्छा की स्वतन्त्रता प्रदर्शित होती है। मनुष्य के जीवन में आदतें इन्हीं के द्वारा डाली जाती हैं। पहले-पहल इन प्रतिक्रियाओं का होना कठिन होता है, किन्तु जब ये आदत के रूप में परिणत हो जाती हैं तो सरल हो जाती हैं। मनुष्य के अतिरिक्त किसी दूसरे प्राणी में इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की सम्भावना नहीं।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की प्रतिक्रियाओं का एक और तरह से वर्गीकरण किया जा सकता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका प्रदर्शित करती है—
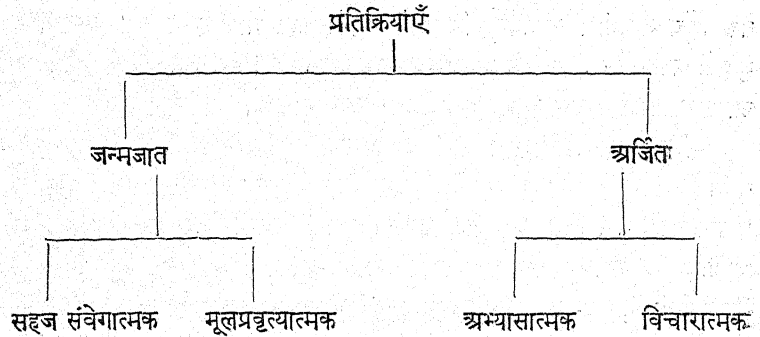
प्रतिक्रियाओं का अनुपात

मनुष्य और दूसरे प्राणियों की तुलना—मानव-जीवन तथा अन्य प्राणियों में उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं का अनुपात भिन्न होता है। निम्न वर्ग के प्राणियों में जन्मजात प्रतिक्रियाओं की अधिकता होती है; इसके प्रतिकूल मानव-जीवन में अर्जित प्रतिक्रियाओं का बाहुल्य होता है। मानव-जीवन और अन्य प्राणियों की विषमता को निम्नलिखित चित्र भलीभाँति दर्शाता है—
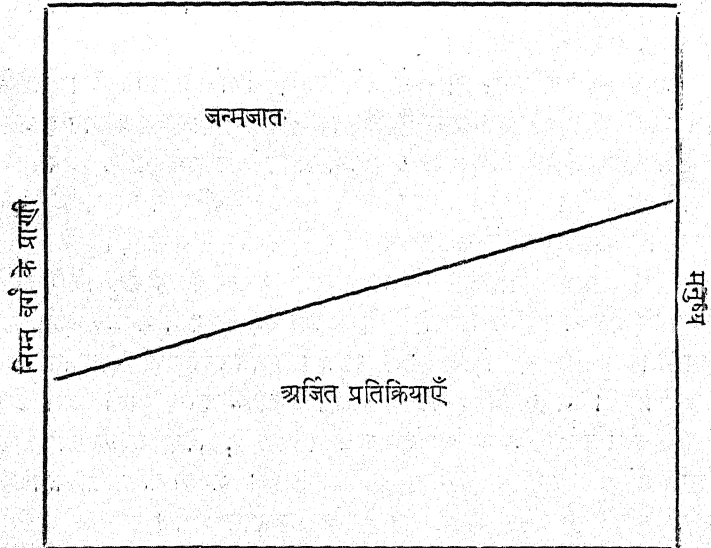
जन्मजात और अर्जित प्रतिक्रियाओं का अनुपात

चित्र नं० ७

शैशवावस्था और प्रौढ़ जीवन की तुलना—मनुष्य का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता है, उसकी सीखी हुई प्रतिक्रियाओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। जो अनुपात उसकी शैशवावस्था के साथ उसकी जन्मजात और अर्जित प्रतिक्रियाओं में होता है उससे भिन्न अनुपात उसकी प्रौढ़ावस्था में होता है। यह मानव-जीवन की विशेषता है। दूसरे प्राणियों की सीखने की शक्ति परिमित है। वे जो कुछ सीख सकते हैं अपनी शैशवावस्था में ही सीख लेते हैं, मनुष्य जन्म भर कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। उसकी सीखने की शक्ति अपरिमित है। एक बिल्ली का बच्चा भोजन की खोज करना, चिड़िया या चूहे का शिकार करना, कुत्ते तथा मनुष्य से प्राण-रक्षा के लिए भागना, उनसे बचना आदि कार्य जन्म के बाद थोड़े ही दिनों में सीख लेता है। वह अपने शेष जीवन में कोई नई बात नहीं सीखता। पर मनुष्य का बच्चा जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, नई बातों को प्रतिक्षण सीखता रहता है। इस तरह मनुष्य के जीवन में उसकी अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ जन्मजात और अर्जित प्रतिक्रियाओं का अनुपात भी बदलता रहता है।

सहज क्रियाओं का रूपान्तरण[1]

थोड़ी-सी सहज क्रियाओं को छोड़कर बाकी सबका रूपान्तरण हो जाता है। इस तरह प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति की बाल्यावस्था की सहज क्रियाओं का रूप परिवर्तित होता है। निम्न वर्ग के प्राणियों की सहज क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। ऐसा परिवर्तन, वातावरण में परिवर्तन के कारण होता है। सहज क्रियाओं के परिवर्तन को उनका उपाधियुक्त होना[2] कहते हैं। सहज क्रियाएँ दो प्रकार से परिवर्तित होती हैं—

(१) प्रभावहीन उत्तेजना का प्रभावशाली बनना।

(२) उत्तेजना का जन्मजात प्रतिक्रिया के अतिरिक्त किसी दूसरी प्रतिक्रिया से संयुक्त होना।

(१) प्रभावहीन उत्तेजना का प्रभावशाली बनना—प्रभावहीन उत्तेजना के प्रभावशाली बनने का एक सुन्दर उदाहरण कुत्ते के मुँह से लार टपकने में देखा जाता है। इस पर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। यदि किसी पालतू कुत्ते के सामने कितनी ही बार घण्टी क्यों न बजाई जाय पर मुँह से लार नहीं निकलती। कुत्ता घण्टी से चिहुँक भले ही पड़े किन्तु उसके मुँह से लार

1 Modification of Reflexes. 2 Conditioning of Reflexes.

नहीं निकलेगी। इससे यह प्रमाणित होता है कि कुत्ते के मुँह से लार निकलने के लिए घंटी की आवाज प्रभावहीन उत्तेजना है। जब कुत्ते के सामने भोजन रक्खा जाता है तो उसके मुँह से लार टपकने लगती है। उसके मुँह में लार लाने के लिए भोजन ही प्रभावशाली उत्तेजना है। प्रयोगकर्ता जब-जब कुत्ते को भोजन देता है तब-तब पहले घण्टी बजाता है, इस तरह घण्टी की आवाज और भोजन एक के बाद एक आते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि घण्टी की आवाज सुनते ही कुत्ते के मुँह में लार आने लगती है। यहाँ हम देखते हैं कि जिस उत्तेजना से लार आने की सहज क्रिया से कोई सम्बन्ध न था उसी से सम्बन्ध हो जाता है; अर्थात् एक प्रभावहीन उत्तेजना प्रभावशाली बन जाती है।

प्रयोगकर्ता अब इस सम्बन्ध की दृढ़ता की जाँच के लिए घण्टी बजाता है किन्तु घण्टी बजाने के पश्चात् कुत्ते को भोजन नहीं देता। घण्टी की आवाज सुनते ही कुत्ते के मुँह में लार आने लगती है किन्तु जब बार-बार घण्टी बजाकर भी कुत्ते को खाना नहीं दिया जाता, अर्थात् कुत्ते को जब बार-बार निराशा का सामना करना पड़ता है तब उसके मुँह से लार आना बन्द हो जाता है। इस तरह प्रभावशाली उत्तेजना प्रभावहीन हो जाती है अर्थात् वह अपना पाया हुआ प्रभाव खो देती है।

(२) उत्तेजना का इतर प्रतिक्रिया से संयुक्त होना—सहज क्रियाओं की यह एक विशेषता है कि उत्तेजना विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया को ही पैदा करती है। बिल्ली जब तोते को देखती है तो उस पर झपटने की कोशिश करती है, किन्तु विशेष प्रकार की ट्रेनिंग के पश्चात् वह तोते पर न झपटकर चुप-चाप बैठी रह सकती है। बालक जब पिल्ले को देखता है तो उसे प्यार से थपथपाने की चेष्टा करता है, किन्तु यदि पिल्ला एक बार बालक की ओर जोर से भूँक दे तो वह उस पिल्ले को देखते ही डरकर भागेगा।

प्रत्येक लड़का नारंगी खाना पसन्द करता है, किन्तु एक लड़का नारंगी खाना बिलकुल पसन्द नहीं करता। नारंगी देखते ही उसका जी मचलाने लगता है। कारण ढूँढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उस लड़के को जब कभी पेट साफ करने के लिए रेंड़ी का तेल दिया जाता था तो नारंगी के रस में दिया जाता था। बचा नारंगी के बुरे लगने का कारण तो भूल गया, किन्तु उसके मन में नारंगी के प्रति घृणा का भाव पैदा हो गया। आकर्षण की जगह विकर्षण ने ले ली।

बच्चों का सीखना बहुत कुछ उसकी सहज क्रियाओं में परिवर्तन मात्र है।

सीखने में प्रभावहीन उत्तेजनाएँ प्रभावशाली बन जाती हैं, अथवा जन्म से जिन प्रतिक्रियाओं का उनसे सम्बन्ध है, उनके अतिरिक्त दूसरी प्रतिक्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। शिशु जन्म से बहुत चीजों से डरता है। उसके जन्मजात भय[1] के कारण अधिक पीड़ा, गिर जाने की सम्भावना और जोर के शब्द होते हैं, किन्तु जैसे-जैसे इन भयों के स्वाभाविक कारणों का सम्बन्ध दूसरे प्रकार की उत्तेजनाओं से होता है, वे उत्तेजनाएँ भी भयकारी बन जाती हैं। इस प्रकार बालक के मन में अर्जित भय[2] का निर्माण होता है। बालक स्वभाव से अन्धकार से नहीं डरता, पर तीव्र आवाज से डरता है, किन्तु जब वह अन्धकार में जोर का शब्द सुनता है तो अंधकार में जाने से भी डरने लगता है। कभी-कभी माताएँ और दाइयाँ अँधेरी कोठरी की ओर बताकर कहती हैं कि वहाँ हौवा या चुड़ेल छिपी है। बालक हौवा और चुड़ेल से डरता है, जिसका कारण माताओं द्वारा बहुत सी डरावनी कहानियों का कहा जाना है। जब इनका सम्बन्ध अँधेरी कोठरी से होता है तो वह अँधेरी कोठरी से भी डरने लगता है। इसी तरह बालक जन्म से बिजली की चमक से नहीं डरता, किन्तु कड़क से डरता है; पर जब वह अपने अनुभव में बिजली की चमक और बादलों को गड़गड़ाहट का अनुभव एक साथ करता है तो बिजली की चमक से भी डरने लगता है।

इस प्रसंग में वाटसन महाशय का भय की प्रतिक्रिया का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक तीन वर्ष के बच्चे के सामने एक खरगोश लाया गया। खरगोश को देखते ही बच्चा उसकी ओर आकर्षित हुआ और उसे प्यार से थपथपाने लगा। खरगोश को जब-जब बालक के सामने लाया जाता था तब-तब वह खरगोश को प्यार करने और थपथपाने के लिए उसकी ओर हाथ बढ़ाता था। एक बार प्रयोगकर्ता खरगोश को बालक के समक्ष ज्यों ही लाया और बालक ने उसे प्यार करने के लिए हाथ बढ़ाया त्यों ही बालक के पीछे से एक भारी कठोर आवाज इस प्रकार की गई कि बालक उसके कारण को न जान सके। इस आवाज से बालक चिहुँक पड़ा और उसने अपना हाथ खरगोश से खींच लिया। इस प्रयोग को कई बार दुहराया गया। इसके परिणामस्वरूप बालक खरगोश से डरने लगा। यहाँ हम देखते हैं कि एक पदार्थ जो बालक के स्वाभाविक भय का कारण नहीं, उसके भय का कारण बन जाता है।

1. Inborn fear. 2. Acquired fear.

वाटसन महाशय तथा अन्य व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि प्राणियों की सभी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सहज क्रिया और उनके रूपान्तरण मात्र हैं। उनके इस कथन से हम सहमत नहीं हैं। ऊपर जिन प्रतिक्रियाओं का उदाहरण दिया गया है, उनमें से अधिकतर सहज प्रतिक्रियाएँ भी हैं। जब व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक सहज प्रतिक्रियाओं के रूपान्तरण का उदाहरण देते हैं तो प्रायः मूल प्रवृत्तियों और सहज क्रिया में भेद नहीं करते। क्योंकि उनके कथनानुसार सहज क्रिया और मूल प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया में कोई भेद नहीं होता। वे मनुष्य-जीवन की सभी प्रतिक्रियाओं को उत्तेजना और प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार समझना चाहते हैं, अर्थात् मानव-जीवन के जटिल से जटिल व्यवहारों को वे सहज क्रियाओं का रूपान्तरण मात्र मानते हैं। वाटसन महाशय के उक्त सिद्धान्त का खण्डन मैगडूगल, स्टाउट तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भलीभाँति किया है।

अगले प्रकरणों में सहज क्रियाओं का अन्य प्रकार की प्रतिक्रियाओं से भेद भलीभाँति दर्शाने की चेष्टा की जायगी।

प्रश्न

१—प्रतिक्रियाएँ कितने प्रकार की होती हैं? सहज प्रतिक्रिया का स्वरूप उदाहरण देकर समझाइए।

२—सहज प्रतिक्रिया और हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया में भेद क्या है? ऐसी कोई हेतुपूर्वक प्रतिक्रिया बतलाइए जिसमें विचार का अभाव हो।

३—हेतु और विचारों में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है? उदाहरण देकर समझाइए।

४—उत्तेजना और हेतुजनक प्रतिक्रियाओं के भेद को दर्शाइए। मानव जीवन में किस तरह मनुष्य की प्रतिक्रिया में उत्तेजना और हेतु का सम्बन्ध होता है?

५—मनुष्य और अन्य प्राणियों की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं के अनुपात की तुलना कीजिए।

६—मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा क्यों श्रेष्ठ है? मनुष्य के क्रियात्मक प्रवृत्तियों का वर्गीकरण करके इसे स्पष्ट कीजिए।

७—उपाधियुक्त सहज क्रियाएँ क्या हैं? सहज क्रियाओं का रूपान्तरण कैसे होता है? उदाहरण देकर समझाइए।

८—बालक के अर्जित भयों की वृद्धि कैसे होती है? उदाहरण देकर समझाइए।

९—सहज क्रियाओं के लक्षण तथा प्राणियों के जीवन में उनकी उपयोगिता उचित उदाहरण देकर समझाइए।

पाँचवाँ प्रकरण

मूल प्रवृत्तियाँ[1]

मनुष्य की क्रियात्मक मनोवृत्ति को दो प्रधान विभागों में विभक्त किया जा सकता है—एक जन्मजात और दूसरी अर्जित (सीखी हुई)। मनुष्य के सभी कार्य इन्हीं दो प्रकार की क्रियाओं से सञ्चालित होते हैं। जन्मजात क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—सहज क्रियाएँ और मूल प्रवृत्तियाँ। सृष्टि के निम्न-वर्ग के प्राणियों में सहज क्रियाओं का बाहुल्य होता है, तथा उच्चवर्ग के प्राणियों में मूल प्रवृत्तियों का। मनुष्य के जीवन में इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त अभ्यासजन्य[2] और विचारात्मक (इच्छित)[3] क्रियाएँ होती हैं। उसकी सर्वश्रेष्ठ क्रियाएँ विचारात्मक (इच्छित) हैं। अरस्तू ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा है। मनुष्य किसी कार्य को करने के पूर्व ऊहन करता है, अर्थात् वह आगे-पीछे की सोचता और तर्क-वितर्क करता है। वह वही काम करता है जिसका निश्चय उसका विचार कर देता है।

मनुष्य के स्वभाव की उपर्युक्त व्याख्या इस तथ्य को हमारी दृष्टि से ओझल करती है कि मनुष्य के जीवन में मूल प्रवृत्तियों का उतना ही महत्व का कार्य है जितना कि विचारात्मक क्रियाओं का। उसके जीवन में सहज क्रियाएँ भी होती हैं, किन्तु उनका इतना महत्व का स्थान नहीं होता है जितना मूल प्रवृत्तियों का। मानव-जीवन में मूल प्रवृत्तियों की उपयोगिता समझने के पूर्व उनके स्वरूप को जानना आवश्यक है।

मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप

मूल प्रवृत्ति एक प्रकृतिदत्त शक्ति है। यह शक्ति मानसिक संस्कारों के रूप में प्राणी के मन में स्थित रहती है, जिसके कारण प्राणी किसी विशेष प्रकार के पदार्थ की ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार की वेदना या संवेग की अनुभूति करता है तथा किसी विशिष्ट कार्य में प्रवृत्त होता

---

1. Instincts. 2. Habitual. 3. Voluntary.

है। * मूल प्रवृत्ति में हम मनोवृत्ति के ज्ञानात्मक, वेदनात्मक और क्रियात्मक तीन पहलुओं को पाते हैं। मूल प्रवृत्ति का कारण प्राणी के जन्मजात मानसिक संस्कार हैं। ये संस्कार परम्परागत वंशानुक्रम के अनुसार प्राणी को प्राप्त होते हैं। ये प्रधानतः क्रियात्मक हैं। किन्तु इन संस्कारों के चेतना में आने के समय ज्ञानात्मक और वेदनात्मक मनोवृत्तियाँ भी रहती हैं। मनुष्य की किसी विशेष प्रकार की क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ उसे किसी विशेष प्रकार के पदार्थ की ओर ध्यान देने के लिये प्रेरित करती हैं। जब मनुष्य इस पदार्थ की ओर ध्यान देता है, तो अच्छी या बुरी वेदना उत्पन्न होती है। अन्त में वह किसी प्रकार के कार्य में लग जाता है।

मान लीजिए, हम अँधेरे में चलते समय रास्ते में एक रस्सी का टुकड़ा देखते हैं। इस रस्सी के टुकड़े को हम अच्छी तरह से न देखने के कारण सर्प समझ लेते हैं। हमारी कल्पना में सर्प का विचार आते ही हमें भय की अनुभूति होती है। हृदय में भय के समाते ही हम रस्सी के पास से भागने की चेष्टा करते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि हमारे पुराने मानसिक संस्कार ही हमारा ध्यान रस्सी की ओर आकर्षित करते हैं। हमारे मन में प्राण-रक्षा की जन्मजात मूल प्रवृत्ति है। अतएव हम ऐसी सभी वस्तुओं को भलीभाँति देखते हैं जिनसे हमारे प्राण संकट में पड़ जाते हैं। प्राणघातक वस्तुओं को देखते ही विशेष प्रकार का उद्वेग हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है और हम भय की अनुभूति करते हैं। इस अनुभव का परिणाम यह होता है कि हम अपने प्राण बचाने के लिए भाग खड़े होते हैं।

जिस तरह प्राण-रक्षा की प्रवृत्ति प्राणी को विशेष प्रकार के ज्ञान, वेदना और क्रिया के कारण होती है, इसी तरह भोजन खोजने की अथवा उत्सुकता

---

* मेकडूगल महाशय की मूलप्रवृत्ति की व्याख्या निम्नलिखित है—
"we may therefore define instinct as an innate disposition which determines the organism to perceive or pay attention to any object of a certain class and or experience in its presence a certain emotional excitement and an impulse to action which finds expression in a specific mode of behaviour in relation to that object." An Outline of Psychology— P. 110

की प्रवृत्ति प्राणी का ध्यान विशेष प्रकार के पदार्थों की ओर आकर्षित करती है, उसे विशेष प्रकार के संवेगों की अनुभूति कराती है तथा किसी विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं का कारण बनाती है।

मैकडूगल महाशय के कथनानुसार मनुष्य के ज्ञान और क्रियाओं के विकास का मुख्य आधार मूल प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य उन्हीं वस्तुओं में रुचि दर्शाता है जो उसकी मूल प्रवृत्तियों के अनुसार होती हैं। किन्हीं-किन्हीं मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की रुचि का आधार उसका ज्ञान है और उसके ज्ञान में विशेष प्रकार का परिवर्तन करके उसकी रुचि में परिवर्तन किया जा सकता है। मैकडूगल महाशय के विचारानुसार मनुष्य की रुचि उसके ज्ञान पर निर्भर नहीं है; वरन् उसका ज्ञान उसकी रुचि पर निर्भर है और यह रुचि उसकी मूल प्रवृत्तियों के ऊपर निर्भर रहती है। इस तरह देखा जाय तो कोई भी प्राणी अपनी मूल प्रवृत्ति से कदापि स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

मूल प्रवृत्ति और सहज क्रिया में भेद

व्यवहारवादी[1] मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सहज क्रिया और मूल प्रवृत्ति में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मूल प्रवृत्तियाँ शृंखलाबद्ध सहज क्रियाएँ ही हैं। अनेक शृंखलाबद्ध सहज क्रियाएँ मूल प्रवृत्ति कहलाती हैं। ये सहज क्रियाएँ प्राणी के जीवन में वातावरण के सम्पर्क में आने से स्वयं बन जाती हैं और इनके संस्कार मन पर जम जाते हैं, जिसके कारण पहले जैसी क्रियाएँ योग्य उत्तेजनाओं की उपस्थिति होने पर घटित हो जाती हैं। सहज क्रियाएँ प्राणी के स्वभाव का अंग हैं। उत्तेजना होने पर ये अपने आप होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारी आँख में धूल चली जाय तो आँख से आँसू निकल आते हैं। आँसू निकलना, छींकना, जँभाई आना, खुजलाना आदि क्रियाएँ अपने आप होती हैं। इनमें विचार कोई काम नहीं करता। इनका नियन्त्रण अधिकतर मस्तिष्क से नहीं होता, अर्थात् इन क्रियाओं का सञ्चालन बुद्धि नहीं करती। किन्तु ये क्रियाएँ बड़ी उपयोगी होती हैं। एकाएक होनेवाली घटनाओं से इसके कारण प्राणी की आत्मरक्षा होती है। कभी-कभी विचार हमारी प्राण-रक्षा में उपयोगी न होकर बाधक बन जाता है, क्योंकि विचार, क्रिया के होने में देरी लगती है। ऐसी अवस्था में सहज क्रियाएँ बड़ी उपयोगी होती हैं।

---

1. Behaviourists.

हमारी मूल प्रवृत्तियाँ कुछ बातों में सहज क्रियाओं के सदृश अवश्य हैं, किन्तु उनमें और सहज क्रियाओं में मौलिक भेद हैं। इन भेदों की मैकडूगल महाशय ने अपनी 'आउट लाइन ऑफ साइकॉलोजी' नाम की पुस्तक में भली-भाँति दर्शाया है। सहज क्रिया और मूल प्रवृत्ति में निम्नलिखित भेद हैं—

(१) मूल प्रवृत्तियों की क्रियाएँ स्वसञ्चालित होती हैं। सहज क्रियाओं के लिए बाहरी उत्तेजना की आवश्यकता है, मूल प्रवृत्तियों को नहीं। छींक तभी आती है जब बाहरी उत्तेजना होती है, किन्तु उत्सुकता बिना बाहरी उत्तेजना के भी पैदा होती है। यदि मूल प्रवृत्ति बाहरी उत्तेजना से क्रियमाण भी हो तो वह बहुत देर तक अपने-आप काम करती है। यह सहज क्रिया में नहीं देखा जाता।

(२) मूल प्रवृत्ति के कार्य परिवर्तनशील होते हैं, सहज क्रिया के कार्य परिवर्तनशील नहीं होते, वे मशीन के समान होते हैं। जब लोमड़ी भागकर कुत्ते से अपनी जान नहीं बचा सकती तो वह मुर्दा-सी बनकर जमीन पर लेट जाती है।

(३) मूल प्रवृत्तियों के कार्य किसी विशेष लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं, जिनका ज्ञान प्राणी को होता है। इस तरह के लक्ष्य का ज्ञान सहज क्रिया में नहीं देखा जाता।

(४) मूल प्रवृत्तियों के कार्य बार-बार किये जाने से सुधरते हैं, किन्तु सहज क्रियाओं में इसका सुधार नहीं देखा जाता।

(५) मूल प्रवृत्तियों का नियन्त्रण मस्तिष्क के सूक्ष्म भाग से होता है, अर्थात् वहाँ बुद्धि कार्य करती है। सहज क्रियाओं के कार्यों में ऐसा नहीं होता।

उपर्युक्त मूल प्रवृत्ति और सहज क्रियाओं के भेदों से यह स्पष्ट है कि हम मूल प्रवृत्तियों का समावेश सहज क्रिया में नहीं कर सकते। सहज क्रियाएँ बुद्धिरहित क्रियाएँ हैं, मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में बुद्धि काम करती है।

मूल प्रवृत्ति और विचारात्मक (इच्छित) क्रियाएँ

मूल प्रवृत्ति और विचारात्मक क्रियाओं में मौलिक भेद है। मूल प्रवृत्ति के कार्य सहज क्रियाओं के समान मशीन के कामों जैसे नहीं होते, उनमें बुद्धि का कार्य होता है। किन्तु यह बुद्धि व्यक्ति के अनुभव का परिणाम नहीं है। जब पक्षी अपना घोंसला बनाता है तो वह किसी ऐसे स्थान को खोजता है, जहाँ उसके ऊपर कोई आक्रमण न कर सके तथा उसके बच्चों

को रक्षा भी होती रहे। वह दूर-दूर से ऐसे तृणों को खोजकर लाता है, जिनसे उसका घोंसला मजबूत बने। घोंसले को बनाते समय वह तृणों को इस प्रकार रखता है जिससे उसके बच्चों की हवा, पानी और धूप से रक्षा हो। इस तरह हम देखते हैं कि पक्षी अपना घोंसला बनाने में अनेक प्रकार की चतुराई दिखाता है। पक्षी का घोंसला बनाना मूल प्रवृत्ति का कार्य है। इस कार्य में हम बुद्धि का अभाव नहीं देखते, वरन् उसकी उपस्थिति देखते हैं। क्या पक्षी अपना घोंसला बनाने में इस प्रकार की चतुराई किसी विशेष प्रकार के अनुभव अथवा शिक्षा के कारण दिखलाता है? साधारण विचार से हम देख सकते हैं कि पक्षी को घोंसला बनाने की कोई शिक्षा नहीं दी जाती। उसे कोई ऐसा अनुभव नहीं, जिसके आधार पर वह अपना सुन्दर घोंसला बना सके। घोंसला बनाने में पक्षी जो कुछ कौशल प्रदर्शित करता है वह प्रकृतिदत्त है, उसके अनुभव द्वारा वह कौशल विकसित नहीं हुआ है।

विचारात्मक कार्य इससे भिन्न होते हैं। विचार का आधार अनुभव है। मनुष्य की बुद्धि का विकास उसके नये-नये अनुभवों के ऊपर आधारित रहता है। शिक्षा द्वारा मनुष्य की बुद्धि विकसित होती है। मूल प्रवृत्तियों में हम जिस बुद्धि को देखते हैं उसका विकास बड़ा ही सीमित है। मनुष्यों के कार्यों में जिस बुद्धि को हम देखते हैं उसका विकास अपरिमित है। जहाँ निम्नवर्ग के प्राणियों के जीवन का आधार उनकी मूल प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ मनुष्य के जीवन का प्रधान आधार विचारात्मक क्रियाएँ हैं। निम्नवर्ग के प्राणियों (पशु-पक्षी) के जीवन का विकास मूल प्रवृत्ति पर निर्भर है, मनुष्य के जीवन का विकास स्वकीय है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसमें आत्म निर्भरता की सम्भावना होती है। वह अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को विचार के द्वारा नियन्त्रित कर सकता है। विचारात्मक क्रियाएँ मनुष्य के मानसिक स्वातन्त्र्य को प्रकट करती हैं। ये क्रियाएँ ही आदतें बन जाती हैं, जो मूल प्रवृत्तियों के समान स्वभाव का अंग हो जाती हैं किन्तु आदतों और मूल-प्रवृत्तियों में मौलिक भेद है। मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं और आदतें अर्जित। आदतें विचार के द्वारा बनाई जाती हैं। आदतें यद्यपि मूल प्रवृत्तियों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होतीं, अर्थात् उन पर आधारित रहती हैं, तो भी वे मूल प्रवृत्तियों से भिन्न हैं। आदतें विचारात्मक क्रियाओं का कार्य अथवा परिणाम हैं। विचारात्मक क्रियाएँ स्वतन्त्र क्रियाएँ हैं, ये इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता को प्रकट करती हैं।

मूल प्रवृत्तियों के प्रकार

मैकडूगल महाशय ने मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की संख्या चौदह बताई है। इन चौदहों मूल प्रवृत्तियों में से तेरह मूल प्रवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों में भी होती हैं। चौदहवीं मूल प्रवृत्ति (हँसना) मनुष्य में ही होती है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध, जैसे ऊपर बताया जा चुका है, विशेष प्रकार के संवेग से रहता है। इन चौदह मूल प्रवृत्तियों का नाम तथा उनसे सम्बद्ध संवेग निम्नलिखित हैं—

मूल प्रवृत्ति	सम्बद्ध संवेग
१—भोजन ढूँढ़ना[1]	भूख[2]
२—भागना[3]	भय[4]
३—लड़ना[5]	क्रोध[6]
४—उत्सुकता[7]	आश्चर्य[8]
५—रचना[9]	रचनात्मक आनन्द[10]
६—संग्रह[11]	संग्रह भाव[12]
७—विकर्षण[13]	घृणा[14]
८—शरणागत होना[15]	करुणा[16]
९—काम प्रवृत्ति[17]	कामुकता[18]
१०—शिशुरक्षा[19]	स्नेह (वात्सल्य)[20]
११—दूसरों की चाह[21]	अकेलापन का भाव[22]

---

1. Food seeking instinct.
2. Appetite.
3. Instinct of flight.
4. Fear.
5. Pugnacity.
6. Anger.
7. Curiosity.
8. Wonder.
9. Construction.
10. Feeling of creativeness.
11. Hoarding instinct.
12. Feeling of possession.
13. Repulsion.
14. Disgust.
15. Appeal.
16. Distress.
17. Pairing.
18. Lust.
19. Parental instinct.
20. Love.
21. Social instinct.
22. Feeling of loneliness.

मूल प्रवृत्ति	सम्बद्ध संवेग
१२—आत्मप्रकाशन[1]	उत्साह[2]
१३—विनीतता[3]	आत्महीनता[4]
१४—हँसना[5]	प्रसन्नता[6]

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहले वर्ग की मूल प्रवृत्तियाँ आत्मरक्षा-सम्बन्धी, दूसरे वर्ग की सन्तान-सम्बन्धी और तीसरे वर्ग की समाज-सम्बन्धी होती हैं। ऊपर की सूची की पहली आठ मूल प्रवृत्तियाँ आत्मरक्षा-सम्बन्धी हैं, नवीं और दसवीं सन्तान-सम्बन्धी हैं तथा शेष समाज-सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियाँ हैं।*

ऊपर कहा गया है कि हँसना मनुष्य की विशेष मूल प्रवृत्ति है। हँसने के विषय में मनोवैज्ञानिकों के अनेक प्रकार के मत हैं। हँसना प्राणी की ज्ञान-वृद्धि का परिचायक है। मैकडूगल महाशय के कथनानुसार हँसी के द्वारा हम सामाजिक जीवनजन्य अनेक दुःखों से मुक्त होते हैं। मनुष्य स्वभावतः दूसरों से सहानुभूति रखता है। उसके सुख में सुख और दुःख में दुःख की अनुभूति करता है। हँसने के द्वारा व्यक्ति का दूसरों के साथ तादात्म्य का भाव छूट जाता है, और वह दूसरों के दुःखों से दुःखी न होकर उस दुःख से अपने आपको अलग कर लेता है। हँसी का कारण अपनी अथवा दूसरों की किसी चेष्टा की मूर्खता का ज्ञान है। यही अनुभूति हँसी के अभाव में दुःख का कारण बन जाती है। हँसी ऐसे दुःखों के प्रति मनुष्य में साक्षीभाव उत्पन्न कर देती हैं, अतएव जो मनुष्य जितना अधिक अपने तथा दूसरों के दुःखों के प्रति साक्षी-भाव रख सकता है वह उतना ही अधिक हँस सकता है। कितने ही मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हँसी प्रसन्नता को सूचित करती है। उनका कथन है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हँस सकता है। मनुष्य को अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति होती है, जो दूसरे प्राणियों को सम्भव नहीं। प्रकृति ने मनुष्य को जहाँ एक ओर अत्यन्त दुःख की अनुभूति करनेवाला

1. Assertion. 2. Elation.
3. Submission. 4. Negative self-feeling.
4. Laughter. 6. Amusement.

* भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य की इच्छाओं को तीन भागों में विभाजित किया है। इन विभागों का नाम वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा है। वित्तैषणा आत्म-रक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की प्रतीक है, पुत्रैषणा सन्तान-सम्बन्धी और लोकैषणा समान-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की प्रतीक है।

प्राणी बनाया है, वहाँ दूसरी ओर उसे दुःख को सह सकने के लिए हँसने की भी शक्ति दी है। अत्यन्त दुःख और अत्यन्त सुख की अनुभूति मानव-जीवन में ही सम्भव है। जिस प्राणी को जितनी ही सुख की सम्भावना होती है उसे उतनी ही दुःख की सम्भावना होती है।

उपर्युक्त चौदह मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन और सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं—अनुकरण, सहानुभूति और खेल। इनको मूल प्रवृत्ति कहा जाय अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। मैकडूगल महाशय के मतानुसार हमें उन्हीं प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति कहना चाहिए जिनके साथ विशेष प्रकार के संवेग का सम्बन्ध हो। उपर्युक्त तीनों मूल प्रवृत्तियों के साथ किसी विशेष संवेग का सम्बन्ध नहीं है, वरन् परिस्थिति के अनुसार उन प्रवृत्तियों के उत्तेजित होने पर भिन्न-भिन्न संवेग देखे जाते हैं। इन प्रवृत्तियों को 'सामान्य' अथवा 'जन्मजात' प्रवृत्तियाँ कहा जाता है। ये तीनों जन्मजात प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के सामाजिक जीवन के विकास में सहायक होती हैं। अतएव यदि हमें इन प्रवृत्तियों का समावेश मूल प्रवृत्तियों के किसी वर्ग में करना पड़े, तो हम इन्हें समाज-सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियाँ कहेंगे।

मूल प्रवृत्तियों का एकत्व

आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान मैकडूगल महाशय के मूल प्रवृत्तियों के उपर्युक्त विभाजन का समर्थक नहीं है। मैकडूगल महाशय के कथनानुसार प्राणी की मूल प्रवृत्तियाँ उसके मन की विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का विकास धीरे-धीरे क्रमशः हुआ है। किन्तु अब ये इतनी विकसित हो गईं कि उनकी विलक्षणता के कारण हम उनका समावेश एक दूसरी में नहीं कर सकते। भागने, लड़ने, उत्सुकता आदि की मूल प्रवृत्तियाँ एक दूसरी से इतनी भिन्न हैं कि वातावरण के सम्पर्क से उनमें कितना ही अधिक परिवर्तन क्यों न हो, वे एक दूसरे में परिणत नहीं हो सकतीं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं। मानव-जीवन सभी प्रकार की शक्तियों का समुच्चय है। इन शक्तियों के समुचित विकास में मानव-जीवन का विकास है।

मैकडूगल महाशय के उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल फ्रायड, युंग तथा उनके दूसरे अनुयायियों का सिद्धान्त है। इनके कथनानुसार प्राणी की सभी प्रकार की शक्तियों का उद्गम स्थान एक ही शक्ति है। इस शक्ति को

फ्रायड महाशय ने 'काम-शक्ति' (सेक्स) कहा है। युंग ने उसे जीवन-शक्ति (लिबिडो) कहा है। इसके पूर्व शोपनहावर महाशय ने इसे 'जीने की इच्छा' (विल टू लिव) और बर्गसन महाशय ने 'प्राण-शक्ति' (इलान वाइटल) कहा है। प्राणी की अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ उसकी एक ही प्रवृत्ति के प्रकाशन मात्र हैं, इस प्रवृत्ति को चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। यह जीवन-शक्ति अथवा जीने की इच्छा अनेक रूप से प्राणी के जीवन में प्रकाशित होती है। यह इच्छा प्राणी की भोगेच्छा है। संसार के पदार्थों में रुचि इसी इच्छा के कारण होती है। भगवान् बुद्ध ने इस इच्छा को 'तृष्णा' कहा है। जब तृष्णा को एक रूप में दबाया जाता है तो वह रूपान्तरित होकर दूसरे प्रकार से प्रकाशित होने की चेष्टा करती है। यदि मनुष्य की विशेष प्रकार की मूल प्रवृत्ति को दबाया जाय तो उस मूल प्रवृत्ति की शक्ति नष्ट न होकर रूपान्तरित हो जाती है। इस तरह मनुष्य की दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। उदाहरणार्थ, काम-प्रवृत्ति के दबाये जाने पर उससे समानता रखनेवाली कोई दूसरी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। काम-प्रवृत्ति की शक्ति का रूपान्तरण शिशु-रक्षा, दूसरों की चाह, आत्म-प्रकाशन, रचना आदि में हो जाता है, अर्थात् जहाँ काम-शक्ति का दमन होता है, वहाँ मन में किसी विशेष प्रवृत्ति की प्रबलता हो जाती है, और वह अपने प्रकाशन के समय काम-प्रवृत्ति की सञ्चित शक्ति का उपयोग कर लेती है।

मनोविश्लेषक वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से इतनी पृथक् नहीं हैं जितना कि मैकडूगल महाशय ने माना है। सभी मूल प्रवृत्तियों का प्राण एक ही शक्ति है, अर्थात् वे अपनी शक्ति एक ही स्थान से प्राप्त करती हैं। अस्तु, किसी एक विशेष प्रकार की मूल प्रवृत्ति के अत्यधिक प्रबल होने से दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियाँ निर्बल हो जाती हैं। जब कोई मूल प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल होती दिखाई दे, तो उसे उसकी विरोधी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन के द्वारा निर्बल किया जा सकता है। आत्म-रक्षा और समाज-सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियों में बहुत दूर तक आपस में विरोध होता है। अतएव यदि कोई आत्म-रक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो जाय कि जीवन-विकास के लिए हानिकारक सिद्ध हो तो उसे उसकी विरोधी प्रवृत्ति अर्थात् समाज-सम्बन्धी किसी प्रवृत्ति को प्रबल करके निर्बल किया जा सकता है। मानव-जीवन का विकास इसी तरह विभिन्न प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियों में समता रखने से होता है।

प्राकृतिक और शिष्ट जीवन

मूल प्रवृत्तियों के अनुसार जीवन का चलना प्राकृतिक जीवन है। पशुओं के जीवन का नियन्त्रण मूल प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। कितने ही विद्वानों के अनुसार प्राकृतिक जीवन ही आदर्श-जीवन है। उनके कथनानुसार मनुष्य समाज के अनेक दुःखों का कारण मनुष्य-जीवन की कृत्रिमता है। मनुष्य अपनी स्वभावजन्य इच्छाओं को प्राकृतिक रूप से प्रकाशित नहीं होने देता, वह उनका दमन करता है, अतएव इच्छाएँ उसके जीवन में अनेक प्रकार की जटिल समस्याएँ उत्पन्न करती हैं। जब प्राकृतिक इच्छाओं का दमन किया जाता है, तो वे मनुष्य के अदृश्य मन में चली जाती हैं, और वहाँ रहकर मनुष्य की चेतना के प्रति अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचा करती हैं। इन इच्छाओं के षड्यन्त्रों के परिणामस्वरूप मनुष्य-जीवन में अनेक प्रकार की विषमता उत्पन्न होती है। उसकी मानसिक क्लान्ति का प्रधान कारण उसका अप्राकृतिक जीवन अर्थात् उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का दमन है। इन इच्छाओं के दमन के कारण ही मनुष्य में पापाचार की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है, तथा अनेक प्रकार के व्यक्तित्व विच्छेद उत्पन्न होते हैं। अतएव कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि यदि मनुष्य सभ्यता-जनित कृत्रिमता को छोड़कर प्राकृतिक जीवन में रहने लगे तो उसके अनेक प्रकार के मानसिक क्लेशों का अन्त हो जाय। इस प्रकार का विचार संस्कृति और सभ्यता को दुःखमूलक मानता है। रूसो महाशय का कथन है कि मनुष्य स्वतः तो भला है पर समाज उसे बुरा बनाता है। सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता है, वैसे-वैसे मनुष्य अपनी दैविक विभूतियों को खोता है और राक्षस बन जाता है। यदि मनुष्य को समाज के कुप्रभाव से अलग रक्खा जाय तो उसका जीवन सुखी और दैविक हो। फ्रायड महाशय तथा उनके कुछ अनुयायी मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना मनुष्य के सुख के लिए अहितकर प्रमाणित करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य का स्वास्थ्य उसके जीवन की प्राकृतिकता पर निर्भर है। मनुष्य जीवन में जितनी कृत्रिमता बढ़ती है, उतना ही अधिक मानसिक तथा शारीरिक बीमारियों की वृद्धि होती है। इस शिक्षा के अनुयायी कितने ही लोग समाज द्वारा नियत नैतिकता के प्रतिबन्धों को तोड़ना परम पुरुषार्थ मान लेते हैं। समाज मनुष्य की कामवासना की तृप्ति में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है, इन प्रतिबन्धों के प्रतिकूल आचरण करना प्रगतिशीलता मानी

जाती है। आजकल का बहुत कुछ प्रगतिवादी साहित्य इसी आदर्श को लेकर समाज में ऐसे भावों का प्रचार करता है जिससे नैतिकता के प्रतिबन्ध शिथिल हों और मनुष्य को अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति में हिचक न हो।

उपर्युक्त विचारों के प्रभाव के प्रति संसार के गम्भीर लेखक सचेत हो गये हैं। यदि इन विचारों का प्रचार स्वच्छन्दतापूर्वक होने दिया जाय तो मानव-समाज निश्चय ही पशुओं की बर्बर अवस्था में पहुँच जायगा। पशु-जीवन में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव रहता है, क्योंकि उनका जीवन पूर्णतः प्राकृतिक जीवन है। पशु अपनी इच्छाओं के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं करता। अतएव उसके मन में किसी प्रकार की ग्रन्थियाँ नहीं होतीं। किन्तु क्या पशुओं का जीवन आदर्श-जीवन है? मनुष्य का पशुओं के जीवन को आदर्श-जीवन मान बैठना उसके विवेक के अभाव का सूचक है। इसमें उसकी बुद्धिमानी नहीं वरन् उसकी बुद्धि का ह्रास पाया जाता है। पशु विचार-शक्ति से काम नहीं लेते। उनमें यह शक्ति होती ही नहीं। अतएव जिस ओर प्रकृति उन्हें ले जाती है उसी ओर वे जाते हैं। विचार मानव-जीवन की विशेषता है। मनुष्य चिन्ताशील प्राणी है। यदि वह विचार-शक्ति का उचित उपयोग नहीं करता तो वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। इस विचार-शक्ति का सबसे मौलिक उपयोग आत्म-नियन्त्रण में पाया जाता है, अर्थात् मनुष्य विचार के द्वारा अपनी प्राकृतिक इच्छाओं को नियन्त्रण में रखता है, उन्हें मनमानी नहीं करने देता। विचार का विकास भी प्राकृतिक इच्छाओं के नियन्त्रण से होता है। विचार के ही कारण मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। वह विचार के कारण ही दूसरे प्राणियों पर नियन्त्रण रख सकता है। यदि मनुष्य अपने जीवन को मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही सञ्चालित होने दे तो उसके विचार का विकास न होगा और पशुओं के समान असहाय प्राणी हो जायगा। जिस मनुष्य-समाज में प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर जितना नियन्त्रण रखा जाता है उसमें विचार उतना ही अधिक विकसित पाया जाता है तथा उक्त समाज दूसरे समाजों की अपेक्षा उतना ही सबल होता है। इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों को विवेक के नियन्त्रण में रखना मनुष्य के जीवन के ह्रास का कारण नहीं, उनके जीवन के विकास का कारण है। इससे दुःख ही नहीं, सुख की वृद्धि होती है।

मनुष्य और पशु-जीवन में एक ऐसी विषमता है जिसके कारण मनुष्य

यदि वह चाहे तो भी, पूर्णतः पशुओं जैसा प्राकृतिक जीवन नहीं बना सकता। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ दो बातों में पशुओं की मूल प्रवृत्तियों से भिन्न हैं। उनके प्रकाशन का प्रकार पशुओं की मूल प्रवृत्तियों जैसा निश्चित नहीं रहता, दूसरे वे पशुओं की मूल प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के प्रकाशन की अनिश्चितता ने उसको पशु की अपेक्षा जन्म से अधिक असहाय प्राणी बनाया है। एक मुर्गी का बच्चा अण्डे से बाहर निकलते ही भोजन की खोज करने लगता है। उसे भोजन खोजने की शिक्षा माता से पाने की आवश्यकता नहीं; किन्तु मनुष्य के बच्चे के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। नवजात शिशु के मुँह में जब तक माता स्तन न डालें, वह दूध नहीं पी सकता। पक्षियों को घोंसला बनाना कोई नहीं सिखाता। जब घोंसला बनाने का समय आता है, प्रत्येक पक्षी बिना किसी पक्षी से शिक्षा पाये ही सुरक्षित स्थान में अपना घोंसला बनाने लगता है। किन्तु मनुष्य को जब तक मकान बनाने की शिक्षा न दी जाय, वह मकान नहीं बना सकता। तोता जन्म से अकेला पाले जाने पर तोते की ही बोली बोलता है, परन्तु मनुष्य के बालक के सम्बन्ध में यह बात सत्य नहीं है। बिना शिक्षा पाये वह सार्थक शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता *। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य का जीना और उसके जीवन का विकास सर्वथा दूसरे पर निर्भर रहता है।

जहाँ प्रकृति ने मनुष्य को जन्म से सबसे अधिक असहाय प्राणी बनाया

---

* वेलजियम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इटार्ड महाशय को एक ऐसा बालक मिला, जिसे एक मादा भेड़िया पालने से उठा ले गई थी। इस भेड़िये ने अपना दूध पिलाकर इस बालक को पाला। पीछे वह उस भेड़िये के साथ रहने लगा। जिस समय वह मनुष्य द्वारा पकड़ा गया उस समय उसकी उम्र लगभग ८ वर्ष की थी। वह इस समय अपने हाथ-पैर से चौपायों के समान चलता था। वह चीं चीं की आवाज के सिवा और कुछ नहीं बोल सकता था। उसे बड़ी कठिनाई से मनुष्य की भाषा सिखाई गई। उसकी बुद्धि का विकास भी बहुत ही धीरे-धीरे हुआ। (बेंजामिन डम्भिल—ग्राउण्ड वर्क आफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ १०७)

कहा जाता है कि नैपोलियन ने मनुष्य का 'प्राकृतिक धर्म' जानने के लिए कुछ बच्चों को एक वर्ष की अवस्था से ही समाज से बिलकुल अलग रक्खा। किसी को उनसे बोलने नहीं दिया जाता था। इसके परिणाम स्वरूप कितने ही बालक तो गूँगे हो गये और बुद्धि सभी बालकों की कुण्ठित हो गई। जिसके कारण पीछे भी उनको शिक्षित होना कठिन हो गया।

है, वहाँ उसने उसे योग्यता भी दी है कि वह अपने जन्मजात स्वभाव में परिवर्तन करके प्रकृति का सर्वोच्च प्राणी बन जाय। उसकी मूल प्रवृत्तियाँ जितनी परिवर्तनशील हैं, दूसरे प्राणियों की नहीं हैं। मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों में अनुभव और विचार के द्वारा परिवर्तन करता है। वह समाज के दूसरे व्यक्तियों से अपने सुखों के साधनों को प्राप्त करना सीखता है। उचित और अनुचित व्यवहार वह दूसरों के आचरण देखकर ही जानता है। जिस तरह से दूसरे लोग अपने जीवन को सफल बनाते हैं, वह भी उसी तरह अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करता है। उसे समाज में रहना है अतएव उसे अपना आचरण ऐसा बनाना पड़ता है, जिससे समाज के लोग उससे रुष्ट न हों। समाज प्रत्येक व्यक्ति के सुख की चिन्ता करता है, व्यक्ति अपने आपके सुख की चिन्ता करता है। यदि व्यक्ति सामाजिक नियमों को न माने तो समाज में किसी तरह का संगठन न रहे, और एक व्यक्ति दूसरे के विनाश के लिए उतारू हो जाय। समाज मनुष्य को आत्म-निर्णय सिखाता है, जिसके कारण वह अपने आपको दूसरों का प्रिय बनाने में समर्थ होता है। जहाँ सामाजिक जीवन के कारण मनुष्य की कुछ इच्छाओं का दमन होता है। वहाँ उसके जीवन का विकास भी समाज के कारण ही होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य को अपनी कृत्रिमता छोड़ना न वाञ्छनीय है और न सम्भव। प्राकृतिक जीवन पशुओं का जीवन है और उस जीवन में पशु ही रह सकते हैं। मानव-जीवन विचारमय जीवन है। विचार और विवेक को त्याग कर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। मानव-जीवन में जो कुछ कृत्रिमता है वह उसके विचार के कारण आई है। विचार ही उसकी प्राकृत इच्छाओं का नियन्त्रण करता है, और वही व्यवहारों के औचित्य और अनौचित्य को स्थिर करता है। मनुष्य का पशु-जीवन को अपने आचरण का माप मानना उसकी बुद्धि का ह्रास दर्शाता है। वास्तव में जो जीवन पशु-स्वभाव के लिए प्राकृतिक है वही जीवन मानव-स्वभाव के लिए अप्राकृतिक है। मनुष्य में सभ्यता तथा शिष्टता का होना ऐसा ही स्वाभाविक है जैसा कि पशु-जीवन में उनका अभाव।

उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि अपने जीवन को विकसित करने के लिए मनुष्य अपने-आपको मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही नियन्त्रित न होने दे। मनुष्य को अपने जन्मजात स्वभाव में विचार द्वारा परिवर्तन करना आवश्यक है।

मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन*

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों की मूल प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। सभ्यता का विकास मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के समुचित परिवर्तन पर निर्भर है। यह परिवर्तन व्यक्ति के बचपन से ही होने लगता है। मूल प्रवृत्तियों में निम्नलिखित चार प्रकार से परिवर्तन होते हैं—

(१) प्रदान[1],
(२) विलियन[2],
(३) मार्गान्तरीकरण[3],
(४) शोध[4],

दमन—प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का बल उसके बराबर प्रकाश होने से बढ़ता है। जब किसी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन में कोई नियंत्रण नहीं रखा जाता, तो वह मनुष्य के लिए लाभकारी न बनकर हानिकारी हो जाती है। उदाहरणार्थ, संग्रह की प्रवृत्ति को लीजिए। यह प्रवृत्ति यदि परिमित मात्रा में रहे तो उससे मनुष्य के जीवन की रक्षा तथा उसका विकास होता है। किन्तु जब यह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, तो कृपणता और चोरी का रूप धारण कर लेती है। इसी तरह द्वन्द्व की प्रवृत्ति मनुष्य की प्राणरक्षा के लिए उपयोगी है, किन्तु उसके बार-बार प्रकाशित होने से उसका बल इतना अधिक बढ़ सकता है कि वह मनुष्य की रक्षा न कर उसके विनाश का कारण बन सकती है। द्वन्द्व प्रवृत्ति के साथ-साथ क्रोध की अनुभूति होती है। यह संवेग ध्वंसात्मक है। इसके बार-बार प्रकाशन से एक ओर मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्ति का ह्रास होता है और दूसरी ओर वह समाज में अपने अनेक शत्रु पैदा कर लेता है, जिससे कि उसके दुःखों की सृष्टि बढ़ जाती है। कामप्रवृत्ति के विषय में भी यही सत्य है। विवेक से यदि काम-प्रवृत्ति का नियन्त्रण न किया जाय तो मानव-समाज का संगठन सम्भव ही न हो। समाज की वर्तमान अवस्था में तो बिना काम-प्रवृत्ति के समुचित दमन के मनुष्य का समाज में रहना सम्भव ही नहीं है।

दूसरे प्राणियों के सदृश मनुष्य की कामेच्छा का नियन्त्रण प्रकृति नहीं करती। दूसरे प्राणियों में किसी विशेष समय पर ही कामोत्तेजना होती है,

---

* Modification of Instincts.

1. Repression. 2. Inhibition. 3. Redirection. 4. Sublimation.

पर मनुष्य के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। यदि विवेक द्वारा कामेच्छा का नियन्त्रण न किया जाय तो मनुष्य अति विषय-भोग के कारण एक ओर समाज में अपना जीवन घृणित बना ले, और दूसरी ओर वह थोड़े ही काल में अनेक रोगों से ग्रसित होकर अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर दे। अतएव अपने जीवन को उपयोगी बनाने के लिए मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रवृत्तियों का समय-समय पर दमन करता रहे और उन्हें अपने नियन्त्रण में रखे। व्यक्तित्व के विकास के लिए मूल प्रवृत्तियों का दमन उतना ही आवश्यक है जितना उनका प्रकाशन।

मूलप्रवृत्तियों का दमन विचार के द्वारा होता है। अतएव इस प्रकार का कार्य मानव-जीवन में ही सम्भव है। यह मानव-जीवन की विशेषता है। इस दमन के अनेक दुष्परिणाम भी होते हैं। जब मनुष्य की किसी मूल-प्रवृत्ति का दमन अपने विवेक के द्वारा नहीं होता, वरन् उसे कोई दूसरा व्यक्ति अथवा समाज करता है तो उसके मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण मनुष्य एक ओर अन्त-र्द्वन्द्व से दुःखी रहता है और दूसरी ओर वह रोगी, अपराधी अथवा पागल हो जाता है। आधुनिक चित्तविश्लेषण विज्ञान ने अनेक ऐसे मानसिक और शारीरिक रोगों का पता चलाया है, जिनका मूल कारण मनुष्य की किसी प्रबल वासना का दमन है।

विवेक के द्वारा किया गया मूल प्रवृत्तियों का दमन उचित है। किसी बाह्य सत्ता द्वारा किया गया दमन मानव-जीवन के विकास के लिए हानि-कारक होता है। अपने बचपन में प्रत्येक व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तिजनित इच्छाओं का दमन होता है। उसके परिणामस्वरूप मानव जीवन सुविकसित नहीं हो पाता, वह अधूरा ही रह जाता है; क्योंकि दमन की गई इच्छा नष्ट नहीं होती, वरन् व्यक्ति के मनोविकास में बाधक बन जाती है। अतएव हम जितने ही बालकों को अपनी साधारण इच्छाओं की तृप्ति में सुविधाएँ देते हैं उनके जीवन-विकास में उतनी ही सहायता करते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि बालक को इस प्रकार की स्वतन्त्रता देना उसके जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। इससे बालक कुछ भूलों के पश्चात् सदाचारी बन जाता है।*

* लार्ड लिटन का निम्नलिखित कथन इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है—

It is impossible to spoil a child psychically by satisfying its sensation of pleasures but very easy to do so by

किन्तु, हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मानव-जीवन का विकास विचार और विवेक की वृद्धि से होता है। हम जहाँ तक इनकी शक्ति बढ़ाते हैं, मानव-जीवन को सुविकसित करते हैं। इनकी शक्ति की वृद्धि मूल प्रवृत्ति-जन्य इच्छाओं के नियन्त्रण से होती है। अतएव आत्म-नियन्त्रण में प्रोत्साहन देना मानसिक शक्तियों के लिए परमावश्यक है।

मनुष्य में आत्म-नियन्त्रण की शक्ति धीरे-धीरे आती है। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता है और उसमें आगे-पीछे सोचने की शक्ति आती है, उसमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति भी आती है। आत्म-नियन्त्रण की योग्यता अपनी भोगेच्छाओं के एकाएक दमन से नहीं प्राप्त होती। यहाँ मध्यम मार्ग का अनुसरण करना ही लाभदायक होता है। भोगेच्छाओं का अत्यधिक दमन एक ऐसी प्रतिक्रिया को पैदा करता है जिसके कारण मनुष्य की चेतना अस्त-व्यस्त हो जाती है, और वह बिल्कुल आत्म-नियन्त्रण को खो देता है*।

repressing them. The desire when satisfied will grow into a higher spiritual need; if repressed it becomes fixed in the stage in which it was repressed with ill effects through life—New Treasure p. 128

अर्थात् बच्चे के स्वभाव को उसकी सुख की इच्छाओं को तृप्त करके बिगाड़ना असम्भव है, किन्तु उन्हें दमन करके उसे बिगाड़ना सरल है। जब कोई भोगेच्छा तृप्त हो जाती है, तो वह विकसित होकर आध्यात्मिक सुख की इच्छा में परिणत हो जाती है, किन्तु जब उसका दमन होता है, अर्थात् जब उसकी तृप्ति के लिए कोई मार्ग नहीं रहता तो वह जिस अवस्था की इच्छा होती है, उसी अवस्था की इच्छा के रूप में प्रौढ़ जीवन में भी बना रहता है, जिसके बुरे परिणाम व्यक्ति के जीवन में होते हैं।

*कृष्ण भगवान् का गीता में किया हुआ निम्नलिखित उपदेश उक्त मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रदर्शित करता है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ । अ० ६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ । अ० ६ ॥

अर्थात् मानसिक उपराम की प्राप्ति न अत्यधिक भोजन करने से और न अत्यधिक भूख रहने से, न अधिक सोने से और न अधिक जागने से होती है। वह मानसिक स्थिति आहार-विहार, काम करने की चेष्टा, सोने और जागने के ठीक नियन्त्रण से ही प्राप्त होती है जो दुःख का विनाशक है।

विलियन[1]—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलियन है। यह दो प्रकार से हो सकता है, एक निरोध द्वारा, अर्थात् प्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर न देने से और दूसरा विरोध द्वारा, अर्थात् जिस समय एक प्रवृत्ति कार्य कर रही हो उसी समय उसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति को उत्तेजित करने से। जब मनुष्य घर-द्वार छोड़ कर जंगल में चला जाता है तो उसकी बहुत सी प्रवृत्तियाँ उत्तेजना के अभाव में प्रकाशित न होने के कारण निर्बल हो जाती हैं। प्राचीन भारतवर्ष में बालकों को शिक्षा के समय गुरुकुल में रखा जाता था। गुरुकुल के जीवन में बालक की उन अनेक प्रवृत्तियों को उत्तेजित होने का अवसर नहीं मिलता था, जो उसकी शिक्षा में बाधा डालें। गुरुकुल में ही ब्रह्मचर्य-जीवन संभव है, हमारे आधुनिक छात्रावासों में नहीं। क्योंकि गुरुकुल में काम-प्रवृत्ति के निरोध का वातावरण उपस्थित रहता है और इस तरह प्रवृत्ति का विलियन हो जाता है।

विलियम् जेम्स महाशय का कथन है कि यदि किसी प्रवृत्ति को अधिक काल तक प्रकाशित होने का अवसर न मिले तो वह नष्ट हो जाती है। उनके इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। यदि कोई मूल प्रवृत्ति उसके प्रकाशन न होने से सर्वथा नष्ट नहीं होती, तो इतना तो निश्चित ही है कि वह निर्बल हो जाती है। हम देखते हैं कि समाज के जिस वर्ग के लोगों को किसी विशेष प्रकार के कार्य करने का अवसर नहीं मिलता, उनमें उस कार्य के करने की क्षमता घट जाती है। जिस तरह अनभ्यास से जीवन में प्राप्त की गई योग्यताएँ घट जाती हैं, इसी तरह अनभ्यास से मूल प्रवृत्तियाँ भी निर्बल हो जाती हैं।

दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों के एक साथ उभड़ने से दोनों का बल घट जाता है। इस तरह दोनों के प्रकाशन की रीति में अन्तर हो जाता है, अथवा दोनों शान्त हो जाती हैं। द्वन्द्व प्रवृत्ति के उभड़ने पर यदि सहानुभूति, खेल आदि की प्रवृत्तियाँ उभाड़ दी जायँ तो द्वन्द्व प्रवृत्ति का बल कम हो जाय। इसी तरह काम-प्रवृत्ति के बल की कमी विकर्षण की प्रवृत्ति के उभाड़ने से की जा सकती है। भय और क्रोध भी काम-भावना के विरोधी हैं।

मार्गान्तरीकरण[2]—मूल प्रवृत्ति के परिवर्तन का तीसरा उपाय मार्गान्तरीकरण है। यह उपाय दमन और विलियन के उपाय से श्रेष्ठ है। मूल प्रवृत्ति के दमन से जो मानसिक शक्ति सञ्चित होती है, जब तक उसका कोई सदुपयोग न किया जाय वह हानिकारक सिद्ध हो सकती है। प्रत्येक

---

1. Inhibition. 2. Redirection.

मनुष्य में संग्रह की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण ऐसे कार्यों में किया जा सकता है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का लाभ हो। यदि कोई मनुष्य बहुत सी पुस्तकों का संग्रह अपने और दूसरों के उपयोग के लिए करता है तो वह कोई निन्दनीय कार्य नहीं करता। इस प्रवृत्ति के सदुपयोग द्वारा ही पारिवारिक जीवन सफल हो सकता है। इसके अधिक शिथिल होने पर मनुष्य किसी उपयोगी वस्तु को ठीक से नहीं रख सकता। मनुष्य अपनी द्वन्द्व प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण करके उसका उपयोग देश और जाति की रक्षा के लिए कर सकता है।

शोध[1]—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का चौथा उपाय शोध है। जो प्रवृत्ति अपने अपरिवर्तित रूप में निन्दनीय कार्यों में प्रकाशित होती है, वही शोधित रूप में प्रकाशित होने पर सराहनीय हो जाती है। वास्तव में मूल प्रवृत्ति का शोध उसका एक प्रकार से मार्गान्तरीकरण ही है। यह शब्द डाक्टर फ्रायड ने पहले-पहल काम-प्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण के प्रसंग में प्रयोग किया था। अतएव यह कहना भूल न होगा कि काम-प्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण को ही शोध कहा जाता है। पर शोध शब्द अब एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। मार्गान्तरीकरण होने पर मूल प्रवृत्ति के साधारण स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। वह जैसी की तैसी रहकर समाजोपयोगी कार्यों में प्रयुक्त होती है, पर मूल प्रवृत्ति का शोध होने पर उसका स्वरूप बदल जाता है। कीचड़ का कमल के रूप में और मल का इत्र के रूप में परिणित होना उसका शोध है। सभ्यता का विकास मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के शोध का फल है।

मानसिक शक्ति का प्रवाह

मूल प्रवृत्तियाँ मानसिक शक्ति के प्रवाह के नैसर्गिक मार्ग हैं। हम मानसिक शक्ति के प्रवाह की तुलना जल के प्रवाह से कर सकते हैं। जिस प्रकार धरातल के भीतर वर्तमान जलधारा किसी पहाड़ पर झरने के रूप में उद्भूत होकर समुद्र की ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति भी हमारे अचेतन मन से मूल प्रवृत्तियों के रूप में निकलकर अनेक विषय-भोगों की प्राप्ति में लगती है। झरना पहाड़ से निकलकर नदी का रूप धारण कर लेता है। यदि नदी को अपने नैसर्गिक मार्ग से बहने दिया जाय, उसमें किसी प्रकार की छेड़-छाड़ न की जाय, तो वह उतनी उपयोगी सिद्ध न होगी जितनी बाँध बाँधने के बाद सिद्ध होती है। यदि नदी में कोई असाधारण काम लेना है तो उसके प्रवाह को

1. Sublimation.

रोकना आवश्यक है। बाँध बाँधे जाने से नदी का जल अधिक परिमाण में एक जगह एकत्रित हो जाता है। यह जल एक नहर के द्वारा मैदान के खेतों में पहुँचाया जा सकता है। अथवा उससे बिजली उत्पन्न करके मशीन का काम लिया जा सकता है, मानसिक शक्ति के इस प्रकार के अवरोध से मनुष्य के व्यक्तित्व का अनेक प्रकार से विकास होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास मानसिक शक्ति के प्रवाह के मार्गान्तरीकरण और उसके शोध से होता है। किन्तु जब तक इस शक्ति के नैसर्गिक प्रवाह में रुकावट न डाली जाय, तब तक उस शक्ति का मार्गान्तरीकरण और शोध सम्भव नहीं।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का दमन हो, अर्थात् वह अपने मन को इस प्रकार संयमित करे कि जिस ओर उसका मन स्वभावतः जाता है, उसे एकाएक उस ओर न जाने दे। वह किसी भी क्रिया के करने में प्रतिक्षण विवेक से काम ले। जैसे-जैसे मनुष्य में अपने-आपको रोकने की शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसका चरित्र-बल बढ़ता जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की शक्ति, मूल प्रवृत्तियों को अपने नैसर्गिक मार्ग से प्रवाहित होने देने में नहीं है, वरन् उसके अवरोध में है। पशु और मनुष्य में भेद इतना ही है कि जहाँ पशु में मूल प्रवृत्तियों के प्रतिकूल कार्य करने की शक्ति नहीं होती, मनुष्य में यह शक्ति होती है। धर्माचरण मानव जीवन में ही सम्भव है, पशु-जीवन में नहीं।* सब प्राणी प्रकृतिदत्त स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं। मनुष्य इसके प्रतिकूल भी आचरण करता है। वह अपनी चेतना के द्वारा एक नये स्वभाव का निर्माण करता है। वह चाहे तो अपने-आपको मानव-जीवन की उच्चतम कोटि तक ले जा सकता है, अथवा पशु-जीवन से भी नीचे अपने को गिरा सकता है। मनुष्य अपने विचार और विवेक के कारण ही दूसरे प्राणियों से विलक्षण प्राणी है। इनके कारण वह आत्म-स्वातन्त्र्य की अनुभूति करता है। वह इनके कारण बाह्य प्रकृति पर ही विजय प्राप्त नहीं करता, वरन् अपने आप पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वह अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन, विलियन, मार्गान्तरीकरण और शोध कर लेता है।

मूल प्रवृत्तियों के अवरोध से जहाँ सभी प्रकार के सद्गुणों का विकास होता

---

* विष्णु शर्मा का निम्नलिखित वाक्य इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—
आहार निद्रा भय मैथुनं च समान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मेण तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

है, वहाँ यह भी सत्य है कि उनके अवरोध से मनुष्य में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग तथा दुराचरण के भाव उत्पन्न होते हैं। फ्रायड महाशय ने मूल प्रवृत्तियों (विशेषकर काम-प्रवृत्ति) के अवरोध के दुष्परिणामों का विशेष रूप से वर्णन किया है। फ्रायड महाशय का कथन है कि मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक रोगों का कारण कामवासना का दमन है। यदि कामवासना का दमन न किया जाय, तो मनुष्य स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सके। जितना ही अधिक सभ्यता का विकास होता है, कामवासना का दमन अधिक होता है। सभ्य मनुष्य वैवाहित जीवन व्यतीत करता है, अर्थात् वह एक ही व्यक्ति को अपनी कामतृप्ति का आश्रय बनाता है। किन्तु उसका आन्तरिक मन कई व्यक्तियों के साथ रमण करना चाहता है। उसके इस रमण में बाधा पड़ने के कारण उसके मन में मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। जिस समाज में जितनी ही अधिक भोगेच्छा की तृप्ति में स्वतन्त्रता होगी, उसमें उतना ही कम मानसिक क्लेश और विक्षिप्तता होगी। फ्रायड महाशय का विचार है कि नैतिक-भावना जो समाज-सम्पर्क से उत्पन्न होती है, मनुष्य के सुख को नहीं बढ़ाती, वह उस के दुःख को बढ़ाती है। मानसिक शान्ति के लिए नैतिक भावना का शिथिल होना आवश्यक है।

फ्रायड महाशय के उक्त सिद्धान्त को सत्य मानकर बहुत से व्यक्ति अपनी नैतिक भावनाओं को अपना शत्रु मान बैठते हैं, और उसके मुक्त होने की चेष्टा करने लगते हैं। इस तरह वे विवाह के बिना कामवासना की तृप्ति का औचित्य सिद्ध करने लगते हैं। विवाह एक प्रकार का बन्धन है। इस बन्धन से यदि मनुष्य का सुख न बढ़कर दुःख बढ़ता है, तो उसे ऐसे बन्धन में पड़ने से लाभ ही क्या ? जिस मनुष्य को जिस व्यक्ति के साथ जिस समय प्रेम हो, उसे उसके साथ उस समय कामेच्छा की तृप्ति करना उचित है। जितने दिन तक इस प्रेम का निर्वाह होता है, अर्थात् जितने दिन तक वे एक दूसरे के सुख के साधन हैं, उतने दिन तक वे एक साथ जीवन व्यतीत करें। पीछे जब उनकी इच्छा हो, एक दूसरे का साथ छोड़ दें। बरट्रेन्ड रसल महाशय जो एक "प्रगतिशील" विचार-धारा के नेता माने जाते हैं, विवाह अनावश्यकता का प्रचार कर रहे हैं। संसार का सभी प्रगतिशील नामधारी साहित्य फ्रायड और रसल के उक्त मतों से रञ्जित है। मनुष्य को सामाजिक शृङ्खलाओं से मुक्त करना, उसकी नैतिक भावनाओं को शिथिल करना, उसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भोगेच्छाओं की तृप्ति में प्रोत्साहन देना, धार्मिक जीवन को व्यर्थ सिद्ध

करना—यही प्रगतिशील कहे जानेवाले साहित्य के परम उद्देश्य हैं। "प्रगतिशील" साहित्य उस समाज का निर्माण करना चाहता है; जिसमें मनुष्य को अपनी भोगेच्छाओं की तृप्ति के लिए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिले।

नैतिक भावना के शिथिल होने पर समाज कहाँ से कहाँ जायगा, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसके शिथिल होने से मनुष्य की मानसिक उलझनों के कम होने की कोई सम्भावना नहीं है अपितु वे और बढ़ेंगी। मनुष्य की भोगेच्छाएँ असीम हैं, और भोग्य पदार्थ सीमित हैं। यदि मनुष्य अपनी इच्छाओं का स्वयं संयम न करे, तो समाज में एक ओर बड़ा कलह उत्पन्न हो जाय और दूसरी ओर उसके मन में क्रोध और ईर्ष्या के कारण असह्य स्थिति उत्पन्न हो जाय। नैतिक भावना द्वारा भोगेच्छा के दमन से जितने जटिल मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं, उससे कहीं अधिक जटिल रोग ईर्ष्या और द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, जो उन इच्छाओं के अनियमित रहने के कारण पैदा होते हैं। मानसिक सुख और शान्ति मनुष्य अपने मन में मैत्रीभावना की वृद्धि से ही प्राप्त कर सकता है। अमैत्री-भावना दुःखमूलक है। मैत्री-भावना की वृद्धि के लिए अधिकाधिक आत्मसंयम आवश्यक है। भोगमय जीवन का अन्तिम परिणाम अमैत्री-भावना और मानसिक क्लेश की वृद्धि है।

इस तरह हम देखते हैं कि नैसर्गिक जीवन मानवता का विनाशक है। नसर्गिकता के आधार पर न तो वैयक्तिक सुख की प्राप्ति हो सकती है और न सामाजिक शान्ति की। जिस प्रकार का जीवन पशुओं के लिए हितकर है, वही जीवन मनुष्य के लिए प्राणघातक है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसकी मूल प्रवृत्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने देने में नहीं है, वरन् उनका योग्य परिवर्तन में है।

प्रश्न

१—मूल प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है? उदाहरण देकर समझाइए।

२—क्या मूल प्रवृत्तियों को "शृङ्खलाबद्ध सहज क्रियाएँ" कहा जा सकता है? युक्ति-सहित अपने मत को स्पष्ट कीजिए।

३—सहज क्रिया और मूल प्रवृत्तियों के भेद उदाहरण देकर समझाइए।

४—मूल प्रवृत्ति और आदत में क्या भेद है? मूल प्रवृत्ति में बुद्धि का कार्य कहाँ तक रहता है?

५—"मनुष्य विवेकशील प्राणी है"—इस मत का जहाँ तक मनुष्य-स्वभाव का मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्ध है, अर्थ स्पष्ट कीजिए।

६—मनुष्य की प्रधान मूल प्रवृत्तियाँ कौन-कौन-सी हैं ? इनका वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है ?

७—"मनुष्य की कोई मूल प्रवृत्ति नहीं है"—इस मत में कहाँ तक सत्यता है, स्पष्ट कीजिए।

८—मनुष्य और अन्य प्राणियों की मूल प्रवृत्तियों में मुख्य भेद क्या-क्या हैं ? उदाहरण देकर समझाइए।

९—"प्राकृतिक जीवन ही आदर्श-जीवन है"—इस सिद्धांत की समालोचना कीजिए।

१०—मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ किस प्रकार परिवर्तित होती हैं ? इस प्रकार का परिवर्तन मनुष्य के लिए कहाँ तक लाभकारी है ?

११—"बच्चे के स्वभाव को उसकी सुख की इच्छाओं को तृप्त करके बिगाड़ना असम्भव है; किन्तु उन्हें दमन करके उसे बिगाड़ना सरल है"—इस सिद्धान्त की मौलिकता दर्शाइए। इसके अनुसार मानव-जीवन के विकास के लिए योग्य मार्ग क्या हो सकता है ?

१२—मूल प्रवृत्तियों के दमन और मार्गान्तरीकरण में क्या भेद है ? वे कहाँ तक एक दूसरे के सहायक हैं और कहाँ तक मनोविकास के लिए आवश्यक हैं ?

१३—मूल प्रवृत्तियों का शोध किस तरह किया जा सकता है; इस शोध के परिणाम क्या हैं ?

———

छठा प्रकरण

सीखना[1]

सीखने की महत्ता

सीखना प्राणी की वह क्रिया है जिसके द्वारा उसकी कार्य करने की जन्मजात प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता है। सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों में ऐसा परिवर्तन, जो प्राणी को अपने जीवन में अधिक सफल बना दे, सीखने के द्वारा होता है। प्राणियों की मानसिक शक्तियों का विकास सीखने के द्वारा ही होता है। सीखने के द्वारा प्राणी अपने पूर्व अनुभव से लाभ उठाता है। प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ अपने जीवन में सीखता है। जिस प्राणी में जितनी अधिक सीखने की शक्ति होती है, उसका जीवन उतना ही अधिक विकसित होता है। कीड़े-मकोड़ों की अपेक्षा पक्षियों में सीखने की शक्ति अधिक होती है और पक्षियों की अपेक्षा चौपायों में। इसी तरह चौपायों की अपेक्षा मनुष्य में सीखने की शक्ति अधिक होती है। अतएव जितना विकसित जीवन पक्षियों का होता है, कीड़े-मकोड़ों का नहीं हो सकता और जितना चौपायों का होता है, पक्षियों का नहीं हो सकता। इसी तरह मनुष्य की बराबरी कोई अन्य प्राणी नहीं कर सकता। मनुष्य के नीचे वर्ग के प्राणियों के जीवन में उनके अधिक उपयोगी कार्यों में प्रायः मूल प्रवृत्तियाँ ही अधिक काम करती हैं। मनुष्य के जीवन में सीखने के द्वारा मूल प्रवृत्तियाँ इतनी परिवर्तित हो जाती हैं कि मनुष्य के व्यवहारों में उनका पता लगाना भी कठिन हो जाता है। जिस प्रकार निम्नवर्ग के प्राणी में मूल प्रवृत्ति द्वारा सञ्चालित कार्यों की प्रधानता रहती है, इसी तरह मानव-जीवन में आदतों द्वारा सञ्चालित कार्यों की प्रधानता रहती है, आदत सीखी हुई प्रतिक्रिया[2] का नाम है। आदत पुराने अनुभव से लाभ उठाने का परिणाम है। मनुष्य के अनुभव का विकास और नये काम करने की योग्यता सीखने से आती है।

---

1. Learning. 2. Reaction

सीखने के प्रकार

सीखना प्रधानतः दो प्रकार का कहा जा सकता है—पहला क्रियात्मक और दूसरा विचारात्मक। विचारात्मक सीखना भी दो प्रकार का होता है—पहला अनुकरणजन्य[1] और दूसरा सूक्ष्म बुद्धिजन्य[2]। निम्नलिखित तालिका विभिन्न प्रकार के सीखने को दर्शाती है—
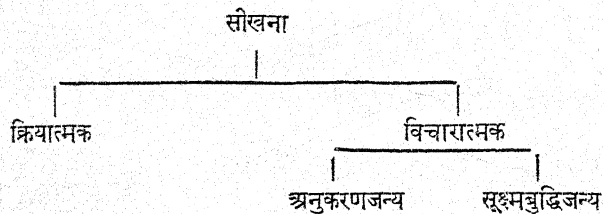
क्रियात्मक सीखना

मनुष्य से निम्नवर्ग के प्राणियों का सभी सीखने का कार्य प्रायः क्रियात्मक होता है। उनमें न तो विचार करने की शक्ति होती है और न दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने की। अतएव किसी नई बात को सीखने के लिए उन्हें स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकार के सीखने को प्रायः "प्रयत्न और भूल[3]" द्वारा सीखना कहा जाता है। इसका सबसे सरल उदाहरण मुर्गी के बच्चों के दाना चुगने में देखा जाता है। मुर्गी के बच्चों में किसी भी छोटी गोल सफेद चीज पर चोंच मारने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। वह इस प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक छोटी सफेद गोल वस्तु के ऊपर चोंच मारता है। इनमें से कुछ तो खाद्य होती हैं और कुछ अखाद्य। वह कई बार अपनी चोंच छोटे कङ्कड़ों पर मार देता है। कुछ दिन के पश्चात् वह कङ्कणों पर चोंच मारना छोड़ देता है। कङ्कड के मुँह में लेने से उसकी खाने की प्रवृत्ति शान्त नहीं होती। जिस वस्तु के ऊपर चोंच मारने से उसे सन्तोष होता है, अर्थात् उसके खाने की इच्छा तृप्त होती है, वह उसे पहचानना सीख लेता है; फिर वह असन्तोष देनेवाले पदार्थ पर चोंच नहीं मारता। इस तरह मुर्गी का बच्चा अनेकों प्रयत्न और भूलें करने के पश्चात् दाना चुगना सीखता है। जब तक मुर्गी का बच्चा स्वयं प्रयत्न नहीं करता और उससे हजारों भूलें नहीं होतीं, तब तक उसे दाना चुगना नहीं आता। उसके

---

1. Imitative learning. 2. Learning through insight and understanding. 3. Trial and Error method.

सीखने की क्रिया में सन्तोष और असन्तोष[1] नियामक का कार्य करता है। जिस क्रिया के होने से मुर्गी के बच्चे को सन्तोष मिलता है उसे दुहराने की प्रवृत्ति उसके मन में होती है, और जिससे असन्तोष होता है उसे छोड़ देने की प्रवृत्ति होती है।

क्रियात्मक सीखने के प्रयोग—मनोवैज्ञानिकों ने प्राणियों में विभिन्न प्रकार की सीखने की रीति और उसके नियम जानने के लिए अनेक प्रयोग किये हैं। इनमें कुछ प्रयोग उल्लेखनीय हैं।

सबसे सरल सीखने का उदाहरण सहज क्रियाओं के परिवर्तन में देखा जाता है। इसका एक उदाहरण हम सहज क्रियाओं का वर्णन करते समय दे आये हैं। जब बार-बार कुत्ते के सामने भोजन रखते समय घंटी बजाई जाती है तो घंटी के बजने से कुत्ते के मन में वे ही प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं जो भोजन के सामने आने से होती हैं। भोजन की घंटी तथा सुन्दर भोजन का नाम ही हमारे मुँह में पानी लाता है। ऐसा सीखना "उत्तेजना का परिवर्तन"[2] कहलाता है। बालक की सहज इच्छा दीप-शिखा को पकड़ने की होती है, किन्तु जब वह उससे एक-दो बार जल जाता है तो वह अपना हाथ दीप-शिखा से दूर खींच लेता है। इस प्रकार का सीखना "प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन"[3] कहलाता है। उक्त दोनों प्रकार के सीखने का एक सुन्दर उदाहरण वुडवर्थ महाशय ने दिया है, जिसका प्रयोग कोई भी व्यक्ति कर सकता है—

एक सफेद चूहे को एक ऐसी जगह बन्द किया जाय, जिससे वह दो दरवाजों के द्वारा वहाँ से दूसरी जगह जा सके। एक दरवाजे में घुसकर वह एक अँधेरी कोठरी में पहुँचता है, और दूसरे से घुसने पर वह एक ऐसे स्थान में पहुँचता है, जहाँ उसे खाना मिलता है। भोजन वाली कोठरी के दरवाजे पर पीली चिट लगी रहती है, अर्थात् पीली चिट भोजन की उपस्थिति की सूचक है। चूहा पहले-पहल इसका अर्थ नहीं समझता। भोजन कभी अँधेरी कोठरी में रख दिया जाता है और कभी दूसरी कोठरी में। साथ-साथ चिट का भी स्थान बदल दिया जाता है। चूहे की सहज प्रवृत्ति भोजन ढूँढ़ने की होती है, अतएव वह पहले एक कोठरी में भोजन ढूँढ़ता है, बाद में दूसरी में, किन्तु बार-बार इस तरह भोजन ढूँढ़ने के प्रयत्न के पश्चात् चूहा यह पहचान लेता है कि दरवाजे

---

1. Satisfaction and dissatisfaction. 2. Conditioning of the stimulus. 3. Conditioning of the response.

के ऊपर की पीली चिट भोजन की उपस्थिति की सूचक है। देखा गया है कि यदि चूहे को बीस बार प्रतिदिन प्रयत्न करने का मौका दिया जाय, तो धीरे-धीरे उसकी गलतियों की संख्या कम होती है और करीब तीस दिन के पश्चात् वह भोजन वाले कमरे में जाने में कोई भूल नहीं करता, अर्थात् चूहा बार-बार प्रयत्न और भूलों के बाद यह सीख जाता है कि पीला निशान भोजन की उपस्थिति का सूचक है।

यदि अब प्रत्येक भूल के लिए चूहे को सजा भी मिले, जिस तरह कि उसे सही काम करने के लिए पुरस्कार मिला है तो चूहा और भी जल्दी सही काम करना सीख जाय। यदि बिना भोजनवाले कमरे में एक बिजली का तार लगा दिया जाय, जिसे छूते ही चूहे को एक झटका लगे तो वह पहले-पहल तो किसी भी कमरे में जाने से हिचकिचायेगा, किन्तु वह पहले की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से पीली चिटवाले कमरे में भोजन के लिए जाना सीख जायगा।

यहाँ हम देखते हैं कि चूहे की किसी भी दरवाजे में घुसने की प्रवृत्ति परिवर्तित होकर दरवाजे को भलीभाँति देखने की प्रवृत्ति में परिणत हो जाती है। इस तरह मनुष्य के जीवन में भी कई बार भूलों के पश्चात् किसी काम में हाथ डालने के पहले स्थिति-निरीक्षण की प्रवृत्ति पैदा होती है।

सीखने की क्रिया समझने के लिए भूल-भुलैया का भी प्रयोग किया जाता है। इस प्रयोग में अधिकतर चूहे से काम लिया जाता है। भूल-भुलैया के बीच में भोजन रख दिया जाता है, और चूहे को उसमें छोड़ दिया जाता है। चूहे को भोजन की बास आती है, अतः वह उसकी ओर इधर-उधर सूँघता हुआ जाता है। वह पहले-पहल आगे और पीछे जाता है और भूल-भुलैया के प्रत्येक घरों को ठीक से देखता है। इस तरह खोजते-खोजते वह भोजन के स्थान पर पहुँच जाता है। जब दूसरी बार फिर चूहे को भूल-भुलैया के दरवाजे पर छोड़ते हैं तो वह भोजन की ओर तेजी से दौड़ता है। वह इस बार भोजन न रहने के स्थान पर जाता तो है किन्तु वहाँ देर तक नहीं ठहरता, कई बार प्रयोग करने के पश्चात् वह भूलभुलैया में उस ओर मुड़ता ही नहीं जिस ओर उसे भोजन मिलने की सम्भावना नहीं रहती। वह सीधे भोजन की ओर दौड़ जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि कई बार प्रयत्न करने के पश्चात् चूहा व्यर्थ क्रियाओं को करना छोड़ देता है और सार्थक क्रियाएँ करना सीख जाता है।

क्रियात्मक सीखने की विधियाँ—क्रियात्मक सीखने में प्रायः निम्नलिखित पाँच विधियाँ काम में आती हैं—

(१) अनायास प्रतिक्रियाओं का होना[1]—प्रत्येक जीवधारी हर एक परिस्थिति में कुछ न कुछ करता रहता है। बालक जब तक जागता है अपने हाथ-पाँव चलाया करता है, वह अनेक वस्तुओं को देखता है, उन्हें हाथ में लेता और तोड़ता-मरोड़ता रहता है। वह इस प्रकार की अनायास क्रियाओं से अपने वातावरण के बारे में कुछ न कुछ सीखता रहता है। इसी तरह दूसरे प्राणी भी अपनी अनायास प्रतिक्रियाओं से बाह्य परिस्थिति में उचित व्यवहार करना सीखते हैं।

(२) व्यर्थ प्रतिक्रिया का निवारण[2]—किसी भी परिस्थिति में पड़ने पर जिन अनेक प्रतिक्रियाओं को प्राणी प्रयुक्त करता है, उनमें से जो सन्तोषजनक नहीं होतीं उन्हें वह छोड़ देता है। पहले-पहल मुर्गी का बच्चा प्रत्येक सफेद छोटे पदार्थ पर चोंच मारता है; किन्तु कंकड़ों पर जब चोंच मारने से सन्तोष नहीं प्राप्त करता, तो उसकी कंकड़ पर चोंच मारने की प्रवृत्ति का निवारण हो जाता है। इसी तरह चूहा भूल-भुलैया के उस मार्ग पर नहीं जाता जिसमें जाने से उसे सन्तोष नहीं होता।

(३) उत्तेजना का परिवर्तन[3]—किसी प्रतिक्रिया के लिए एक विशेष प्रकार की उत्तेजना के बदले कोई दूसरी उत्तेजना कारगर हो सकती है। साधारणतः कुत्ते के मुँह में लार भोजन के देखने से ही आती है, घंटी के बजने से भी कुत्ते के मुँह में लार आने लगती है। इस प्रकार के सीखने में "उत्तेजना के परिवर्तन" का उदाहरण मिलता है। भाषा के सीखने में हम इस विधि को कार्यान्वित होते देखते हैं। "नीबू" शब्द की ध्वनि हमारे मुँह में उसी प्रकार लार ले आती है; जिस तरह कि "नीबू" शब्द-द्वारा संकेतित पदार्थ लाता है। शब्दों का वस्तुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने पर शब्द ही वस्तुओं के बदले काम में आने लगते हैं, शब्दों को सुनकर हमारे मन में वे ही मनोभाव उठते हैं, जो वस्तुओं के देखने से उठते हैं।

(४) प्रतिक्रिया का परिवर्तन[4]—इस प्रकार का सीखना बालक के अग्नि से डरने में देखा जाता है। जन्मजात स्वभाव से बालक जलती दीपशिखा को पकड़ना चाहता है किन्तु एक बार जल जाने के पश्चात् उसकी इस प्रकार

1. Random responses. 2. Elimination of a response.
3. Substitute Stimulus. 4. Substitute response.

को प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है। वह दीपशिखा को देखते ही उसकी ओर हाथ न बढ़ाकर उससे हाथ दूर हटाने की चेष्टा करता है।

यदि किसी बिल्ली को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया जाय, तो वह पहले-पहल छड़ों के बीच से जाने की चेष्टा करेगी; किन्तु इस प्रकार के अपने प्रयत्न से निराश होने पर वह छड़ों से बाहर निकलने की चेष्टा नहीं करेगी। अब मान लीजिए, वह अपने निकलने की चेष्टा करते समय अचानक पिंजरे के दरवाजे की सिटकनी को खींच देती है जिससे कि दरवाजा खुल जाता है, तो वह दूसरी बार अधिक दूसरे व्यर्थ परिश्रम न कर सिटकनी को खींचने की ही चेष्टा करेगी। शनैः शनैः वह सिटकनी को खींचकर पिंजड़े से बाहर निकलने का मार्ग जान लेगी। यहाँ हम "प्रतिक्रिया के परिवर्तन" की रीति को कार्यान्वित होते देखते हैं।

(५) प्रतिक्रियाओं का एकीकरण[1]—पहले-पहल बच्चा सरल प्रतिक्रियाओं को ही कर सकता है। किन्तु धीरे-धीरे वह जटिल से जटिल कार्य कर लेता है। इस प्रकार के कार्यों का करना अनेक प्रतिक्रियाओं के एकीकरण से होता है। हमारा जीवन जटिल प्रतिक्रियाओं से भरा पड़ा है। चलना, भोजन करना आदि क्रियाएँ भी कई सरल प्रतिक्रियाओं के एकीकरण से सम्भव होती हैं। टाइप करना, साइकिल चलाना, हारमोनियम बजाना आदि क्रियाओं में कई प्रकार की प्रतिक्रियाओं का एक साथ होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। पहले-पहल जो कार्य करना कठिन होता है, वही अभ्यास के पश्चात् सरल हो जाता है और थोड़े समय में हो जाता है।

अनुकरणात्मक सीखना[2]

जिस तरह प्राणी प्रयत्न और भूल के द्वारा नया काम करना सीखता है, उसी तरह वह दूसरों का अनुकरण करके भी सीख सकता है। इस प्रकार के सीखने को अनुकरणात्मक सीखना कहते हैं। इस प्रकार के सीखने पर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। हेगार्टी महाशय ने यह जानने के लिए कि जानवरों में अनुकरणात्मक सीखने की शक्ति कहाँ तक है, निम्नलिखित प्रयोग किया—

हेगार्टी ने एक पोली लोहे की नली को लेकर उसमें एक केला ठूँस दिया। अब इस नली को एक कमरे में बन्द भूखे बन्दर के सामने डाल दिया। बन्दर ने

1. Combination of responses. 2. Imitative Learning.

जब उस नली के भीतर केले को देखा तो उसने उसमें से केला निकालने के लिए अनेक प्रयत्न किए। नली को इधर-उधर पटका, पर केला उसमें से न निकला। अन्त में उसे एक उपाय सूझा। उसने पास में रखा हुआ एक डंडा उस नली के एक सिरे में ठूँसा। ऐसा करने से नली के दूसरे सिरे से केला निकल आया। बन्दर ने केला पाकर उसे खा लिया। जब दूसरी बार फिर इसी तरह नली में ठूँस कर केला डाला गया, तो उसे उस केले को निकालने में कोई विशेष अड़चन न हुई; अर्थात् वह एक ही बार प्रयत्न और भूल करने से ठीक तरह से केले को नली से निकालना सीख गया। पर पहली बार केला निकालने में उसे एक घंटे से अधिक देर लगी थी।

जब पहला बन्दर प्रयत्न और भूल की रीति से केला निकालने में लगा था, तो एक दूसरा बन्दर उसकी सब चेष्टाओं को देख रहा था। जिस समय इस बन्दर के सामने नली में ठूँसकर केला डाला गया, तो उसे केला पाने में एक मिनट की भी देर न लगी। उसने तुरन्त डंडे को उठाया और उसे नली के एक सिरे से ठूँसकर केला पा लिया। इस बन्दर ने अपनी अनुकरण की बुद्धि के द्वारा नया काम सीखने में लाभ उठाया।

अनुकरणात्मक सीखना, 'प्रयत्न और भूल' द्वारा सीखने से ऊँची श्रेणी का है। इस प्रकार के सीखने से हम दूसरों के अनुभव से लाभ उठाते हैं। मनुष्य के जीवन में जितना अनुकरणात्मक सीखना पाया जाता है उतना दूसरे प्राणियों में नहीं पाया जाता। वास्तव में बन्दर से नीची श्रेणी के प्राणियों में दूसरों का अनुकरण करके लाभ उठाने की शक्ति बड़ी ही परिमित होती है। मान लीजिए, जैसी स्थिति में हेगार्टी महाशय ने दूसरे बन्दर को रक्खा था, यदि बिल्ली को रक्खा होता, तो वह दूसरी बिल्ली के अनुभव से कुछ भी लाभ न उठा सकती। नये काम को सीखने के लिए जितनी भूलें पहली बिल्ली को करनी पड़ती हैं, उतनी ही दूसरी को भी करनी पड़ती हैं, चाहे वह दूसरी बिल्ली पहली बिल्ली के काम को देखती रही हो या न देखती रही हो।

बालकों में दूसरों के अनुकरण करने की शक्ति बड़ी प्रबल होती है। बालकों को अपने जीवन को सफल बनाने के लिए अनेक नई बातें सीखनी होती हैं, अतएव प्रकृति ने उनमें दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी प्रबल बनाई है। हमारी अधिकतर शिक्षा दूसरों का अनुकरण मात्र है। यदि दूसरों के अनुकरण से हम नये कामों को न सीखें और प्रत्येक काम के सीखने के लिए स्वयं प्रयोग करें, तो हमारा जीवन पशु-जीवन से भी निम्न श्रेणी का

हो जाय। सभ्यता का विकास हमारी दूसरों के अनुभवों को सञ्चित करने और उनसे लाभ उठाने की शक्ति पर निर्भर है। इस प्रकार का सञ्चय हमारी अनुकरण की प्रवृत्ति से होता है। अनुकरणात्मक सीखना सरल और शीघ्रता से होनेवाला होता है।

विचारात्मक सीखना[1]

सबसे उच्चकोटि का सीखना विचारात्मक होता है। इस प्रकार के सीखने को "सूक्ष्म दृष्टि और बूझ द्वारा सीखना" कहा जाता है। यह मनुष्यों में ही पाया जाता है। विचार द्वारा सीखने की योग्यता दूसरे प्राणियों में नहीं होती।

विचारात्मक सीखना प्रत्यक्ष क्रिया में प्रयत्न और भूलों को न करके विचार में उन्हें करना है। किसी कार्य का क्या परिणाम होगा, इसे विचारवान् मनुष्य अपनी कल्पना द्वारा निश्चित करता है, तत्पश्चात् वह किसी क्रिया को कार्यान्वित करता है। जिस मनुष्य की जितनी प्रबल कल्पना-शक्ति होती है, वह उतनी ही अधिक विचार की सहायता से नये काम को सीखता है तथा सफलता और विफलता की सम्भावना को पहले से ही कल्पित कर लेता है।

जब इञ्जीनियर किसी मकान को बनाता है, तो वह अपनी कल्पना में पहले से ही निश्चय कर लेता है कि उसे किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होगी, और मकान के भिन्न-भिन्न भाग कैसे एक-दूसरे पर अवलम्बित होंगे। इसी तरह कोई भी जनरल अपनी सेना द्वारा किसी विशेष कार्य किये जाने के पूर्व उसके परिणाम को भली प्रकार से अपनी कल्पना से स्थिर कर लेता है। यदि उसके विचार में कोई भूल हुई तो वह असफल होता है और यदि उसका विचार ठीक हुआ तो उसे सफलता मिलती है। जिस व्यक्ति की कल्पना जितनी प्रबल होती है, वह उतने ही जल्दी किसी कार्य के सम्भावी परिणाम को जान लेता है। अतएव जिस कार्य में उसे विफलता की सम्भावना दीख पड़ती है उस कार्य को वह नहीं करता।

काफ्का महाशय का कथन है कि विचारात्मक सीखना दूसरे प्रकार के सीखने से एकदम भिन्न है, क्योंकि इस प्रकार के सीखने में मनुष्य अपने हाथ-पैर से काम न लेकर कल्पना से काम लेता है। दूसरे, जिस सूझ का इस प्रकार के सीखने में प्रयोग होता है, उसका दूसरे प्रकार के सीखने में नहीं होता। विचारात्मक सीखना मनुष्य की विशेषता है। इसी के कारण वह दूसरे

---

1. Learning Through insight and Understanding.

प्राणियों की अपेक्षा अधिक योग्य बनता है। जो मनुष्य जितना अधिक अपने सीखने में बूझ से कार्य लेता है वह उतना ही योग्य है।

थार्नडाइक तथा दूसरे मनोवैज्ञानिक विचारात्मक सीखने को क्रियात्मक सीखने से भिन्न प्रकार का मानते हैं। उनका कथन है कि जिस तरह क्रियात्मक सीखने में प्रयत्न और भूलें होती हैं, इसी तरह विचारात्मक सीखने में भी प्रयत्न और भूलें होती हैं, अन्तर केवल स्तरों का है। एक में प्रयत्न और भूल शारीरिक क्रिया के रूप में देखी जाती है और दूसरे में विचार के रूप में।

यदि किसी व्यक्ति की बुद्धि-माप करनी है तो हमें उसके नये काम करने के ढंग में यह देखना चाहिए कि वह उसे प्रयत्न और भूल के द्वारा, या अनुकरण के द्वारा या सूक्ष्म दृष्टि और समझ की सहायता से करता है। किसी नए काम के करने में मनुष्य प्रायः अनुकरण अथवा विचार से ही काम लेता है। अनुकरण की सहायता से काम जल्दी से अवश्य होता है, पर इस प्रकार का कार्य करना मनुष्य की प्रतिभा का विकास नहीं करता। किसी मनुष्य के जीवन में अनुकरण का अत्यधिक होना उसमें प्रतिभा के अभाव का सूचक है। ऐसा मनुष्य नई परिस्थिति में पड़ने पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

सीखने के नियम[1]

अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक महाशय ने सीखने के निम्नलिखित तीन नियम निश्चित किये हैं। ये नियम सभी प्रकार के सीखने में काम करते हैं—

(१) **परिणाम का नियम**[2]—यह नियम सन्तोष और असन्तोष का नियम[3] भी कहा जाता है। यदि किसी क्रिया के करने से प्राणी को सन्तोष अर्थात् सुख मिलता है तो उसकी उस क्रिया के करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और यदि किसी क्रिया के करने से प्राणी को असन्तोष अर्थात् दुःख मिलता है तो उसको उस क्रिया के करने की प्रवृत्ति निर्बल होकर अन्त में नष्ट हो जाती है। नई परिस्थिति में पड़ने पर प्राणी पहले-पहल अनेक चेष्टाएँ करता है किन्तु इस नियम के कारण व्यर्थ चेष्टाओं का अन्त हो जाता है और उपयोगी चेष्टाएँ ही प्राणी के जीवन का अंग बन जाती हैं। जब किसी चूहे को भूल-भुलैया में रखा जाता है तो वह कुछ काल की भूलों के पश्चात् उस स्थान पर जाना

---

1. Laws of Learning. 2. The Law of Effect.
3. The Law of Satisfaction and Dissatisfaction.

छोड़ देता है, जहाँ जाने से उसे निराशा मिलती है और उस मार्ग से जाना सीख जाता है जहाँ से जाने में उसे सन्तोष मिलता है। प्रत्येक बालक में सामने की वस्तु हाथ में लेने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। जिन-जिन वस्तुओं को छूने से उसे दुःख होता है उन्हें वह हाथ में फिर नहीं लेता। इस तरह पहले-पहल बालक दीप शिखा को पकड़ने के लिए दौड़ता है, किन्तु जब उसका हाथ एक बार जल जाता है तो फिर वह दीप-शिखा की ओर अपना हाथ नहीं बढ़ाता है। जिस किसी काम को करने में हमें सफलता मिलती है, उस काम को करने की इच्छा बढ़ जाती है और उस काम का करना हम शीघ्रता से सीख लेते हैं। जिसके करने से असफलता मिलती है उसके करने की इच्छा निर्बल हो जाती है तथा ऐसे काम का करना कठिन हो जाता है। बालक उस काम को करना जल्दी से सीखता है जिसके करने से उसे शिक्षक तथा माता-पिता की प्रशंसा मिलती है। जिस काम को करने से उसे फटकार मिलती है उसे वह नहीं करना चाहता। शिक्षा में "पुरस्कार और दण्ड" सदा काम लाये जाते हैं और चाहे जितना इनके प्रतिकूल प्रचार किया जाय, उनका सम्पूर्णतया लोप होना सम्भव नहीं। स्वयं प्रकृति पुरस्कार और दण्ड के द्वारा मनुष्य को शिक्षित बनाती है। पुरस्कार और दण्ड का आधार मानव-स्वभाव है। प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक और दुःख से बचने की चेष्टा करता है, अतएव जिस काम के करने से उसे सुख होता है उसी काम को करने की उसकी प्रवृत्ति होती है और उसी काम को करना वह सीखता है, जिस काम को करने से उसे सुख नहीं होता और न उसकी सम्भावना देखता है, उसे वह कदापि नहीं करता।

(२) अभ्यास का नियम[1]—इस नियम को "उपयोग और अनुपयोग का नियम"[2] भी कहा जाता है। किसी कार्य को बार-बार करने से वह ठीक से सीख लिया जाता है। जब किसी काम को कई दिनों तक नहीं किया जाता तो जो कुछ सीखा है वह भी नष्ट होने लगता है। जब बिल्ली को बार-बार सिटकनी दबाकर पिंजड़े से बाहर निकलना पड़ता है तो वह पिंजड़े से निकलना सीख जाती है, पर जब कई दिनों तक उसे यह कार्य नहीं करना पड़ता तो वह उसे करना भूल जाती है। इसी तरह बालक साइकिल चलाना, टाइप करना तथा गणित के सवालों को हल करना आदि कामों को बार-बार करने से सीखता है, जब अभ्यास की कमी हो जाती है, तो जो योग्यता प्राप्त कर ली गई है, वह भी खो जाने लगती है। किसी योग्यता को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक

1. The Law of Exercise. 2. The Law of Use and Disuse.

है कि उस योग्यता को हम बार बार काम में लावें। देखा गया है कि जब दक्ष क्रिकेट या फ़ुटबाल के खिलाड़ी बहुत दिनों तक इन खेलों को नहीं खेलते तो उनके इन खेलों की कुशलता नष्ट हो जाती है। जो विद्यार्थी किसी विषय का नित्य अध्ययन नहीं करता रहता, वह उस विषय का अपना ज्ञान नष्ट कर देता है। जो शिक्षक अपनी पढ़ाने की योग्यता को सदा दूसरों के पढ़ाने में प्रयुक्त नहीं करता, वह उस योग्यता को खो देता है। इसी तरह कुशल कलाकार, लेखक, इञ्जीनियर आदि अपनी प्राप्त की हुई योग्यताओं को अनभ्यास से खो देते हैं।

(३) तत्परता का नियम[1]—इस नियम के अनुसार प्राणी को ऐसे काम करने में आनन्द मिलता है, जिसके करने की तैयारी उसमें होती है; और ऐसे काम करने से उसे असन्तोष होता है जिसके करने की तैयारी उसमें नहीं होती है, अर्थात् हम उसी काम के इच्छुक होते हैं जिसका हमें अभ्यास होता है। जिस खेल को खेलने की योग्यता किसी बालक में होती है उसे खेलने से बालक को प्रसन्नता होती है तथा जिसकी योग्यता नहीं होती उसमें उसे आनन्द नहीं मिलता।

सीखने में उन्नति

सीखने में उन्नति कई बातों पर निर्भर रहती है, जैसे—अभ्यास, रुचि, सीखने की रीति, पहले का अनुभव, सीखनेवाले की आयु, उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और सीखने का वातावरण आदि। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में सीखने की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है और एक ही व्यक्ति के सीखने की शक्ति में समय तथा वातावरण के अनुसार भेद होते हैं। सीखने की उन्नति का माप करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। इनमें से कुछ प्रयोग हाथ से काम करने की कुशलता के हैं और कुछ विद्योपार्जन-सम्बन्धी। विद्योपार्जन-सम्बन्धी प्रयोगों के निष्कर्ष उतने स्पष्ट नहीं हैं, जितने कि हाथ से काम करके दक्षता प्राप्त करने के प्रयोगों के हैं। सीखने में उन्नति सदा एक-सी नहीं होती। किसी काम को सीखते समय पहले-पहल उन्नति अधिक होती है, फिर कुछ समय के लिए उन्नति स्थगित हो जाती है। यदि अभ्यास को जारी रक्खा जाय तो पीछे फिर उन्नति दिखाई देने लगती है।

---

1. The Law of Readiness. 2. Progress in Learning.

सीखने का पठार[1]

सीखने की उन्नति के क्रम को जब किसी ग्राफ के कागज पर चित्रित किया जाता है, तो देखा गया है कि एक पठार का चित्र स्वयं बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने टाइपिंग और तार देने के वेग के ऊपर अनेक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों के फलस्वरूप देखा गया है कि सीखने का काम पहले पहल कुछ सप्ताह तक बड़े वेग से होता है, पीछे कुछ काल के लिये उसकी गति मन्द हो जाती है, किन्तु अभ्यास को जारी रखने पर पुनः उन्नति दिखाई देने लगती है। निम्नलिखित चित्र इस प्रयोग के निष्कर्ष को प्रदर्शित करता है—

सीखने का पठार
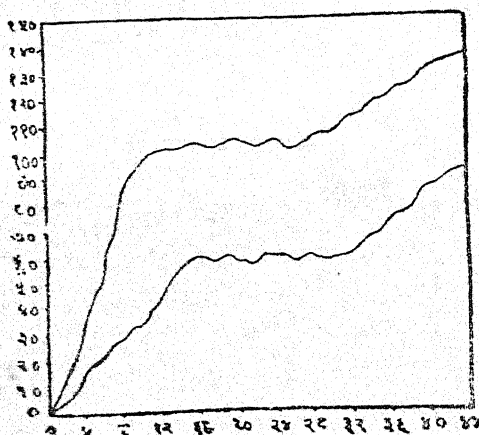
तार देने और तार लेने के सीखने में उन्नति

चित्र नं० ८

इस चित्र में ऊपर की रेखा तार भेजने की उन्नति को दर्शाती है और नीचे की रेखा तार लेने की उन्नति को। हम देखते हैं कि सीखनेवाला दस सप्ताह तक बड़े वेग के साथ तार सीखने के काम में उन्नति दिखाता है। इसके

1. Plateau of Learning.

पश्चात् उसकी गति रुक जाती है। दस सप्ताह के अभ्यास के पश्चात् वह ८० अक्षर प्रति मिनट भेज सकता है। अन्त में भी उसकी गति उतनी ही रहती है। चित्र इस काल को पठार के रूप में दर्शाता है। किन्तु बीस सप्ताह के पश्चात् पुनः सीखने के कार्य में कुछ उन्नति होने लगती है और यह उन्नति तब तक जारी रहती है जब तक कि वह अपनी सीमा तक नहीं पहुँच जाती। हाथ के काम की दक्षता में उन्नति की सीमा शरीर की योग्यता के ऊपर निर्भर है। अधिक अभ्यास करने के पश्चात् सम्भव है कि सीखनेवाला एक मिनट में डेढ़ सौ अक्षर तारा द्वारा भेज सके। किन्तु वह चाहे जितना अभ्यास क्यों न करे एक मिनट में पाँच सौ अक्षर नहीं भेज सकता।

सीखने की उन्नति किन-किन बातों पर निर्भर है, इसे जानने के लिए सीखने के पठार का कारण जानना आवश्यक है। सीखने का पठार प्रत्येक समय अवनति का सूचक नहीं होता। पठार की उपस्थिति दो कारणों से होती है—सीखने में रुचि की कमी होने से और सीखने में दृढ़ता लाने की आवश्यकता से। जब कोई व्यक्ति कई दिनों तक एक ही काम करता रहता है, तो उसकी उस काम में रुचि घट जाती है। वह जिस लगन के साथ आरम्भ में काम करता है, उस लगन के साथ उस काम से उकताव हो जाने के कारण नहीं करता। साइकिल चलाना तथा टाइपिंग सीखने में यह भली प्रकार से देखा जाता है। नये काम करने में हमारी रुचि बड़ी प्रबल होती है। जब काम पुराना हो जाता है तब रुचि शिथिल हो जाती है। कभी-कभी पठार काम में रुचि की कमी को प्रदर्शित करता है।

किन्तु, सभी समय रुचि की कमी पठार का कारण नहीं होती। पठार का कारण व्यक्ति की प्राप्त की गई योग्यता को दृढ़ बनाना भी होता है। जिस प्रकार नये देशों को जीतनेवाले राजा को यह आवश्यक होता है कि वह जीते हुए प्रान्तों में राज-व्यवस्था स्थापन के लिए समय-समय पर अपने राज्यविस्तार का काम रोक दे,, उसी तरह नई योग्यता प्राप्त करनेवाले के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सदा उन्नति पर ध्यान न रक्खे, वरन् जितनी योग्यता उसने प्राप्त की है उसे दृढ़ बनाने की चेष्टा करे। जो विद्यार्थी प्रतिदिन नये पाठ को पढ़ता रहता है और पुराने पाठ को परिपक्क करने के लिए कुछ समय नहीं देता, उसका ज्ञान और उसकी योग्यता स्थायी नहीं रहती। स्वयं प्रकृति ही हमें अत्यधिक उन्नति करने से रोकती रहती है, जिससे कि हम अपनी प्राप्त की गई योग्यता अथवा ज्ञान को दृढ़ बना लें।

इस तरह हम देखते हैं कि हर एक स्थिति में पठार की उपस्थिति, सीखने में अवनति की सूचक नहीं है। पठार का समय कभी-कभी नई, अधिक उपयोगी आदतों के बनने में लगता है। इन आदतों के बन जाने पर आगे उन्नति का मार्ग खुल जाता है। जब टाइप करनेवाला पहले-पहल टाइपिंग सीखता है, तो वह एक-एक अक्षर को टाइप करने का अभ्यास डालता है। इस रीति से टाइप करने की एक सीमा होती है। जब सीखनेवाला उस सीमा तक पहुँच जाता है तो उसके कार्य में कोई उन्नति दिखाई नहीं देती। अब उसे यह आवश्यक है कि अक्षरों को ध्यान में रखकर टाइप करने की आदत छोड़ कर शब्दों को ध्यान में रखकर टाइप करने की आदत डाले। इस नई आदत के डालने में कुछ समय लगता है। यह समय सीखने में किसी प्रकार की उन्नति नहीं दर्शाता, किन्तु वास्तव में यह उन्नति का ही समय है; क्योंकि भावी उन्नति नई आदत के डालने पर ही निर्भर रहती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सीखने का पठार प्रत्येक दशा में अवनति का सूचक नहीं है। किसी-किसी दशा में यह प्रत्यक्ष उन्नति का सूचक होता है। किन्तु कभी-कभी पठार वास्तविक अवनति का सूचक होता है। ऐसा पठार रुचि की कमी को प्रदर्शित करता है। जब इस प्रकार के पठार की उपस्थिति देखी जाय तो सीखने के कार्य में नये हेतुओं को उपस्थित करना चाहिये। हेतु की उपस्थिति से काम में रुचि बढ़ जाती है, जैसे कि उसके अभाव से काम में रुचि की कमी हो जाती है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति टाइपिंग सीख रहा है। वह कुछ काल तक अपने काम में उन्नति करता है, पीछे उसके काम में शिथिलता आने लगती है। यह उसके काम से ऊब जाने के कारण होता है। अब यदि यह ज्ञात हो जाय कि यदि वह दो माह के अन्दर टाइपिंग सीख ले तो उसे सौ रुपया मासिक वेतन की नौकरी तुरन्त मिल जायगी, तो उसके सीखने की उन्नति असाधारण हो जायगी। वह बड़े वेग के साथ टाइपिंग सीखने लगेगा। एक माह सीखने के पश्चात् उसे यदि ज्ञात हो जाय कि जिस जगह को प्राप्त करने की उसे आशा थी, वह दूसरे को मिल गई तो उसके काम में एकाएक शिथिलता आ जायगी। अनेक प्रयोगों द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने देखा है कि हेतु की उपस्थिति सीखने में वेग उत्पन्न करती है और उसका अभाव शिथिलता पैदा करता है।

प्रश्न

१—मानव-जीवन में सीखने की क्या महत्ता है ? इस सम्बन्ध में पशु-जीवन से मानव-जीवन की तुलना कीजिए।

२—"प्रयत्न और भूल" द्वारा सीखने का स्वरूप उदाहरण द्वारा समझाइए।

३—सीखने की भिन्न-भिन्न रीतियाँ कौन-कौन सी हैं ? उदाहरण द्वारा समझाइए।

४—सीखने के मुख्य नियम कौन-कौन से हैं ? "सन्तोष और असन्तोष के नियम" को उदाहरण द्वारा समझाइए।

५—मनुष्य का सीखना पशुओं के सीखने से किन-किन बातों में भिन्न है ? विस्तारपूर्वक लिखिए।

६—"सूझ और समझ" द्वारा सीखना किस बात में दूसरे प्रकार के सीखने से भिन्न है ? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।

७—सीखने का पठार क्या है ? एक चित्र द्वारा समझाइए।

८—सीखने में उन्नति किस प्रकार हो सकती है ? सीखने में अवनति के प्रधान कारण क्या हैं ?

———

सातवाँ प्रकरण

आदत[1]

आदत का स्वरूप

आदत मनुष्य का अर्जित मानसिक गुण[2] है। आदत अभ्यास से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार का अभ्यास हम बार-बार करते हैं, उसी प्रकार की हमारी आदत बन जाती है। इस आदत के बन जाने पर हमारी मानसिक चेष्टाएँ उसी के अनुकूल दिशा में होती हैं। मनुष्य के जीवन में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम करती हैं—जन्मजात[3] और अर्जित। मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं, और आदतें अर्जित मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। जिस प्रकार मूल प्रवृत्तियाँ हमें विशेष प्रकार के काम करने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी तरह आदतें भी हमें विशेष प्रकार के काम करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस दृष्टि से आदत एक साधारण मानसिक संस्कारमात्र नहीं है, वह एक क्रियात्मक प्रवृत्ति है। बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने आदत को स्वयं क्रियात्मक प्रवृत्ति नहीं माना है, किन्तु उसे क्रिया का विशेष मार्ग माना है जो किसी प्रकार बार-बार क्रिया करने से उत्पन्न होता है। हमारे विचार से आदत एक प्रकार का मानसिक संस्कार अवश्य है; किन्तु प्रत्येक मानसिक संस्कार जड़ पदार्थ के मानसिक संस्कार से भिन्न होता है। जड़ पदार्थ स्वयं क्रियात्मक नहीं होता, जिस तरह आदत क्रियात्मक होती है।

आदतों की तुलना मूल प्रवृत्तियों से करना अधिक सार्थक है। मूल प्रवृत्तियाँ पैतृक संस्कारमात्र नहीं हैं, वे हमें विशेष प्रकार की चेष्टा में लगाती हैं; अर्थात् वे क्रियात्मक मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं जो वंशपरम्परागत हमें प्राप्त होती हैं। इसी तरह आदतें भी साधारण जड़ पदार्थों के संस्कार-सदृश नहीं हैं, ये क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। जिस प्रकार मूलप्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की चाहों का कारण बन जाती हैं, उसी प्रकार आदतें भी अनेक प्रकार की चाहों का कारण बनती हैं और जिस तरह मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य को विशेष प्रकार के कामों में लगाती हैं, उसी तरह आदतें भी उसे विशेष प्रकार के कामों में लगाती हैं।

---

1. Habit 2. Acquired mental trait. 3. Congenital.

जिस तरह मूलप्रवृत्तिजन्य काम अपने-आप होता है, उसमें विचार की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह आदतजन्य कार्य भी अपने-आप मशीन-सदृश होता है। स्टाउट महाशय ने आदतजन्य कार्यों को "अर्जित तथा अपने-आप होने वाला कार्य"[1] बतलाया है।

आदत का आधार

मनुष्य में जन्म से ही अनेक प्रकार के कार्य करने की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वातावरण के सम्पर्क में आने से इन प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाता है। ये परिवर्तित प्रवृत्तियाँ ही आदतें कहलाती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर आदतों का आधार मूल प्रवृत्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर उनका आधार वातावरणजन्य संस्कार है। कितने ही मनोवैज्ञानिक आदतों का वर्णन करने में वातावरणजन्य संस्कारों की ही प्रधानता दिखाते हैं, मानों आदत जड़ पदार्थों के संस्कार-सदृश मानसिक संस्कार है। जड़वादी[2] और व्यवहारवादी[3] मनोवैज्ञानिक उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इसके प्रतिकूल चैतन्यवादी अथवा इच्छावादी[4] आदत का स्वरूप वर्णन करते समय मूल प्रवृत्तियों का महत्त्व अधिक दर्शाते हैं। वास्तव में आदत के बनने में दोनों बातें काम करती हैं—मूल प्रवृत्ति और वातावरण के संस्कार। मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात आदतों का आधार हैं और वातावरण के संस्कार अर्जित आदतों का। वास्तव में आदत बनने में वातावरणजन्य संस्कारों में मूल प्रवृत्तियों की शक्ति आ जाती है।

मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन सरलता से नहीं होता। वे हमारे दृश्य मन के ही नहीं अदृश्य मन के भी अङ्ग हैं। वे वंशपरम्परा से प्राप्त होती हैं, अतएव वे सुदृढ़ हैं। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में एक विशेषता यह है कि वे पशुओं की मूल प्रवृत्तियों के सदृश सुदृढ़ नहीं होतीं। उनमें परिवर्तन सरलता से हो जाता है। यदि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन होना सम्भव न होता और वे उतनी ही सुदृढ़ होतीं जितनी पशुओं की, तो आदतों का बनना असम्भव हो जाता। पशुओं में आदतें बहुत कम होती हैं। उनके जीवन का सञ्चालन अधिकतर मूल प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। मनुष्य के जीवन में आदतों का इतना आधिक्य होता है कि यह कहना कठिन है कि उसके मूल प्रवृत्तियाँ हैं या नहीं। कितने मनोवैज्ञानिक मनुष्य के स्वभाव में मूल

---

1. "Habits are secondary automatic acts." 2 Materialists. 3. Behaviourists. 3 Hormic school.

प्रवृत्तियों का अस्तित्व ही नहीं मानते। यह मनुष्य के जीवन में आदत की प्रधानता का परिणाम है।

किसी काम को बार-बार करने से वह हमारे चेतन मन पर ही प्रभाव नहीं डालता, अपितु अचेतन मन का भी अङ्ग बन जाता है। चेतन मन का प्रत्येक अनुभव अचेतन मन को प्रभावित करता है। जो संस्कार जितना प्रबल होता है वह उतना ही हमारे स्वभाव का अङ्ग बन जाता है। संस्कार की प्रबलता उसके उद्वेगपूर्ण तथा बार-बार होने पर भी निर्भर करती है। जब तक कोई संस्कार हमारे अदृश्य मन का प्रभावशाली अङ्ग नहीं बन जाता, आदत का कारण नहीं होता। इस प्रकार आदतों का आधार मन के वे प्रबल संस्कार हैं जो हमारे अदृश्य मन पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। आदतों के द्वारा मनुष्य के अदृश्य मन अर्थात् उसके स्वभाव का निर्णय होता है। हम मनुष्य का स्वभाव जिस प्रकार का बनाना चाहते हैं अथवा उसके स्वभाव में कोई मौलिक परिवर्तन करना चाहते हैं तो अभ्यास के द्वारा कर सकते हैं।

आदत के लक्षण

आदत के कामों के चार लक्षण हैं—समानता[1], सुगमता[2], रोचकता[3], ध्यान-स्वातन्त्र्य[4]। इन चारों लक्षणों पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

समानता—आदत से किये गये कामों में समानता रहती है; अर्थात् जिस काम को हम आदत के वश करते हैं वह पहले की भाँति ही होता है। हमारा चलना, बोलना, वेश-भूषा, सोने जाना और सोकर उठना आदि जब आदत बन जाते हैं तो वे सदा एक से ही होते हैं। हस्तलिपि को देखकर उसके लिखने-वाले का अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य प्रत्येक बार वैसा ही लिखता है, जैसा वह पहले लिखते आया है। आदत के काम मशीन के काम के समान एक-से होते हैं। जिस काम को सदा एक-सा ही करना होता है उसके करने में आदत बहुत उपयोगी होती है। फौज के सिपाहियों को बिना विचारे आज्ञा पालना आवश्यक होता है, अतएव उन्हें प्रतिदिन व्यायाम कराया जाता है। यह व्यायाम मनुष्य को मशीन के समान बना देता है। विलियम जेम्स ने एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण इस विषय में दिया है—

एक फौज का पुराना सिपाही अपने भोजन का सामान अपने दोनों हाथों में लिए शहर की सड़क पर चला आ रहा था। एक दूकान पर एक मसखरा बैठा

---

1. Uniformity. 2. Facility. 3. Propensity, 4. Independence of Attention.

उस सिपाही की चाल देख रहा था। उसके मन में सिपाही की हँसी कराने की उमङ्ग उठी। ज्योंही सिपाही उस दूकान के पास आया उस मसखरे ने एकाएक जोर से "अटेन्शन" (सावधान) कहा। "अटेन्शन" शब्द के सुनते ही सिपाही के हाथ नीचे गिर गये और जो सामग्री उसके हाथों में थी, नाली में गिर पड़ी। सिपाही का व्यवहार मशीन के समान हो गया था, अतएव "अटेन्शन" शब्द सुनते ही उसके हाथ अपने आप "सावधान" की स्थिति में आ गये।

सुगमता—अभ्यस्त कामों का दूसरा लक्षण सुगमता है। जिस काम के करने में हम अभ्यस्त हो जाते हैं, उसे बड़ी सरलता से कर लेते हैं। जब बालक पहले-पहल अक्षर लिखता है तो अक्षर लिखने में बड़ी कठिनाई होती है। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अक्षरों के रूप को ठीक-ठीक नहीं बना पाता। किन्तु जब बालक को लिखने का अभ्यास हो जाता है तो वह सरलता से पन्ने के पन्ने लिख डालता है। उसे इस काम में कोई अड़चन नहीं होती, और न किसी प्रकार की थकावट आती है। जब कोई व्यक्ति टाइपिंग सीखना आरम्भ करता है, तो बड़े परिश्रम के पश्चात् वह एक शब्द को टाइप कर पाता है, किन्तु कुछ काल अभ्यास के बाद वही व्यक्ति सुगमता से कई पन्ने टाइप कर लेता है। जब हम पहले-पहल साइकिल पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं तो कितनी अधिक गलतियाँ करते हैं और कितनी बार गिर जाते हैं। एक घण्टे के यत्न के पश्चात् ही हमें थकावट आ जाती है, लेकिन जब हमें साइकिल पर चढ़ने की आदत पड़ जाती है तो न तो हम उतनी गलतियाँ करते हैं और न हमें वैसी थकावट होती है, जो प्रथम दिन के प्रयत्न में हुई थी। पहली बार जब कोई वक्ता सभा में बोलता है, तो उसे बड़ी कठिनाई होती है, अभ्यास हो जाने के बाद वही वक्ता धाराप्रवाह सभा में बोलने लगता है और उसका व्याख्यान इतना रोचक होता है कि श्रोताओं का ध्यान दूसरी ओर जाता ही नहीं। जब प्रथम बार हमें कोई अप्रिय काम करना पड़ता है तो बहुत ही थकावट होती है, उसी काम को बार-बार करने पर पहली बार जैसी थकावट नहीं होती।

लेखक को जब अपने विद्यालय में पढ़ाने के लिए घर से तीन मील साइकिल पर जाना पड़ा तो पहले सप्ताह यह काम बड़ा दुष्कर हो गया। किन्तु जब महीनों और वर्षों इसी काम को करना पड़ा तो उसकी कठिनाई बिल्कुल जाती रही। पहली बार जब कोई व्यक्ति कोयले की खान में काम करने जाता है तो उसमें झुककर चलने के कारण उसके शरीर में बहुत पीड़ा होती है।

किन्तु जब उसे प्रतिदिन वही काम करना पड़ता है तो उसे वह पीड़ा नहीं होती।

इस तरह हम देखते हैं कि आदत के काम सहज क्रियाओं के सदृश सरलता से किये जाते हैं। किसी भी काम को आदत के द्वारा सरल बनाया जा सकता है।

रोचकता—आदत किसी भी काम में रुचि उत्पन्न कर देती है। पहले-पहल लेखक की चार वर्ष की बालिका जब पाठशाला में भेजी गई तो वह पाठशाला में ठहरना नहीं चाहती थी। किन्तु आज एक वर्ष के पश्चात् वह पाठशाला जाने के लिए बड़ी ही उत्सुक रहती है। छुट्टी का दिन उसे बड़ा बुरा लगता है। पहले-पहल जो व्यक्ति शराब का प्याला पीता है अथवा बीड़ी व सिगरेट पीता है, उसे इन्हें पीना अच्छा नहीं लगता। बीड़ी और सिगरेट पीने की आदत दूसरों की देखा-देखी पड़ती है, किन्तु एक बार जब आदत पड़ जाती है तो इन मादक पदार्थों के बिना रहा नहीं जाता। बुरी आदतों को छोड़ना भली आदतों के छोड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन होता है। आदत से कोई भी कार्य रुचिकर होता है, किन्तु जिन कामों की ओर हमारी इन्द्रियाँ स्वतः ही हमें ले जाती हैं, उनमें एक बार रुचि हो जाने से उससे हटना कठिन हो जाता है। सिनेमा जानेवालों को सिनेमा देखे बिना रहा नहीं जाता और गप्प लगानेवालों को गप्प लगाये बिना रहा नहीं जाता। इन बातों की आदतें बन जाने पर उनमें अपने-आप प्रवृत्ति होती है। जिस काम में हमारा अभ्यास है, हमारी रुचि भी उसी काम में होती है। इस तरह कोई भी काम कितना ही अरोचक क्यों न हो, अभ्यास के द्वारा रुचिकर बनाया जा सकता है।

ध्यान-स्वातन्त्र्य—जब किसी काम के करने की आदत हमें पड़ जाती है तो उसके करने में हमें ध्यान की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी आदत न पड़ने की अवस्था में पड़ती है। जब बालक पहले पहल लिखना सीखता है तो वह लिखने के प्रत्येक अङ्ग पर ध्यान देता है। जिस ओर उसका ध्यान नहीं जाता उसी ओर भूल हो जाती है। शुद्धाशुद्ध लिखते समय जब बालक शब्दों के वर्ण-विन्यास (वर्तनी) पर ध्यान देता है, तो उसके लेख के अक्षर सुन्दर नहीं होते और जब वह अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान देता है तो शब्दों की वर्तनी (स्पेलिंग) में भूल हो जाती है। अभ्यास होने के पश्चात् वह अपने-आप बिना ध्यान दिये ही सुन्दर अक्षर तथा शुद्धवर्ण-विन्यास लिख

लेता है। उसका ध्यान लिखित विषय के विचारों में लगा रहता है। यदि किसी लेख को लिखते समय मनुष्य को उसके सभी अंगों पर ध्यान देना पड़े तो लेख लिखना असम्भव हो जाय।

अपनी दिनचर्या के बहुत से काम हम बिना ध्यान दिये ही करते रहते हैं। इन कामों को पहले-पहल करते समय उनके प्रत्येक अङ्ग पर ध्यान दिया जाता है, किन्तु इन कामों के बार-बार करने से वे स्वभाव के अंग बन जाते हैं और अब बिना ध्यान दिए ही वे भली प्रकार से किये जाते हैं। हमारा पहिनना-ओढ़ना, रहन-सहन, बोलना-चालना, दूसरों के साथ व्यवहार प्रायः आदत के द्वारा ही सञ्चालित होते हैं, अतएव इनके लिये अधिक ध्यान की आवश्यकता नहीं होती। यदि हमारे साधारण जीवन के कामों में ही हमारा सारा ध्यान बँट जाय तो हम कोई महत्त्व का कार्य जीवन में न कर सकें। जब हम किसी गम्भीर समस्या के हल करने में लगे रहते हैं, तब भी हमारे जीवन की साधारण क्रियाएँ होती रहती हैं, उनमें कोई बाधा नहीं होती। यह आदत के कारण ही सम्भव होता है।

आदत का जीवन में महत्त्व

ऊपर जो कुछ आदत के विषय में कहा गया है, उससे आदत का महत्त्व मनुष्य जीवन को सफल बनाने में स्पष्ट है। आदत मनुष्य का अर्जित स्वभाव है। जब मनुष्य की आदत किसी विशेष प्रकार की पड़ जाती है, तो वह वैसा ही आचरण करने लगता है। जिस मनुष्य की खेलने की आदत पड़ जाती है उसे बिना खेले रहा नहीं जाता; जिसकी गप्प लगाने, चुगली करने, डींग मारने, झूठ बोलने, नशा करने की आदत पड़ जाती है वह व्यक्ति इन कामों के किए बिना नहीं रह सकता। इसी तरह भली आदतें भी स्वभाव का अंग बन जाती हैं। अध्ययन करने की आदत, व्यायाम करने की आदत, समाज-सेवा करने की आदत स्वभाव का अंग बन जाती है। मनुष्य का आदत के प्रतिकूल काम करना कठिन होता है। पशुओं के स्वभाव में भी आदत के द्वारा कैसे महत्त्व के परिवर्तन होते हैं, इसका एक सुन्दर उदाहरण विलियम जेम्स ने अपनी प्रिन्सिपल ऑफ साइकॉलॉजी नामक पुस्तक में दिया है—

एक बार अमेरिका में एक रेल की दुर्घटना हो गई। रेल के कुछ डिब्बे रेल की पटरी से उतर गये और कुछ टूट-फूट गये। इस रेलगाड़ी के एक डिब्बे में कुछ दंगल (सरकस) दिखानेवालों का दल जा रहा था। उनके साथ अनेक जानवर थे। रेल की दुर्घटना होने पर एक शेर का पिंजड़ा जिसमें

शेर बन्द था, उचट कर डब्बे से अलग जा गिरा। इससे पिंजड़े का दरवाजा खुल गया और शेर उसमें से बाहर निकल आया। पिंजड़े से बाहर निकलने पर यह शेर अपनी स्वतन्त्रता के लिए जंगल की ओर नहीं भागा। वह भौंचक्का-सा होकर इधर-उधर घूमने लगा, मानो स्वतन्त्र जीवन की जिम्मेदारियाँ उसे भाररूप मालूम हो रही थीं। उसकी इस प्रकार की घबड़ाहट के कारण उसे सरलता से पकड़ कर पिंजड़े में बन्द कर लिया गया।

रेसकोर्स में देखा गया है कि घोड़े जब एक बार तेजी से दौड़ने लगते हैं तो उनके सवारों के गिर जाने पर भी वे तब तक नहीं ठहरते जब तक कि वे अपने अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुँचते। वे बिना हाँके ही दौड़ते रहते हैं। इसी तरह सेना में बिगुल के बजने पर बिना सवार के ही घोड़े प्रतिदिन के अभ्यास के अनुसार काम करने लगते हैं।

जब पशुओं के स्वभाव में इतना परिवर्तन होता है तो मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन की महत्ता कहाँ तक दर्शायी जा सकती है। मनुष्य का स्वभाव आदतों का ही पुञ्ज है। मनुष्य की बहुत-सी आदतें उसकी युवावस्था के पूर्व ही पड़ जाती हैं। यदि उसके बाल्यकाल में भली आदतें डाली गईं तो उसका जीवन सफल हो जाता है। यदि इस काल में उसकी आदतें भली न पड़ीं तो उसका जीवन सफल होना कठिन होता है। पढ़ने-लिखने की आदत, समय पर काम करने की आदत, रहन-सहन और दूसरों के साथ व्यवहार करने की आदत बाल्यकाल में ही पड़ती है, अतएव इस काल को आदतों की दृष्टि से महत्व का समझना चाहिए। जो काम बालक बार-बार करता है, वह उसके स्वभाव का अंग बन जाता है। प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा बालकों में आदतें अधिक सरलता से डाली जा सकती हैं। प्रौढ़ लोगों में पहले कुछ आदतें पड़ी ही रहती हैं। ये आदतें नई आदतों के पड़ने में बाधक सिद्ध होती हैं। अतएव प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन में नई आदतें डालने के लिए उनकी पुरानी आदतों को मिटाना पड़ता है। एक यूनानी गाना-बजाना सिखानेवाले के विषय में कहा जाता है कि जब कोई ऐसा व्यक्ति उसके पास जाता था, जिसने गाना-बजाना किसी अर्धशिक्षित से सीखा हो, तो वह साधारण सीखनेवालों की अपेक्षा दूनी फीस लेता था। यह आदत के महत्व को दर्शाता है। किसी भी मनुष्य को बीस वर्ष के पश्चात् नई भाषा का सीखना कठिन होता है। बीस वर्ष की अवस्था तक मनुष्य का स्वभाव विशेष प्रकार का बन जाता है, पीछे इसमें परिवर्तन करना बड़ा कठिन होता है।

मनुष्य जिस काम का आदी हो जाता है, वह उसे साधारणतः प्रिय हो जाता है। यदि वह काम कठिन हुआ तो उसकी कठिनता जाती रहती है। मनुष्य जिस प्रकार के जीवन से अभ्यस्त हो जाता है, वह उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहता है। गुलाम लोगों को गुलामी करना ही अच्छा लगने लगता है। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वे एकाएक अपने स्वतन्त्र जीवन के उत्तरदायित्व को सँभाल न सकेंगे। उन्हें स्वतन्त्रता प्रिय नहीं वरन् अप्रिय दिखाई देगी। जो बन्दी आजन्म अपना जीवन कारागृह में व्यतीत करते हैं वे जब वहाँ से छूट जाते हैं तो उनके लिए स्वतन्त्र-जीवन बड़ा कठिन हो जाता है। कितने ही ऐसे बन्दी पुनः कारागृह में भरती होने के लिये प्रार्थना-पत्र देते हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय जब वहाँ का बेस्टायल नामक राजकीय कारागृह तोड़ दिया गया और उसके वन्दियों को एकाएक स्वतन्त्रता दे दी गई तो बहुत-से बन्दी जो आजन्म इस वन्दीगृह में रहे थे, स्वतन्त्र नहीं होना चाहते थे।

समाज की निम्न श्रेणियों में मनुष्य आदत के कारण अपना जीवन संतोष से व्यतीत करता है। मिल के मजदूर और मिल-मालिकों के जीवन की विषमता आदत के कारण ही बनी रहती है और मजदूरों में क्रान्ति की उत्तेजना पैदा नहीं होती। भारतवर्ष में शताब्दियों से अछूत असह्य दुःख को भोगते चले आये हैं; किन्तु आदत के कारण उनका असह्य जीवन उन्हें उतना दुःखदायी नहीं प्रतीत होता, जितना कि अन्य लोगों को प्रतीत होता है, जिन्हें ऐसे जीवन में रहने का अभ्यास नहीं है। जब राजा हरिश्चन्द्र को एक चाण्डाल के घर नौकरी करनी पड़ी तो चाण्डाल के जीवन की कठिनाइयाँ कितनी असह्य हैं, यह दिखाई पड़ा। बिरला ही उच्च श्रेणी का व्यक्ति ऐसे जीवन की कठिनाइयाँ सह सकता है।

किन्तु चाण्डाल को अपना जीवन दुःखदायी नहीं, सुखदायी ही प्रतीत होता है। यह अभ्यास का ही परिणाम है।

आदत मनुष्य की शक्ति का अपव्यय नहीं होने देती, अभ्यास के कारण मनुष्य दो-तीन काम एक साथ कर लेता है। जब कोई टाइप सीखनेवाला पहले-पहल टाइप करना सीखता है तो उसे एक-एक अक्षर पर ध्यान देना पड़ता है, तिस पर भी उससे भूलें हो जाती हैं। वही व्यक्ति जब अपने काम में अभ्यस्त हो जाता है तो वह अक्षरों पर बिना ध्यान दिये हुए भी ठीक-ठीक टाइप कर लेता है। उसकी दृष्टि टाइप किये जानेवाली लिपि पर रहती है।

पर उसके हाथ मशीन के समान काम करते रहते हैं। लेख लिखने में यही अभ्यास हमारा सहायक होता है। हमारे विचार पर ही हमारा ध्यान केन्द्रित रहता है। लिखने का काम अभ्यास के द्वारा अपने आप हो जाता है। यदि हमें अपनी हस्तलिपि, शब्दों के वर्ण-विन्यास, वाक्य की रचना आदि पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित करना पड़े तो लेख का लिखना असम्भव हो जाय। हमें विषय को सोचना तथा अपने विचारों को क्रम-बद्ध करना सम्भव ही न हो। इस तरह हम देखते हैं कि अभ्यास करने के कारण ही हम किसी भी जटिल काम को करने में समर्थ होते हैं। अभ्यास ध्यान की बचत करता है और भूलों में कमी होने का कारण होता है। जो रसोइयाँ अपने काम में अभ्यस्त नहीं है, वह अनेक प्रकार की भूलें रसोई बनाने में करता है। कभी रोटी जल जाती है, तो कभी कच्ची रह जाती है, कभी नमक कम हो जाता है तो कभी अधिक, कभी किसी वस्तु में पानी कम हो जाता है तो कभी किसी में अधिक। प्रतिदिन एक-न-एक भूल उससे होती ही रहती है, किन्तु आदत पड़ने के पश्चात् रसोई के विषय में उससे कोई भूल नहीं होती। कुशल व्यापारी अपने व्यापार में भूल नहीं करता और कुशल शिक्षक शिक्षा के कार्य में भूल नहीं करता। इसका अर्थ यह नहीं कि व्यापार अथवा शिक्षा के प्रत्येक कार्य पर वे लोग अपना पूरा ध्यान देते हैं। बिना ध्यान के ही उनके बहुत से काम ठीक-ठीक होते हैं। यह आदत का ही फल है। इस तरह हम देखते हैं कि जीवन को सफल बनाने में आदत का कितना महत्त्व का स्थान है।

आदत डालने के नियम

विलियम जेम्स ने आदत डालने के निम्नलिखित नियम बतलाये हैं। ये नियम आदत डालने में अवश्य उपयोगी सिद्ध होते हैं:—

(१) **सङ्कल्प की दृढ़ता**—जिस प्रकार की आदत हमें अपने जीवन में डालनी हो उसका दृढ़ संकल्प करना चाहिये। हमारा संकल्प जितना दृढ़ होगा हमारी आदत भी उतनी ही दृढ़ होगी। कहावत है कि भली प्रकार किसी काम को प्रारम्भ करना उसमें आधी सफलता प्राप्त करना है। अतएव जब हम किसी प्रकार की आदत अपने जीवन में डालना चाहें तो हमें उस आदत के महत्त्व को भली प्रकार से मन में बैठा लेना चाहिये। हम जितना ही किसी आदत का महत्त्व समझेंगे उतना ही उसे डालने के लिए लगन के साथ अभ्यास करेंगे। जब किसी भले काम को प्रारम्भ करें तो अच्छा है कि

सबके सामने प्रतिज्ञा करें कि हम अमुक भले काम को करते ही रहेंगे। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना हमारे संकल्प में दृढ़ता लाता है और जब कभी मानसिक कमजोरी के कारण हम अपने संकल्प से विचलित होने लगते हैं तो विचलित होने में रोकता है। बालकों में स्वाध्याय की आदत डालने के लिए एक विशेष दिन निश्चित किया जाता है, उस दिन उससे स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा कराई जाती है। इस प्रकार स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है।

(२) कार्यशीलता—जब मनुष्य आदत के डालने के लिए कोई दृढ़ संकल्प कर ले तो उसे उस संकल्प के अनुसार जितनी जल्दी हो सके काम प्रारम्भ कर देना चाहिए। अँग्रेजी में कहावत है कि भले इरादे मनुष्य को नरक का भागी बनाते हैं। यदि किसी मनुष्य के इरादे तो भले हों, किन्तु उनके अनुसार उसकी क्रियाएँ कुछ भी न हों तो वह अवश्य नरक का भागी होता है। संसार में कितने ही लोग ऐसे हैं जो नाटक में प्रदर्शित पात्रों के दुःखों के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाते हैं, किन्तु वे अपने नौकरों के दुःखों की परवाह नहीं करते। विलियम जेम्स ने रूस की दो महिलाओं की मनोरञ्जक मनोवृत्तियों का इस प्रसङ्ग में सुन्दर दृष्टान्त दिया है। ये महिलाएँ शहर के नाटकघरों में अपनी गाड़ी में बैठकर रात को नाटक देखने जाती थीं। वे कभी-कभी नाटक में प्रदर्शित पात्रों के कल्पित दुःखों के प्रति इतनी सहानुभूति दिखाती थीं कि अश्रुपात से उनके रूमाल भींग जाते थे, पर जाड़े के दिनों में उनका गाड़ी हाँकनेवाला नौकर गाड़ी पर ही रह जाया करता था। उसके पास काफी कपड़े न होने के कारण वह ठण्ढ के मारे सिकुड़ अथवा मर जाता था।

जो व्यक्ति बड़े-बड़े इरादे करते हैं, किन्तु उनके अनुसार कार्य प्रारम्भ नहीं कर देते वे उन रूसी महिलाओं के सदृश व्यर्थ ही अपने हृदय के उद्गार निकालते हैं। मनुष्य को अपने किसी सुन्दर विचार को खाली नहीं जाने देना चाहिए। निष्फल विचार मनुष्य के चरित्र को कमजोर बनाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक सफल विचार मनुष्य के चरित्र को दृढ़ बनाता है।

(३) संलग्नता—किसी रुचि को आरम्भ करके उसे थोड़ी ही देर के पश्चात् छोड़ न देना चाहिए। आदत किसी काम को बार-बार करने से उत्पन्न होती है। यदि हम कुछ दिन तक एक आदत के डालने के लिए अभ्यास करें, फिर एक-दो दिन के लिए ढिलाई कर दें तो हमारा पहले का परिश्रम भी व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार सूत का पिंडा लपेटते समय यदि वह हाथ से छूट जाय तो एक बार छूट जाने से कई मिनटों का परिश्रम व्यर्थ हो

जाता है, उसी तरह जब हम किसी प्रकार की आदत डालने के लिए कोई काम पाँच-सात दिन करते हैं किन्तु एक दिन मानसिक कमजोरी के कारण उसे छोड़ देते हैं, तो हम अपनी इच्छित आदत डालने में समर्थ नहीं होते। आदत डालने की प्रारम्भिक अवस्था में काम में नागा कभी न होना चाहिए।

(४) **अभ्यास**—आदत अभ्यास का परिणाम है। जो आदत हमारे जीवन में पड़ गई है उसे जीवित रखने के लिए प्रतिदिन के अभ्यास की आवश्यकता है। भली आदतें कठिनता से जीवन में डाली जाती हैं, किन्तु सरलता से वे छूट जाती हैं; बुरी आदतें सरलता से जीवन में पड़ जाती हैं और कठिनता से छूटती हैं। जिन आदतों को हम अपने लिए लाभकारी समझते हैं, उनके रखने के लिए हमें नित्यप्रति अभ्यास करना चाहिए। नित्यप्रति व्यायाम की आदत कठिनता से पड़ती है, किन्तु सरलता से छूट जाती है। अतएव जो लोग इस आदत को बनी रहने देना चाहते हैं, वे यात्रा के समय भी या दूसरे की मेहमानी अवस्था में भी व्यायाम कर लेते हैं। कहावत है कि बैठे से बेगार भली। यदि हम किसी भी उपयोगी आदत को मिटाने नहीं देना चाहते तो उस आदत के जीवन के लिए उसके अनुसार काम करना चाहिए। चाहे किसी प्रकार का अन्य लाभ हो अथवा नहीं। भले काम के करने से इतना लाभ तो अवश्य होता है कि ऐसे काम करने की आदत दृढ़ हो जावेगी। जो लोग इस कथन की महत्ता समझते हैं कि संसार का सबसे स्थायी लाभ चरित्र-लाभ है, उन्हें अपने चरित्र को भला बनाये रखने के लिए ही शुभ कार्य करना चाहिए।

बुरी आदतें

आदतें दो प्रकार की होती हैं, एक भली और दूसरी बुरी। भली आदतें मनुष्य के सद्गुण कहे जाते हैं और बुरी आदतें दुर्गुण। भली आदतें मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाती हैं, उसके चरित्र का विकास करती हैं; बुरी आदतें उसकी इच्छा-शक्ति को कमजोर करती हैं, उसके चरित्र को दूषित बनाती हैं। भली आदतें प्रयत्न के द्वारा जीवन में डाली जाती हैं और प्रयत्न से ही वे बनी रहती हैं; बुरी आदतें अपने-आप आ जाती हैं पर उनके निकालने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। जो आदतें मनुष्य के विवेक को बढ़ाती हैं वे भली हैं, जो उनमें आलस्य और पाशविकता बढ़ाती हैं वे बुरी हैं। अच्छी आदतें मनुष्य में मनुष्यत्व लाती हैं, बुरी आदतें उनमें पशुता की वृद्धि करती हैं। उनको सेवक बना के रखना भला है, मालिक बनाकर रखना बुरा है।

जो आदतें हमारी सेविका हैं वे समय पर काम आती हैं। जब तक हम उनको रखने का प्रयत्न करते हैं वे तब तक रहती हैं। बुरी आदतें हमें अपना सेवक बना लेती हैं, वे हमें कष्टों में डालती हैं और बड़े प्रयत्न करने पर ही हम उनसे मुक्त होते हैं। चुगली करने, गाली देने, देर से सोकर उठने, तम्बाकू पीने, नशा करने, गन्दगी से रहने, उधार सामान खरीदने आदि की आदतें अनजाने ही पड़ जाती हैं, पर उनसे मुक्त होना कठिन होता है। इस प्रकार की आदतों के प्रति मनुष्य को सदा सतर्क रहना पड़ता है। असावधानी से रहने से कोई न कोई बुरी आदत अपने-आप अनजाने पड़ जाती है।

जटिल आदतों की उत्पत्ति

कई एक बुरी आदतें मन में किसी विशेष प्रकार की गाँठ के कारण पड़ जाती हैं। ये आदतें जटिल होती हैं। मनुष्य इन आदतों को यदि छोड़ना चाहता है तो भी नहीं छोड़ पाता। प्रत्येक बुरी आदत साधारण प्रयत्न से हटाई जा सकती है। जिस आदत को प्रकाशित होने का अवसर नहीं दिया जाता वह कमजोर हो जाती है, किन्तु जटिल आदत इस तरह कमजोर नहीं होती। इस प्रकार की आदत को छोड़ने के लिये मनोविश्लेषण की आवश्यकता होती है। कितने ही धनी घर के बालकों में छोटी-छोटी चीजों की चोरी करने की आदत होती है। वे इसलिए चोरी नहीं करते कि उस चीज की आवश्यकता उन्हें है, किन्तु उन्हें इस प्रकार के काम में एक प्रकार का मजा आता है। इस प्रकार की आदत को "क्लिप्टोमेनिया" कहते हैं। यह आदत मार-पीट से नहीं छूटती, मनोविश्लेषण से ही छूटती है। इसी तरह कितने ही लोगों में डींग मारने, झूठ बोलने, लड़ाई-झगड़ा करने आदि की आदतें मन में उपस्थित गाँठों के परिणाम-स्वरूप होती हैं। ऐसी अनेक गाँठों की खोज नवीन मनोविज्ञान ने की है।

नवीन मनोविज्ञान ने आदतों के पड़ने के विषय में हमारी प्राचीन धारणाओं में एकदम परिवर्तन कर दिया है। मनोविज्ञान के पुराने विचारों के अनुसार आदत की उत्पत्ति बार-बार अभ्यास से होती है। जिस घटना के संस्कार हमारे मन में बार-बार पड़ते हैं, हमारी आदत उस घटना के अनुरूप पड़ जाती है, अर्थात् हमारे मन पर वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। हमारी काम करने की इच्छा भी उन्हीं संस्कारों के अनुसार होती है, जिनके अनुसार हमने पहले काम किया है। जिस प्रकार बार-बार घर्षण से जड़-पदार्थों में स्थायी-संस्कार पैदा हो जाते हैं, उसी तरह किसी काम के बार-बार करने से उसके करने की आदत पड़ जाती है। अतएव बालक से बार-बार किसी काम का कराया जाना ही उसमें

उस काम को करने की आदत डालने के लिए पर्याप्त समझा जाता था। इसी तरह यदि किसी बुरी आदत को मिटाना हो तो उसकी विपरीत आदत डालने के लिए बालक से नित्य अभ्यास का कराना पर्याप्त समझा जाता था।

नवीन मनोविज्ञान ने उपर्युक्त दृष्टिकोण में पूर्णतः परिवर्तन कर दिया है। इस विज्ञान के कथनानुसार प्रत्येक आदत की जड़ किसी संवेग[1] में रहती है। इस संवेग के उत्तेजित होने पर आदत से होनेवाले काम किये जाते हैं। आदत एक प्रकार की मशीन है। यह मशीन अपने-आप नहीं चल सकती। इसके चलाने के लिए स्टीम अथवा बिजली की शक्ति की आवश्यकता है। संवेग उस शक्ति का उत्पादन करते हैं जो आदत को क्रियमाण करती है। जिस समय आदत के पीछे काम करनेवाला तथा उसे शक्ति देनेवाला संवेग शिथिल हो जाता है उस समय आदत भी शिथिल हो जाती है। इस तरह भली आदत भले संवेगों के अभाव में नष्ट हो जाती है। नवीन मनोविज्ञान के अनुसार बुरी आदतों का कारण अभ्यास नहीं है, किसी एक विशेष प्रकार की मानसिक जटिलता है। बुरी आदतों के मिटाने के लिए चाहे हम कितना ही विपरीत अभ्यास बालक द्वारा क्यों न करायें, वह तब तक न मिटेगी जब तक उससे सम्बन्ध रखनेवाला विकृत संवेग[2] नष्ट नहीं हो जाता, अथवा मानसिक ग्रन्थि खुल नहीं जाती। इस सम्बन्ध में हेडफील्ड महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

"मानसिक चिकित्सा में देखा जाता है कि जब किसी भावना-ग्रन्थि को पूर्णतः नष्ट कर दिया जाता है तो तत्सम्बन्धी बुरी आदत तुरन्त वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे बिजली का प्रकाश बिजली के प्रवाह की धारा तोड़ देने पर समाप्त हो जाता है। कारण के हटा देने पर कार्य का अन्त अपने-आप हो जाता है। यदि आदत मानसिक ग्रन्थि के हटाने पर भी बनी रहे, अर्थात् हटने में समय ले तो हमें यह समझना चाहिए कि मानसिक ग्रन्थि अभी तक विद्यमान है, वह पूर्णतया नष्ट नहीं की गई है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, धार्मिक परिवर्तनों में देखा जाता है। महान् से महान् पापी एक दिन में किसी अपने विशेष अनुभव से पुण्यात्मा बन जाता है और एकाएक ऐसी आदतों को छोड़ देता है जो आजन्म की उसकी साथिनी थी। मनुष्य के संवेगात्मक जीवन में परिवर्तन होने पर उसकी बुरी आदतें उसे सदा के लिये छोड़ जाती हैं। बुरी आदतों को मिटाने के लिए सम्भव है कि मानसिक चिकित्सक को उस ग्रन्थि

---

1. Emotion 2. Complex emotion.

को खोजने में, जो उस आदत का कारण है, अनेक सप्ताह अथवा महीने लगें, किन्तु एक बार उस मानसिक ग्रन्थि को ढूँढ़ लेने पर (जो उस आदत की जड़ है) और उसके निराकरण होने पर बुरी आदत एकाएक नष्ट हो जाती है। यह नियम न केवल कुछ आचरण की आदतों के लिए लागू होता है वरन् शारीरिक आदतों, दुःखों की अनुभूति और अकारण भय की आदतों के लिए भी लागू होता है। नैतिक सुधार में भी उक्त मनोवैज्ञानिक नियम कार्य करता है।"*

उक्त सिद्धांत का समर्थन अनेक ऐसे उदाहरणों से किया जा सकता है, जिन्हें मनोविश्लेषकों ने मानसिक चिकित्सा के समय प्राप्त किया है। हेडफील्ड महाशय की परिचित एक महिला ने विलियम जेम्स के भली आदत डालने के चार नियमों का अच्छी तरह से पालन किया। इन आदतों के द्वारा वह दूसरों के प्रति व्यवहार करने में अपने-आप का सुधार करना चाहती थी। उसके शिष्टाचार के नियमों के पालन के परिणामस्वरूप उसके व्यवहार में बाहरी रूप से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। वह अपने व्यवहार को अपनी चाची के प्रति भी सुधारना चाहती थी, जिसके प्रति उसके मन में घृणा की जटिल ग्रंथि थी। उसके अभ्यास से वह अपने आप को चाची के प्रति अशिष्ट व्यवहार करने से बहुत कुछ रोक सकी, किन्तु जिस दिन चाची मर रही थी उस दिन उसके मरने के विषय में उसने बात-बात में अनुचित शब्दों का प्रयोग कर ही दिया। यह दिन इस महिला ने थिएटर जाने के लिए निश्चित किया था। चाची के मरने के कारण उसका यह कार्य रुक गया, अतएव वह एकाएक कह उठी, 'आखिर चाची ही तो ठहरी'; अर्थात् रङ्ग में भङ्ग डालना चाची का स्वभाव था, उसने उसे मरते समय भी प्रदर्शित किया।

एक दूसरा उदाहरण भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, जिसकी चिकित्सा हेडफील्ड महाशय ने की। एक मनुष्य को रात के तीन बजे जग जाने की आदत पड़ गई थी। वह स्वयं उस समय सोना चाहता था, किन्तु अपनी इच्छा के प्रतिकूल वह जग जाता था। उस आदत का कारण खोजने से पता चला कि उसकी जड़ इस व्यक्ति के बड़े दुःखदायी अनुभव में थी। इस

---

*Psychology and Morals. P. 49

सेण्टपाल और वाल्मीकि ऋषि का जीवन हेडफील्ड महाशय के उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थक है। दोनों व्यक्ति एक ही बार के अनुभव से पापाचरण को छोड़कर महात्मा बन गये। उनके संवेगों में परिवर्तन होने पर न केवल उनके विचारों में परिवर्तन हो गया, वरन् उनके आचरण में भी परिवर्तन हो गया।

व्यक्ति को कई वर्ष पेचिश की बीमारी हुई थी। इस बीमारी के कारण एक दिन उसकी तीन बजे रात को नींद टूट गई और उसके पेट में इतना दर्द हुआ कि उसे ज्ञात होता था मानो वह मरने जा रहा है। वह पीछे इस मृत्यु के भय को और पेचिश के दर्द को भूल गया। किन्तु उस संवेगात्मक अनुभव का सम्बन्ध रात के तीन बजे के समय से हो गया था। अतएव जब रात के तीन बजते थे, उसकी मानसिक ग्रन्थि क्रियमाण हो जाती थी जिसके कारण वह सो नहीं सकता था।*

जिस तरह विशेष प्रकार के आचरण की आदत का कारण कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है, उसी तरह विशेष प्रकार की शारीरिक आदतों का भी कारण कोई मानसिक ग्रन्थि होती है। एक कुमारी को कन्धे की पीड़ा की आदत पड़ गई थी। वह किसी विशेष समय अपने कन्धों में असह्य पीड़ा का अनुभव करती थी। जब उसके मन में काम वासना जाग्रत होती तो वह अपने कन्धे में भारी पीड़ा अनुभव करती। वह न तो इसका कारण जानती और न उसके शरीर की परीक्षा से ही दर्द का पता लगता था। अन्त में वह मनोविश्लेषक हेड-फील्ड महाशय के पास गई। उसके मनोविश्लेषण से इस पीड़ा की जड़ उसके बचपन के एक संवेगात्मक अनुभव में पाई गई। एक बार इस कुमारी को अपने बचपन में कन्धे में बड़े जोर की चोट लग गई थी। इस चोट के लगने पर एक मनचली दाई उसे एक ओर अनेक प्रकार से सान्त्वना देती थी और दूसरी ओर वह उसकी कामेच्छा को भी जाग्रत करने की चेष्टा करती थी। इस तरह इस कुमारी के कन्धे के दर्द का सम्बन्ध कामभाव से हो गया। अतएव जब उसकी कामवासना उत्तेजित होती, कन्धे के दर्द की भी उसे अनुभूति होती थी*। नवीन मनोविज्ञान का यह अमिट सिद्धान्त है कि यदि दो घटनाओं की अनुभूति एक ही साथ हो, तो जब भी एक प्रकार के अनुभव के संस्कार उत्तेजित होते हैं तो दूसरे प्रकार के अनुभव के संस्कार भी उत्तेजित होते हैं, चाहे ये अनुभव एक दूसरे से कितने ही विपरीत क्यों न हों। इस तरह दो विरोधी भावनाओं की जाग्रति वैसे ही एक साथ हो सकती है जैसे दो एक सी भावनाओं की जाग्रति एक साथ हो सकती है।

किसी-किसी व्यक्ति के मन में किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने से, अथवा किसी विशेष व्यक्ति को देखने से विशेष प्रकार की उत्तेजनाएँ होती हैं। इनका कारण उसके मन में उपस्थित संवेग अथवा मानसिक-ग्रन्थि होती

---

* **Psychology and Morals. P. 47.**

है। इस ग्रन्थि का कारण उसका एक अथवा अनेक बार का संवेगात्मक अनुभव होता है। अपने प्रेमी को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के मन में प्रेम के भाव स्फुरित होते हैं। उसके समक्ष ऐसे भावों का आना स्वाभाविक हो जाता है। इसी तरह जिस व्यक्ति को हम नहीं चाहते उसके प्रति असद्भावों का मन में आना इतना स्वाभाविक हो जाता है कि प्रयत्न करने पर भी ऐसे विचार नहीं रुकते। किसी के प्रति बुरे विचारों का रोकना तभी सम्भव है जब हम उसके प्रति अपने संवेगों में परिवर्तन कर दें। कभी-कभी हमारे एक व्यक्ति के प्रति मनोभाव, दूसरे व्यक्ति के ऊपर आरोपित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम अपनी इच्छा के विरुद्ध इस व्यक्ति के प्रति अनुचित व्यवहार कर बैठते हैं, जिससे हम अपनी ही बड़ी क्षति कर लेते हैं, नवीन मनोविज्ञान के अध्ययन से ऐसे अनेक उदाहरणों का पता चलता है, जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा के प्रतिकूल किसी अभ्यास के कारण नहीं, वरन् किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण आचरण करता है, अथवा सद्विचार मन में लाता है। एक मनोरञ्जक उदाहरण इस विषय में उल्लेखनीय है--

एक पुरुष जो अस्पताल में नर्स का काम करता था, एक महिला से मिला, जो स्वयं नर्स का काम करती थी। यह व्यक्ति इस महिला को प्यार करता था तथा उससे ब्याह करना चाहता था। महिला से मैत्री बढ़ने के समय उसे एक विचित्र प्रकार की उत्तेजना की अनुभूति होती थी। जब-जब यह महिला उसके समक्ष आती और वह उसके मुँह की ओर देखता तो उसके मन में उस महिला के गाल पर एक घूँसा लगा देने की बड़ी प्रबल उत्तेजना होती थी। जिस महिला का हृदय कोई अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है उसके गाल पर घूँसा लगा देने से उसके हृदय पर वह कैसे विजय प्राप्त कर सकता है? अतएव उसने अपने इस पागलपन के विचारों का कारण जानने की चेष्टा की। वह मनोविश्लेषक के पास गया। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके इस प्रकार की उत्तेजना की अनुभूति की जड़ उसके एक कटु अनुभव में थी। एक समय जब वह किसी अस्पताल में परिचारिका (नर्स) का काम कर रहा था, उसी काम के लिए एक महिला नर्स आई और उसने उसकी नौकरी छुड़ाकर उस काम को स्वयं ले लिया। जब वह उससे पीछे मिला तो उसने नर्स से यह कहा--"यदि मैं स्त्री होता तो तुम्हारे गाल पर एक घूँसा लगाता।" उस व्यक्ति ने उस समय नर्स के गाल में घूँसा लगाने की प्रवृत्ति को दबा दिया और वह इस घटना को बिलकुल भूल गया। क्योंकि यह घटना उसके मानहानि की घटना थी, अतएव बड़ी दुःखद थी। किन्तु उस दुःख की

अनुभूति के कारण उसके मन में एक भावना-ग्रन्थि पड़ गई, जो उससे बरबस काम कराने की उत्तेजना के रूप में प्रकाशित हुई। जिस महिला ने इस व्यक्ति को अपमानित किया था, वह नर्स थी और जिस महिला को यह प्यार करता था वह भी नर्स थी। अतएव अन्य विरोधों के रहते हुए भी वह अपनी प्रेमिका के गाल में घूँसा लगाने की अनुभूति करता था। जब उसकी पुरानी कटु अनुभवजनित भावना-ग्रन्थि खुल गई तो उसकी अवाञ्छनीय उत्तेजना का भी अन्त हो गया।*

प्रश्न

१—आदत और मूलप्रवृत्तियों में क्या भेद है? उदाहरण देकर समझाइए।

२—आदत के काम के लक्षण क्या हैं? क्या आदत के कामों में ध्यान की पूर्ण आवश्यकता नहीं होती?

३—आदत का आधार क्या है? यह कहाँ तक सत्य है कि किसी भी कार्य को बार-बार दुहराने से उसकी आदत पड़ जाती है?

४—विलियम जेम्स के आदत डालने के नियमों को उदाहरण देकर समझाइए।

५—आदत का मानव-जीवन में क्या महत्त्व है? यह कहाँ तक सत्य है कि मनुष्य आदतों का पुञ्ज है?

६—रूसो महाशय के इस मत की समालोचना कीजिए कि इमील (आदर्श बालक) आदत नहीं डालने की एक मात्र आदत डालेगा।

७—आदतों का संवेगों के साथ क्या सम्बन्ध है? उदाहरण देकर समझाइए।

८—जटिल आदतें क्या हैं? वे मनुष्य-जीवन में कैसे पड़ जाती हैं? उनके निराकरण का उपाय क्या है?

९—किसी छोटे लड़के को सिगरेट पीने की आदत पड़ गई है, इसका क्या कारण हो सकता है? उसे इस आदत से कैसे मुक्त किया जा सकता है?

१०—"आदत सेविका के रूप में भली होती है किन्तु स्वामी के रूप में बुरी होती है"—इस कथन की सार्थकता उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

---

*Hadfield—Psychology and Morals. P. 35.

आठवाँ प्रकरण

संवेग[1]

संवेग का स्वरूप

संवेग मन की वह भावात्मक वृत्ति[2] है जो बड़ी तीव्रता से मन में उठती है। जब मनुष्य के मन में किसी प्रकार का संवेग पैदा होता है तो वह अपने में अनेक प्रकार के भावों और क्रियाओं की अनुभूति करता है। संवेग सदा किसी बाह्य पदार्थ की ओर लक्षित रहता है। संवेग का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति का साधारण अनुभव है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारी प्रत्येक चित्तवृत्ति के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक[3], क्रियात्मक[4] और भावात्मक[5]। भावात्मक पहलू संवेगों का कारण होता है। संवेग मनुष्यों में ही नहीं पाये जाते, पशु-पक्षियों में भी पाये जाते हैं। ये जन्मजात मनोभाव हैं।

संवेगों की विशेषताएँ

मनोवैज्ञानिकों ने संवेग की अनेक विशेषताएँ बताई हैं, उनमें से निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख हैं—

(१) संवेग वैयक्तिक अनुभव है।
(२) संवेगों का प्राण भाव है।
(३) संवेग व्यापक अनुभव है।
(४) संवेगों का सम्बन्ध किसी क्रियात्मक मनोभाव अर्थात् मूल प्रवृत्ति से होता है।
(५) संवेग किसी न किसी विषय पर आरोपित होता है।

संवेगों की वैयक्तिकता—संवेग एक ऐसा अनुभव है जिसके बारे में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही जान सकता है। दूसरे व्यक्ति को किसी व्यक्ति के मन में चलनेवाले संवेग का पता लगाना और अत्यधिक कठिन होता है। एक ही परि-स्थिति में दो व्यक्तियों के संवेग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं; अर्थात् ज्ञान का विषय

---

1. Emotion. 2. Feeling aspect. 3. Cognitive. 4. Conative 5. Affective.

एक ही होने पर दो व्यक्तियों के मन में अपने पूर्व संस्कारों तथा इच्छाओं के अनुसार उस विषय का अनुभव एक को सुखद और दूसरे को दुःखद हो सकता है। मान लीजिये दो बालक एक ही समय पास-पास खड़े होकर फुटबाल का खेल देख रहे हों। अचानक खेलनेवालों में से एक लड़का फुटबाल में लात मारता है और वह गोल में चली जाती है। इसे देखकर दर्शक बालकों में से एक खुशी के मारे उछल पड़ता है और दूसरा लड़का लज्जा के मारे अपना सिर नीचा कर लेता है। इस तरह हम देखते हैं कि बाहरी अनुभव एक ही होने पर भी दो व्यक्तियों के मन में दो प्रकार के संवेग पैदा होते हैं।

दो मित्र आपस में बातचीत कर रहे हैं। इतने में डाकिया उन्हें एक तार लाकर देता है। तार देखकर एक के मन में कोई संवेग नहीं उठता, किन्तु दूसरा शोकसागर में डूब जाता है। कोई विशेष घटना किसी व्यक्ति को कहाँ तक उद्विग्न करेगी, इसका अनुमान लगाना दूसरे को कठिन है। कितने ही लोग साधारण हानि और शारीरिक दुःखों से इतने उद्विग्न-मन हो जाते हैं कि जिसका अनुमान लगाना कठिन है। कितने ही दूसरे लोग बड़ी-बड़ी हानियों के होने पर भी अनुद्विग्न-मन रहते हैं। रणयोद्धा हाथ-पैर कट जाने पर भी दृढ़ता के साथ दुःख सहन करते हैं। दुर्बल मन के लोग रात के समय अँधेरे में क्षणभर भी अकेले नहीं रह सकते। भय के मारे उनका दम छुटा जाता है, पत्तों की खड़खड़ाहट ही उनका प्राण निकाल लेती है। इस प्रकार का अनुभव उनकी मानसिक विशेषता के कारण होता है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के संवेग वैयक्तिक अनुभव हैं और वे उनकी मानसिक विशेषता के ऊपर निर्भर रहते हैं। संवेगों का इस प्रकार वैयक्तिक होने के कारण उनका वैज्ञानिक अध्ययन करना कठिन हो जाता है। जब तक संवेगों का किसी प्रकार प्रकाशन न किया जाय, उनका अध्ययन करना कैसे सम्भव हो सकता है? कितने ही लोग न तो अपने हाव-भाव से और न अपनी बात-चीत से ही संवेगों का परिचय देते हैं, वे अपने संवेगों का प्रकाशन इतनी कुशलता से दबा लेते हैं कि उनके मन की वास्तविक स्थिति जानना असम्भव हो जाता है। कितने दूसरे ही लोग जो संवेग उनके मन में वास्तव में नहीं हैं उनका परिचय अपनी बाहरी चेष्टाओं से कराते हैं। किसी व्यक्ति की मृत्यु का समाचार सुनकर उनके हृदय में दुःख न होने पर भी वे आँसू बहा देते हैं। इसी तरह किसी विशेष समाचार को पाकर दुःखी होने पर भी वे दूसरों के सामने प्रसन्नचित्त दिखाई देते हैं और ऐसे मुस्कराते रहते हैं मानों, उनके हृदय में कोई वेदना ही नहीं। मनुष्य के संवेग के विषय में ठीक-ठीक अनुमान

करना कितना कठिन है, यह प्रत्येक साहित्यिक और संसार का अनुभवी व्यक्ति जानता है।

संवेगों की भावात्मकता—संवेग भावात्मक मनोविकार हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से भाव[1] दो प्रकार के होते हैं—दुःखात्मक और सुखात्मक। प्रत्येक मनोवेग के साथ दुःखात्मक अथवा सुखात्मक भाव विद्यमान रहता है। साधारणतः प्रत्येक अनुभव में भी भावात्मक मनोवृत्ति ही उपस्थित रहती है। इसीके कारण कोई भी अनुभव हमें भला या बुरा लगता है। कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो राग और द्वेष से मुक्त हो। रागद्वेषात्मक वृत्तियाँ प्रत्येक ज्ञान की सहकारी वृत्तियाँ हैं। हम जिस विषय में जितने ही अधिक संलग्न होते हैं, उसके प्रति हमारा राग और द्वेष उतना ही प्रबल हो जाता है। जब तक किसी विषय के प्रति हमारे भाव सामान्य रहते हैं तब तक संवेग की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु जब ये भाव प्रबल हो जाते हैं तो मन में संवेग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संवेग वास्तव में प्रबल भावों का ही दूसरा नाम है।

भाव मन का एक विशेष प्रकार का अनुभव है। जिस प्रकार ज्ञान और क्रिया को किसी दूसरे प्रत्यय[2] के द्वारा नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार भाव को भी किसी दूसरे प्रत्यय के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। कितने ही मनोवैज्ञानिक भावों को विशेष प्रकार की संवेदना कहते हैं। ये संवेदनाएँ शरीर में होनेवाले विकारों के परिणाम हैं। इस प्रकार भावों और संवेदनाओं का ऐक्य करना अनुचित है। संवेदनाएँ[3] शरीर की अवस्था तथा बाह्य उत्तेजना पर निर्भर होती हैं। भाव शरीर की अवस्था और बाह्य उत्तेजना पर निर्भर नहीं रहता, वह इनसे स्वतन्त्र मानसिक अनुभव है। संवेदनाएँ भावों का कारण अवश्य बन जाती हैं, जिस प्रकार कि कल्पनाएँ भावों का कारण बन जाती हैं, किन्तु संवेदनाएँ और भाव दो पृथक्-पृथक् वस्तु हैं।

यदि हम भावों को स्वतन्त्र मानसिक अनुभव मानते हैं तो हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई न होगी कि संवेग भी स्वतन्त्र मानसिक अनुभव हैं। वे शारीरिक क्रियाओं पर निर्भर नहीं हैं। कितने ही मनोवैज्ञानिक संवेगों को शरीर में होनेवाले विकारों[4] का एक विशेष प्रकार का परिणाम मानते हैं। उनके कथनानुसार ये शरीर के अन्दर होनेवाली क्रियाओं की संवेदना मात्र हैं। यह सिद्धान्त संवेगों के भावात्मक होने के प्रतिकूल है। हम आगे चलकर इसकी सत्यता पर विचार करेंगे।

---

1. Feeling. 2. Concept. 3. Sensations. 4. Changes.

संवेगों की व्यापकता—संवेग पशु, पक्षी, मनुष्य आदि प्राणिमात्र को होता है। मनुष्यों में बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, शिक्षित और अशिक्षित सभी को संवेग की अनुभूति होती है। किसी भी जीवधारी का संवेग का अनुभव न करना असम्भव है। विचार से संवेगों का नियन्त्रण किया जाता है, अतएव जिस व्यक्ति के जीवन में विचार की मात्रा जितनी अधिक है उसके संवेग उतने ही अधिक नियन्त्रित रहते हैं। बालक के संवेग प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक वेग के साथ प्रकाशित होते हैं। उनका जीवन प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक संवेगात्मक होता है। इसी तरह अशिक्षित लोगों के संवेग, चिन्तनशील व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक उग्र होते हैं। स्त्रियों के संवेग पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्रबल होते हैं। युंग महाशय के कथनानुसार स्त्री और पुरुष में जन्मजात संवेग सम्बन्धी मानसिक भेद है। किसी विशेष परिस्थित में पड़कर स्त्रियाँ उतनी अनुद्विग्न-मन नहीं रह सकतीं, जितने कि साधारण पुरुष रहते हैं। जो व्यक्ति जितना ही आत्म-निरीक्षण करता है उसके संवेग उतने ही शिथिल होते हैं। संवेगों का पूर्णतः अभाव होना तो सम्भव ही नहीं। कितने ही लोगों के संवेग उनके विचारों के द्वारा बहुत काल तक दबे रहते हैं। इस प्रकार संवेगों के दबे रहने से उनकी शक्ति क्षीण नहीं होती, अपितु और बढ़ जाती है। अतएव किसी विशेष अवसर पर ये संवेग विचार का प्रतिबन्ध तोड़ देते हैं और मनुष्य को पागल जैसे व्यवहार करने के लिए विवश कर देते हैं। संवेगों का नियन्त्रण उसी व्यक्ति के लिए सम्भव है जो अपने मनोभावों को रोककर उनकी शक्ति को किसी न किसी प्रकार योग्य रीति से व्यय करने का मार्ग निकाल लेता है।

संवेगों का क्रियात्मक प्रवृत्ति[1] से सम्बन्ध—प्रत्येक संवेग की सहगामी विशेष प्रकार की क्रियात्मक प्रवृत्ति होती है। स्टाउट महाशय के कथनानुसार यह क्रियात्मक प्रवृत्ति ही संवेग की शक्ति का मूल कारण है। इसके अभाव में संवेग निर्जीव पदार्थ हो जाता है। जब कुत्ता अपना खाना खाता रहता है और उसका खाना हम उससे अलग करना चाहते हैं तो वह काटने को दौड़ता है। इसी तरह गाय अपने बछड़े के पास किसी को जाते देख मारने दौड़ती है। कुत्ता और गाय क्रोध के आवेश में इसलिए ही होते हैं कि उनके मन में एक तीव्र प्रवृत्ति काम करती रहती है, जिसका विरोध हम अपने आचरण से करते हैं। कुत्ते की भोजन की इच्छा पर जब आघात पहुँचता है तो वह उद्विग्न हो उठता है। इसी प्रकार जब गाय की उसके बच्चे को प्यार करने

1. Conative urge.

की इच्छा पर आघात होता है तब वह उद्विग्न हो उठती है। जो व्यक्ति जिस इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होने पर सुखी होता है वह उसके नष्ट होने पर दुःखी हो जाता है। प्रबल दुःख और सुख का अनुभव करना ही संवेगों का अनुभव करना है। संवेग दो ही प्रकार के होते हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक।

जैसे पहले कहा जा चुका है, मनुष्य की प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ-साथ एक विशेष प्रकार का संवेग रहता है, जिसकी अनुभूति उस मूल प्रवृत्ति के उत्तेजित होने पर रहती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ चौदह हैं। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का सहगामी एक विशेष प्रकार का संवेग रहता है।

संवेगों का आरोपण[1]—संवेग किसी न किसी पदार्थ के प्रति प्रकट किया जाता है, यह पदार्थ चाहे दृश्य हो अथवा काल्पनिक। संवेग के एक पदार्थ द्वारा किसी प्रकार उत्तेजित होने पर उसके अभाव में वह किसी दूसरे पदार्थ पर आरोपित हो जाता है। मान लीजिए, दो कुत्ते आपस में लड़ रहे हैं। उनमें से एक भाग उठा और अचानक कोई दूसरा ही कुत्ता अथवा आदमी सामने आ गया तो वह सामनेवाले को ही काटने लग जायगा। देखा गया है कि जब रात के समय कोई कुत्ता किसी जानवर को देखकर जोर से चिल्लाता है और आस-पास के कुत्ते भूँकते हुए उसकी मदद को पहुँचते हैं, पर जब वे आगन्तुक को अपने सामने नहीं पाते तो उस बुलानेवाले कुत्ते को ही काटने लग जाते हैं। जब दो व्यक्ति आपस में झगड़ा करते हैं तो तीसरा व्यक्ति, जो उनके क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करता है, पिट जाता है। लड़नेवाले का क्रोध विरोधी के अभाव में किसी दूसरे पर ही उतर जाता है। जब खानसामा साहब के द्वारा डाँटा जाता है तो वह क्रोध को घर पर आकर अपनी निर्दोष स्त्री के ऊपर उतारता है। अपने साहब द्वारा डाँटे जाने से उसके मन में क्रोध का संवेग पैदा होता है। किन्तु वह संवेग साहब के प्रति दिखलाया नहीं जा सकता, अतएव निर्दोष स्त्री के प्रति दिखलाया जाता है। हिन्दू-मुसलमान दंगों की जड़ इसी प्रकार की मानसिक परिस्थितियों में है। जब भारतवर्ष की जनता सरकार के किसी काम से क्रोध के आवेश में आ गई और जब वह इस क्रोध को उचित पात्र के प्रति प्रकाशित न कर सकी तो यह दलबन्दी करके आपस में ही लड़ने लगी। महात्मा गाँधी का जनता को सरकार के प्रति उत्तेजित करना और एकाएक उनकी उत्तेजना को उसके प्रथम लक्ष्य की ओर प्रकाशित होने से रोकना ही हिन्दू-मुसलिम दंगे का कारण बन

1. Displacement of emotions.

गया। १६२१ के पहले हिन्दू-मुसलिम दंगे सुने नहीं जाते थे, किन्तु उसके पश्चात् ये भारतीय-जीवन के सामान्य अङ्ग हो गये हैं। अँग्रेजों का पन्द्रहवीं शताब्दी का "गुलामों का युद्ध" जिनमें बहुत से अँगरेज आपस में कट मरे, इसी प्रकार की मानसिक स्थिति का परिणाम था। "गुलामों का युद्ध" के पूर्व अँग्रेज लोग फ्रांसीसियों से लड़ने और उनका नाश करने में लगे हुए थे। जोन आफ आर्क की हत्या के बाद उन्हें फ्रांस से परास्त होकर भागना पड़ा। पर उनकी युद्ध की मनोवृत्ति शान्त न हुई थी। अतः वे आपस में ही लड़ने लगे।

जिस प्रकार क्रोध एक पदार्थ के अभाव में दूसरे पर आरोपित हो जाता है, उसी तरह भय भी एक पदार्थ के अभाव में दूसरे पदार्थ पर आरोपित हो जाता है। ऐसी अवस्था में जो पदार्थ साधारणतः भय का कारण न होना चाहिए, भय का कारण बन जाता है। भयानक जानवरों का भय भूतों के भय में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार प्रेम का भी स्थानान्तर हो जाता है। प्रेम के संवेगों के मन में आने पर प्रेम किये जानेवाले पदार्थ के अभाव में वह किसी दूसरे पदार्थ पर आरोपित हो जाता है।

संवेग और शारीरिक क्रियाएँ

संवेगों का शरीर में चलनेवाली क्रियाओं में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी संवेग की अनुभूति के समय बाहर और शरीर के अन्दर विशेष प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। उदाहरणार्थ, क्रोध को लीजिए, जब मनुष्य क्रोधावेश में होता है तो वह अपनी त्योरियाँ चढ़ा लेता है, ओठों को काटता है, मुट्ठी बाँधकर हाथ पटकता है और दाँत चबाता है। यदि कोई पदार्थ सामने आ जाय तो उसे तोड़-फोड़ डालता है, उसका चेहरा लाल हो जाता है, रक्त की नलियों में खून का प्रवाह तेजी से बहने लगता है, हृदय की गति तीव्र हो जाती है। इसके साथ-साथ उसके शरीर के भीतर स्थित गाँठें एक विशेष प्रकार के द्रव्य का उत्पादन करने लगती हैं। क्रोध और भय की अवस्था में ऐड्रीनली नामक ग्रन्थियाँ जो गुर्दों के ऊपर स्थित हैं, ऐड्रीनली नामक रस को उत्पन्न करने लगती हैं। इस रस का सञ्चार मनुष्य के रक्त में होने पर उसकी उत्तेजना बढ़ जाती है, वह अपने अन्दर विशेष शक्ति का अनुभव करने लगता है। जो काम मनुष्य को अनुद्विग्न अवस्था में करना कठिन होता है उसे वह सरलता से कर सकता है। इसी उत्तेजना के कारण उसे शारीरिक कष्टों की अनुभूति नहीं होती। लड़ाई करते समय लड़नेवाले को अपने ऊपर

लगी चोट क्रोध की अवस्था में वैसी पीड़ा नहीं देती, जैसी वह उसके मन की शान्त अवस्था में देती है।

क्रोध और भय की अवस्था में लार पैदा करनेवाली ग्रन्थियाँ अपना काम बन्द कर देती हैं, इसलिए ऐसी अवस्था में मुँह सूख जाता है, प्यास अधिक लगती है, कण्ठ में स्थित थाइरायड नामक ग्रन्थियाँ जो साधारणतः थाइरॉक्सिन नामक प्राणप्रद रस को पैदा करती रहती हैं, अपना काम बन्द कर देती हैं। यह रस स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए और शरीर की वृद्धि के लिए अत्यावश्यक है। इसकी कमी होने से शरीर निर्बल और रोगी हो जाता है। लार और थाइरॉक्सिन की कमी से भोजन के पचने में बाधा होती है, अतएव अति क्रोधी तथा भयातुर व्यक्ति अनेक प्रकार की बीमारियों का शिकार बना रहता है तथा सदा क्षीणकाय रहता है। चाहे उसे कितना ही पौष्टिक भोजन क्यों न दिया जाय, वह उसको पचा नहीं सकता। भोजन करते समय क्रोध और भय का मन में आना विशेषकर हानिकारक होता है।

जिस प्रकार क्रोध और भय स्वास्थ्य-विनाशक हैं इसी तरह प्रेम और उत्साह स्वास्थ्यवर्धक हैं। इन संवेगों के मन में आते ही थाइरॉक्सिन रस की वृद्धि होती है। भोजन पचाने का रस पैदा करनेवाली ग्रन्थियाँ अधिक काम करती हैं। इस तरह अनेक आयुवर्द्धक पदार्थों का हमारे शरीर में सञ्चार होता है। अतएव प्रेम और उत्साह को रचनात्मक संवेग[1] कहा है तथा भय और क्रोध को ध्वंसात्मक संवेग[2] कहा जा सकता है। जिस प्रकार प्रेम और उत्साह दूसरों का लाभ करते हैं, उसी तरह वे अपने-आप का भी लाभ करते हैं; और क्रोध और भय जिस प्रकार दूसरों का विनाश करते हैं उसी प्रकार आत्म-विनाश भी करते हैं। गाल्ट और हावर्ड महाशयों ने पहले प्रकार के संवेगों को प्रसारात्मक उद्वेग[3] कहा है और दूसरे प्रकार के संवेगों को सङ्कोचात्मक संवेग[4] कहा है। एक शक्तिवर्द्धक है और दूसरा शक्ति-विनाशक।

जेम्स-लैंगे-सिद्धान्त

जेम्स और लैंगे महाशयों के सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक क्रियाएँ ही संवेगों की आत्मा हैं। शरीर के भीतर होनेवाले विकारों की संवेदना ही का दूसरा नाम संवेग है। इन संवेदनाओं के साथ-साथ शारीरिक बाह्य क्रियाएँ भी होती हैं। इन बाह्य क्रियाओं से ये संवेदनाएँ अधिक प्रबल हो

---

1. Creative emotion. 2. Destructive emotion. 3. Expanding emotion. 4. Contracting emotion.

जाती हैं। अतएव जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी बाह्य क्रियाओं को रोकता है वह संवेगों को उतना ही अधिक रोकता है और जो उन क्रियाओं को जितना ही अधिक प्रकाशित करता है वह उतना ही अधिक संवेग को बढ़ाता है। जेम्स महाशय का कथन है "हम इसलिए नहीं भागते कि डर गये हैं किन्तु डरते इसलिए हैं क्योंकि भागते हैं। इसी प्रकार क्रोध में आने के कारण पीटते नहीं किन्तु पीटने के कारण क्रोध में आते हैं। यदि हम भागने और पीटने की क्रियाओं तथा उनके साथ होनेवाली दूसरी मानसिक चेष्टाओं का प्रकाशन बिलकुल रोक दें तो हम उन उद्वेगों को भी नष्ट कर दें, जिनका वे परिणाम समझे जाते हैं। वह क्रोध ही कैसा जिसमें न चेहरा तमतमाया हो, न त्योरियाँ ही चढ़ी हों, न दाँत पीसे जाते हों और न हाथ-पैर पटके जाते हों। यदि किसी क्रोध का इस प्रकार से प्रकाशन हो तो वह अनुभव क्रोध ही नहीं।" जेम्स के कथनानुसार इन चेष्टाओं के होने से शरीर के भीतर भी अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों की अनुभूति हमें विशेष प्रकार की संवेदनाओं द्वारा प्राप्त होती है, संवेदनाएँ[1] ही संवेग[2] हैं।

शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण जेम्स लैंगे महाशय का यह सिद्धान्त कितने ही मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है, किन्तु इस सिद्धान्त की त्रुटि स्पष्ट है। हम इस सिद्धान्त की त्रुटि अन्वय-व्यतिरेक-न्याय से सरलता से समझ सकते हैं। कितने ही स्थलों में बाह्य-चेष्टाओं के होने पर भी संवेग नहीं रहता और संवेगों के रहने पर भी बाह्य-चेष्टाएँ नहीं होतीं। नाटकों में खेलने-वाले पात्र अपनी बाह्य-चेष्टाओं से अनेक प्रकार के संवेग दर्शकों के समक्ष दर्शाते हैं, किन्तु वास्तव में उनका मन उन संवेगों से व्याप्त नहीं रहता। वे अनुद्विग्न मन रहकर भी अनेक प्रकार के संवेगों का प्रदर्शन कर सकते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो अपना पार्ट ठीक से न कर सकें।

इसी तरह कितने ही लोग दूसरों की गाली सुनकर क्रोधित हो जाते हैं, किन्तु इस क्रोध का प्रदर्शन अपनी किसी बाह्य चेष्टा से नहीं करते। इतना ही नहीं, कितने लोग क्रोधातुर अथवा भयभीत होकर भी अपनी चेष्टाओं से इनके विपरीत मनोभावों का प्रदर्शन करते हैं।

शैरिंगटन महाशय ने पशुओं पर क्रोध के प्रकाशन के विशेष प्रकार से कुछ प्रयोग किये हैं। उन्होंने एक कुत्ते का मेजा[3] निकाल दिया, जिसके कारण उसे शारीरिक संवेदनाओं की अनुभूति सम्भव ही नहीं थी। ऐसी अवस्था में

1. Sensations. 2. Emotions. 3. Brain.

उसके सामने रखा हुआ भोजन हटाया गया, इसे देखकर कुत्ते को क्रोध अवश्य आया; किन्तु इस क्रोध की अनुभूति का उसके शरीर में चलनेवाली क्रियाओं की संवेदनाओं से कोई सम्बन्ध न था। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बिल्ली के ऊपर भी इसी प्रकार के प्रयोगों को किया है। इससे यह स्पष्ट है कि संवेग शरीर में चलनेवाली क्रियाओं की संवेदना-मात्र नहीं, वे इनसे स्वतन्त्र मनोभाव हैं। इन मनोभावों की सहगामी शारीरिक क्रियाएँ ही उन मनोभावों का कारण नहीं हैं। हमारी साधारण धारणा है कि संवेग के कारण शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं तथा अनेक प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। हमारी यह धारणा विलियम जेम्स के सिद्धान्त की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक सत्य को अधिक दर्शाती है।

संवेगजनित मानसिक विकार[1]

किसी भी संवेग के उत्पन्न होने पर दो प्रकार के मानसिक विकार होते हैं—अस्थायी और स्थायी। अस्थायी मानसिक विकार उमंग[2] कहलाते हैं और स्थायी मानसिक विकार स्थायीभाव[3] कहलाते हैं।.

उमंग—उमंग संवेगजनित अस्थायी मानसिक विकार है। जब कोई संवेग एक बार मन में आता है तो वह अपना प्रभाव मन के ऊपर छोड़ जाता है। यह प्रभाव कुछ देर तक रहता है, पीछे अपने-आप नष्ट हो जाता है। जब तक यह प्रभाव रहता है तब तक वह संवेग मन में फिर से आ सकता है। थोड़ी-सी उत्तेजना होने पर भी पूरी प्रबलता के साथ वह संवेग जिसकी उमंग हमारे मन में है, मन को वश में कर लेता है। मान लीजिए, एक घर में पति-पत्नी बातचीत कर रहे हैं। स्त्री अपने पति से क्रोधित हो जाती है। झगड़ा समाप्त हो जाता है और स्त्री क्रोध के उमंग में चुपचाप बैठी है। उसका क्रोध अभी पूर्ण शान्त नहीं हुआ। इतने में घर की नौकरानी जिसे दूध लेने के लिए भेजा था आती है और कहती है कि दूधवाले के यहाँ दूध नहीं मिला। अब मालकिन जो क्रोध के उमंग में पहले से है एकदम उत्तेजित हो उठती है और नौकरानी को भला-बुरा सुनाने लगती है। यदि मालकिन क्रोध के उमंग में न होती तो दूध न मिलने के कारण उसके मन में क्रोध की उत्तेजना न होती और नौकरानी उसकी डाँट-फटकार की भागी न होती। क्रोध की उमंग में रहने के कारण ही उसे डाँट-फटकार मिली।

---

1. Products of emotions. 2. Mood. 3. Sentiment.

हाल ही की एक घटना लेखक को स्मरण है जो लेखक के जीवन में ही घटी। वह अपने घर से दूसरी जगह जा रहा था। घर से रेल का स्टेशन दो मील पर है। घर से निकलने में कुछ देरी हो गई अतएव बड़ी तेजी के साथ स्टेशन जाना पड़ा। स्टेशन पहुँचने पर गाड़ी के आने की सूचना की घण्टी सुनी। लेखक को बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह समय पर घर से आ गया। वह टिकट-घर की ओर टिकट लेने बढ़ा। जब मनीबेग को खोला तो देखा कि उसमें टिकट लेने के लिए पैसा ही नहीं। ऐसी स्थिति में कितना उद्विग्न मन मनुष्य का होता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। लेखक को अपने प्रति बड़ा क्रोध आया। घर से निकलते समय अपनी स्त्री से जिनके पास पैसा रखा गया था, पैसा माँगा था। वह पेटी से पैसा निकालकर लाई और हाथ में देने ही को थी कि छोटी बच्ची रो पड़ी, वह उसे सँभालने में लग गई और लेखक स्वयं पत्नी से पैसा लेना भूल गया। जब स्टेशन से लेखक निराश घर आया तो उसके मन में निराशा और क्रोध की उमंग थी। अतएव अकारण ही उसको अपनी गलती के लिए डाँट-फटकार सुनाने लगा। वास्तव में गलती उसकी न थी, गलती अपने-आप की थी। यदि उस समय क्रोध की उमंग के समय स्त्री के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति मिलता और वह इसी समय लेखक को छेड़ता तो उस पर ही क्रोध आरोपित हो जाता।

जब पति-पत्नी आपस में लड़ते हैं तो बच्चे अकारण ही माता-पिता के द्वारा पिट जाया करते हैं। क्रोध के उमंग के समय किसी व्यक्ति के पास जाना अच्छा नहीं। जिस प्रकार क्रोध की उमंग क्रोध का आना सरल कर देती है, उसी प्रकार प्रेम की उमंग प्रेम का आना सरल कर देती है। जब किसी मनुष्य के विचार प्रेम और उदारता से भरे हों उस समय यदि कोई सहायता का प्रार्थी उसके पास जाय तो वह मनमानी सहायता पा लेता है। यदि वही पार्थी शोक की उमंग की अवस्था में उसके पास जाय तो उसे निराश होकर लौटना पड़ेगा और यदि क्रोध की उमंग की अवस्था में जाय तो सम्भव है उसे गाली भी खानी पड़े। भिखारी जब किसी मनुष्य के पास उसके भगवद्भजन के बाद जाते हैं तो उसकी साधारण अवस्था की अपेक्षा उसे अधिक उदार पाते हैं।

मन की उमंगों का स्वास्थ्य पर भारी प्रभाव पड़ता है। क्रोध और भय की उमंगें स्वास्थ्य की विनाशक होती हैं। इसी तरह प्रेम और उदारता की उमंग स्वास्थ्यवर्धक होती हैं। विनाशकारी उमंगों का शीघ्रातिशीघ्र अन्त कर देना ही मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी

होता है। इस प्रकार के उमंगों का परिवर्तन वातावरण के परिवर्तन से हो जाता है। यदि किसी मनुष्य के घर की परिस्थिति किसी विशेष समय दुःखद हो तो उसका उस समय घर से बाहर चला जाना लाभप्रद होता है।

उमंगों में परिस्थिति के बदलने से मौलिक परिवर्तन हो जाता है। एक उमंग उसके विपरीत उमंग में परिणत हो जाती है। मान लीजिए, एक मधुमक्खी ने हमारे गाल में काट लिया है। हमें उस मधुमक्खी के ऊपर क्रोध आ रहा है। हम उसे मारने दौड़ते हैं। इतने ही में हम देखते हैं कि हजारों मधुमक्खियाँ हमारे आस-पास उड़ने लगीं। हमारे क्रोध की उमंग अब भय में परिणत हो जाती है। हम किसी प्रकार अपनी जान लेकर भागते हैं और बड़ी कठिनाई से हम उन मधुमक्खियों से छुटकारा पाते हैं। भय की उमंग अभी शान्त न हो पाई थी कि हम एक मित्र को अपने सामने आते देखते हैं। अब हमारे हृदय में मित्र के प्रति प्रबल प्रेमोद्गार उठते हैं। हम सोचते हैं कि वह हमारा फूला हुआ चेहरा देखकर हमारे प्रति सहानुभूति प्रकट करेगा। जब मित्र समीप आता है तो हम क्या पाते हैं कि सहानुभूति के बदले हमारे चेहरे का विकृत रूप देखकर मित्र हँस पड़ता है। अब हमारी प्रेम की उमंग एकाएक क्रोध की उमंग में परिणत हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उमंगों में मौलिक परिवर्तन होते रहते हैं। एक उमंग उसके विपरीत उमंग का भी कारण बन जाती है। हम देखते हैं कि छोटे बालकों में भाई, बहन एक दूसरे को चिढ़ाया करते हैं। इस प्रकार चिढ़ाने से उनके मन में क्रोध की उमंग पैदा हो जाती है, किन्तु यही क्रोध की उमंग एक-दूसरे के प्रति प्रेम में परिणत हो जाती है। चिढ़ानेवाले भाई के प्रति बहन का जितना प्रेम रहता है, उतना न चिढ़ानेवाले भाई के प्रति नहीं रहती।

स्थायी भाव[1]

जब किसी प्रकार का भाव मन में बार-बार उठता है अथवा एक ही प्रकार की उमंग जब मन में अधिक देर तक ठहरती है तब वह मन में विशेष प्रकार का स्थायी भाव पैदा कर देती है। किसी व्यक्ति के प्रति क्रोध से बार-बार उत्तेजित होने से उस व्यक्ति के प्रति बैर का स्थायी भाव हमारे मन में पैदा हो जाता है। यदि किसी बालक को कोई व्यक्ति बार-बार त्रास दे, तो उस व्यक्ति से वह घृणा करने लगता है। जब हम किसी व्यक्ति को बार-बार चिढ़ाते हैं

1. Sentiment.

और उसे प्रसन्न करने की चेष्टा नहीं करते तो वह हमें अपना शत्रु मान बैठता है। इसी तरह जब हम किसी विशेष व्यक्ति, पशु अथवा निर्जीव पदार्थ की ओर अपना प्रेम-प्रदर्शन करते हैं तो उन पदार्थों की ओर हमारा प्रेम का स्थायी भाव बन जाता है। संवेग और स्थायी भाव में कुछ मौलिक भेद हैं। संवेग मन की क्रियमाण अवस्था है। स्थायी भाव मन की क्रियमाण अवस्था नहीं है; किन्तु वे अनेक प्रकार की क्रियाओं के कारण बन जाते हैं। संवेग का विषय शीघ्रता से बदल जाता है, स्थायी भावों का विषय-परिवर्तन होना कठिन होता है। एक प्रकार का संवेग एक ही प्रकार के स्थायी भावों को उत्पन्न करता है, पर एक प्रकार का स्थायी भाव अनेक प्रकार के संवेगों का कारण बनता है।

किस तरह एक ही प्रकार का स्थायी भाव अनेक प्रकार के संवेगों का कारण हो जाता है, यह एक साधारण उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए, एक व्यक्ति के मन में देश-भक्ति का स्थायी भाव वर्तमान है। इस स्थायी भाव के होने पर जब वह अपने देश की उन्नति देखता है तो प्रसन्न होता है। जब वह देश पर आपत्ति आने की सम्भावना देखता है तब उसे भय और दुःख होता है। जब वह किसी दूसरे देशवासी द्वारा अपने देश की निन्दा सुनता है तो उसे लज्जा अथवा क्रोध होता है। इस तरह हम देखते हैं कि एक ही स्थायी भाव मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के संवेगों को उत्पन्न करता है।

स्थायी भाव अनेक प्रकार के पदार्थों के प्रति होते हैं। कुछ स्थायी भाव निर्जीव पदार्थों के प्रति होते हैं, कुछ पशुओं और मनुष्यों के प्रति और कुछ आदर्शों के प्रति होते हैं। हिन्दुओं के मन में मन्दिरों, ईसाइयों के मन में गिरजाघरों तथा मुसलमानों के मन में मस्जिदों के प्रति प्रेम का स्थायी भाव रहता है। किसी भी धर्म के अनुयायियों के मन में उनकी धर्मपुस्तकों तथा धर्म की वस्तुओं के प्रति स्थायी भाव होते हैं। हिन्दुओं के मन में गाय के प्रति प्रेम का स्थायी भाव रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपनी माता और बहिन के प्रेम का स्थायी भाव होता है। इसी तरह हर एक व्यक्ति के मन में उसे दुःख पहुँचानेवाले व्यक्तियों के प्रति बैर अथवा द्वेष का स्थायी भाव होता है। जिस प्रकार इन्द्रियगोचर पदार्थों के स्थायी भाव होते हैं, उसी तरह विशेष प्रकार की धारणाओं के प्रति मनुष्य के मन में स्थायी भाव होते हैं। एक वीर पुरुष के मन में बहादुरी के प्रति श्रद्धास्पद स्थायी भाव होता है और कायरता के प्रति घृणास्पद स्थायी भाव होता है। महात्मा गाँधी के

मन में सत्य और अहिंसा के प्रति श्रद्धास्पद स्थायी भाव है। पं० जवाहरलाल नेहरू के मन में साम्यवाद के प्रति वैसा ही स्थायी भाव है। इसी तरह हिन्दू नेताओं के मन में हिन्दू-संस्कृति के प्रति श्रद्धा का स्थायी भाव रहता है। पं० मदनमोहन मालवीय जी के मन में हिन्दू-संस्कृति के प्रति श्रद्धा का स्थायी भाव होना स्वाभाविक है।

स्थायी भाव का मूल प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य को विशेष प्रकार के कामों में लगाती हैं, उसी प्रकार उसके स्थायी भाव उसे विशेष प्रकार के कामों में लगाते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य के जन्मजात स्वभाव के अङ्ग हैं, स्थायी भाव उसका अर्जित स्वभाव है। स्थायी भाव ऐसी ही क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं जैसी की मूल प्रवृत्तियाँ। मैकडूगल महाशय के कथनानुसार स्थायी भावों की जननी मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इनके परिवर्तन से ही स्थायी भाव बनते हैं। एक ही प्रकार के स्थायी भाव की उत्पत्ति में अनेक प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ काम करती हैं।

उदाहरणार्थ, अपने घर के प्रति स्थायी भाव को बनानेवाली मूल प्रवृत्तियों को देखिये। इसमें संग्रह और आत्म-प्रदर्शन की मूल प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। इसी तरह देशभक्ति के स्थायी भाव में अनेक मूल प्रवृत्तियाँ काम करती हैं।

मनुष्य के सभी कार्य उसकी मूल प्रवृत्तियों और स्थायी भावों द्वारा सञ्चालित होते हैं। मूल प्रवृत्तियों के साथ किसी-न-किसी प्रकार का संवेग रहता है। इसी तरह प्रत्येक स्थायी भाव अनेक संवेगों का कारण होता है। इसी तरह हम देखते हैं कि मैकडूगल महाशय का यह सिद्धान्त है कि हमारे सभी कार्य मूल प्रवृत्तियों अथवा स्थायी भावों द्वारा सञ्चालित होते हैं, उस सिद्धान्त का विरोध नहीं है जिसके अनुसार उद्वेग[1] (संवेग) सब क्रियाओं के जनक माने जाते हैं।

प्रो० सेण्ड के मतानुसार स्थायी भाव एक प्रकार की आदतें हैं। ये आदतें संवेगजन्य हैं। किसी विशेष प्रकार की आदत पड़ जाने पर मनुष्य उसी प्रकार के कार्य करता है, इसी तरह किसी विशेष प्रकार के स्थायी भाव बन जाने पर वह विशेष प्रकार के संवेगों की अनुभूति करता है। स्थायी भावों का प्राण उद्वेगमय है। यह सिद्धान्त उद्वेगों को उतना व्यापक नहीं बनाता, जितना कि मैकडूगल महाशय का सिद्धान्त बनाता है। जहाँ इसके अनुसार स्थायी भाव का सम्बन्ध भाव-मात्र से है, वहाँ मैकडूगल के अनुसार उसका

1. Emotion.

सम्बन्ध भाव और क्रिया दोनों से ही है। स्थायी भाव वास्तव में भावात्मक और क्रियात्मक मनोवेग है।

स्थायी भाव और चरित्र

मनुष्य का चरित्र उसके स्थायी भावों का समुच्चय मात्र है। अर्थात् जिस मनुष्य के जैसे स्थायी भाव रहते हैं उसका चरित्र भी वैसा ही रहता है। किसी भी व्यक्ति के स्थायी भावों में आपस में संगठन होता है। उसका सर्वोच्च स्थायी भाव दूसरे स्थायी भावों का नियंत्रण करता है। मनुष्य अपने स्थायी भावों से अपना आत्मसात् कर देता है। उसका व्यक्तित्व इन्हीं स्थायी भावों के द्वारा प्रकाशित होता है। जब वह किसी तरह अपने स्थायी भावों के प्रति आघात होते देखता है तो वह इस आघात को अपने प्रति ही आघात समझता है। जिस मनुष्य के स्थायी भाव सुनियन्त्रित नहीं अथवा जिसके मन में उच्चादर्शों के प्रति श्रद्धास्पद स्थायी भाव नहीं है, उसका व्यक्तित्व सुगठित तथा उसका चरित्र सुन्दर नहीं कहा जाता। दृढ़ और सुन्दर चरित्र के होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के मन में उच्चादर्शों के प्रति श्रद्धास्पद स्थायी भाव हो तथा उसके दूसरे स्थायी भाव इस स्थायी भाव के द्वारा नियन्त्रित हों। स्थायी भाव हमारे अनेक प्रकार के विचारों के जनक होते हैं। उन्हीं के द्वारा प्राणी की अनेक क्रियाएँ सञ्चालित होती हैं। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि मन में सुन्दर स्थायी भावों के रहने से अधिक महत्व की वस्तु जीवन में कोई नहीं है।

यहाँ यह विचार करने योग्य है कि मनुष्य के विवेक और उसके स्थायी भावों में क्या सम्बन्ध है। मनुष्य के अधिकांश विचार तथा क्रियाएँ स्थायी भावों के द्वारा सञ्चालित होती हैं। जब विवेक स्थायी भावों के प्रतिकूल होता है तो मनुष्य के आचरण में उसका प्रभाव कुछ भी नहीं दीख पड़ता। यदि मनुष्य का विवेक एक बात कहे और उसके स्थायी भाव उसके विवेक के प्रतिकूल कार्य करने को उसको प्रेरित करें, तो ऐसी अवस्था में वह या तो निष्क्रिय हो जाता है अथवा स्थायी भावों के अनुसार ही काम करता है और पीछे इस काम को विवेकपूर्ण सिद्ध करने के लिए झूठी युक्तियाँ ढूँढ लेता है। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य से उसके स्थायी भावों के प्रतिकूल काम नहीं कराया जा सकता। प्रत्येक हिन्दू पर्व के समय गंगा-स्नान करने जाता ही है, चाहे उसका विवेक-पूर्ण विचार इसके प्रतिकूल क्यों न हो। हिन्दू-मुसलमान दंगों के समय दोनों सम्प्रदायों के विवेकी पुरुष भी एक दूसरे सम्प्रदाय के लोगों

की सहायता नहीं करते। लड़ाई के समय विपक्षी की प्रशंसा सुनना किसी भी पक्ष को असह्य हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति शत्रु की निन्दा सुनना चाहता है, चाहे वह झूठी क्यों न हो; उसकी स्तुति नहीं सुनना चाहता। विवेक हमारी क्रियाओं को रोक अथवा मोड़ सकता है, उसमें स्वयं क्रियाओं को चलाने की शक्ति नहीं। क्रियाओं को चलाने की शक्ति भावों में होती है, जो स्वयं ही स्थायी भावों के द्वारा सञ्चालित होते हैं। अतएव किसी भी व्यक्ति के आचरण सुधारने के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि उसकी विवेक की शक्ति बढ़ाई जाय, उसे अनेक प्रकार का ज्ञान दिया जाय, किन्तु यह भी आवश्यक है कि उसके स्थायी भाव योग्य और दृढ़ बनाये जायँ। पर जिस मनुष्य के मन में किसी सुन्दर आदर्श के प्रति अथवा किसी महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायी भाव नहीं हैं, उसके जीवन में उसको दुराचरण से रोकने के लिए और सदाचार में मन लगाने के लिए कोई भी वास्तविक आधार नहीं है। दुराचार ज्ञान की वृद्धि से नहीं रोका जा सकता, उसके लिए सुन्दर स्थायी भावों का बनाना आवश्यक है। व्यक्ति लोक-सेवा अथवा देश-सेवा का काम इसलिए नहीं करता कि इस प्रकार का काम करना उसके लिए उचित है, किन्तु ऐसा काम वह इसलिए करता है कि उस काम के किये बिना उससे रहा नहीं जाता; अर्थात् उसकी लोक-सेवा की भावना उन कामों के लिए उसे प्रेरित करती है और उसके किए बिना उसे चैन नहीं मिलता। कितने ही बड़े-बड़े बुद्धिमान दुराचरण करते हुए दिखाई देते हैं। वे इस प्रकार के कार्यों को हीन समझते हैं, किन्तु तिस पर भी वे अपने-आपको ऐसे कामों से नहीं रोक सकते। इसका कारण क्या है? इसका प्रधान कारण उसकी दूषित शिक्षा ही है। जिन लोगों में बुद्धि की वृद्धि अधिक हो जाती है किन्तु जिनके मन में सुन्दर स्थायी भाव नहीं बन पाते वे एक ओर बुद्धिमान् होते हैं और दूसरी ओर दुराचारी। उनका विवेक उन्हें दुराचार से रोकने में असमर्थ होता है। अतएव देखा जाता है कि कितने ही अपढ़ लोग सदाचारी होते हैं और कितने ही पढ़े-लिखे लोग दुराचारी। बहुत से सन्त उन अपढ़ों में ही पाये जाते हैं, जिनमें तर्क-वितर्क करने की अधिक शक्ति नहीं है, किन्तु उनमें एक निश्चित धारणा के अनुसार काम करने की शक्ति है। इसके प्रतिकूल बहुत से तर्क-वितर्क करने की योग्यता रखनेवाले व्यक्ति सुन्दर स्थायी भावों के अभाव में सदाचारी नहीं होते।

हमने विगत युद्ध में देखा कि फ्रांसीसी लोग बुद्धि में जर्मनी के समान होते हुए भी सरलता से परास्त कर दिये गये। इसका कारण यही है कि

फ्रान्सीसियों के मन में ऐसी दृढ़ देशभक्ति नहीं थी कि वे देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना सब कुछ निछावर करने के लिए तैयार हो जाते। अंगरेजों में ऐसी दृढ़ देशभक्ति वर्तमान है, अतएव वे लोग जर्मनी के आक्रमण से नहीं घबड़ाये और दृढ़ता से उनका सामना करते ही रहे।

विकृत स्थायी भाव

स्थायी भाव उचित अथवा अनुचित हो सकते हैं। अनुचित स्थायी भाव वे हैं, जो हमारे नैतिक मन की धारणा के प्रतिकूल होते हैं। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के मन में अपने पिता के प्रति बैर अथवा घृणा का भाव है और यह स्थायी भाव उसके पिता के प्रति श्रद्धा की नैतिक भावना के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति में यह स्थायी भाव उसकी चेतना के समक्ष नहीं आता। अतएव उस व्यक्ति को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि उसके मन में अपने पिता के प्रति अवांछनीय स्थायी भाव है। इस प्रकार स्थायी भाव को, जिसे वह व्यक्ति जिसके मन में वह स्थायी भाव है स्वयं स्वीकार न करे, विकृत स्थायी भाव कहते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान में इस प्रकार के स्थायी भाव को मानसिक-ग्रन्थि[1] (काम्प्लेक्स) कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में इस प्रकार की अनेक अवांछनीय मानसिक-ग्रन्थियाँ रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की उलझनें डालती हैं। इनके कारण मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी यह देखने में आता है कि हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही काम कर बैठते हैं। ऐसे काम के लिए न हमने पहले विचार किया था और न पीछे उसे उचित कार्य समझते हैं। हम अपने इन कृत्यों के लिए बहुत पछताते हैं, तिस पर भी समय आने पर हम अपने-आपको इन कामों को करने से नहीं रोक सकते। इस प्रकार की मानसिक स्थिति हमारी उन मानसिक-ग्रन्थियों के कारण उत्पन्न होती है, जो हमारे मन में स्थित हैं और जिन्हें हम स्वयं नहीं जानते। फ्रायड, युंग और एलडर महाशय ने इस प्रकार की अनेक मानसिक-ग्रन्थियों की खोज की है। जब तक ये मानसिक-ग्रन्थियाँ सुलझ नहीं जातीं, किसी व्यक्ति का जीवन पूर्णतः विवेक द्वारा सञ्चालित नहीं हो सकता। उसके जीवन में कुछ-न-कुछ झक्कीपन अवश्य रहता है। ये मानसिक-ग्रन्थियाँ बरबस मनुष्य से विवेक के प्रतिकूल कार्य कराती हैं। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के मन में किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति घृणा की मानसिक-ग्रन्थि है। उसकी नैतिक बुद्धि कहती है कि उसे उस व्यक्ति का

---

1. Complexes.

आदर करना चाहिए, किन्तु वह किसी विशेष अवसर पर ऐसे काम कर बैठता है जिससे कि उस दूसरे व्यक्ति का अनजाने अनादर हो जाता है। इस प्रकार के कार्य करने पर उसे स्वयं आश्चर्य होता है।

स्थायी भावों का विषय-परिवर्तन

जिस प्रकार संवेगों का विषय-परिवर्तन होता है उसी प्रकार स्थायी भावों का भी विषय-परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन कभी-कभी अयुक्ति-सङ्गत होता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति के मन में दूसरे व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव है। यह घृणा का भाव इस व्यक्ति के अभाव में किसी दूसरे व्यक्ति पर आरोपित हो जाता है, जो इस दूसरे व्यक्ति की आकृति में मिलता हो, अथवा जो उसी गाँव में रहता हो या उसी तरह के कपड़े पहनता हो। किसी प्रकार का भी सम्बन्ध, चाहे वह कितना ही ऊपरी क्यों न हो, इस प्रकार के स्थायी भावों के आरोपण के लिए पर्याप्त होता है।

इस प्रकार का आरोपण विकृत स्थायी भावों में विशेषकर देखा जाता है। जो व्यक्ति पिता से घृणा करता है वह ऐसे सभी व्यक्तियों घृणा करने लगता है जो उसके आदर के पात्र हैं; अर्थात् जो उसके पिता से किसी भी गुण में सादृश्य रखते हैं। इन सभी व्यक्तियों में उस व्यक्ति का अदृश्य मन पिता की प्रतिमा देखता है। यदि पिता के प्रति व्यक्ति का वास्तविक प्रेम और आदर का भाव है, तो उसका वही भाव पिता की प्रतिमा-स्वरूप सभी व्यक्तियों के प्रति होगा और यदि उसके प्रति भय और घृणा का भाव है तो उन सभी लोगों के प्रति भय और घृणा का भाव होगा जो उसके पिता की आकृति से समानता रखते हैं।

स्थायी भावों का संस्थापन[1] और विघटन[2]

ऊपर कहा जा चुका है कि किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति बार-बार एक ही प्रकार के संवेग के उभड़ने से उसके प्रति एक विशेष प्रकार का स्थायी भाव बन जाता है। इस प्रकार का स्थायी भाव व्यक्ति में आजीवन बना रहता है। कुछ स्थायी भाव व्यक्ति की नैतिक धारणा के अनुकूल होते हैं और कुछ उसके प्रतिकूल। जो स्थायी भाव व्यक्ति की नैतिक धारणा के प्रतिकूल नहीं होते उन्हें स्वीकार करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु जो इसके प्रतिकूल

---

1. Displacement. 2. Dissolution

होते हैं उनके स्वीकार करने में अड़चन पड़ती है। ऐसे स्थायी भाव मानसिक ग्रन्थि कहलाते हैं। बहुत-सी मानसिक ग्रन्थियाँ व्यक्ति के बाल्यकाल में बनती हैं अर्थात् इन मानसिक ग्रन्थियों की जड़ बाल्यकाल के किसी अनुभव में होती है। जो लोग बालक की इच्छाओं की परवाह नहीं करते, उसका दमन करते हैं अथवा उसे ताड़ना देते हैं; उनके प्रति बालक के मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। जब बालक बड़ा होता है, तो उसे अपनी इस घृणा का भाव उसकी नैतिक भावना के प्रतिकूल दिखाई देता है। इस तरह यह घृणा का भाव नैतिक मन द्वारा दबाया जाता है और चेतना के समक्ष नहीं आता।

इस प्रकार की ग्रन्थियों का सुलझाव मनोविश्लेषण के द्वारा चेतन मन में लाकर और विचार के द्वारा उन्हें विघटित करके किया जा सकता है। किसी भी स्थायी भाव को, चाहे वह योग्य हो अथवा विकृत, उसके विपरीत भाव को बार-बार मन में लाने से नष्ट किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के प्रति वैर-भावना को उसी व्यक्ति के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करके नष्ट किया जा सकता है। इसी तरह घृणा का भाव प्रेम-भाव बढ़ाने से नष्ट किया जा सकता है। कितने ही व्यक्तियों के मन में हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थियाँ रहती हैं। इन ग्रन्थियों का विघटन वैराग्य-भाव और मैत्री-भावना के अभ्यास से किया जा सकता है। इस प्रकार का प्रतिकूल अभ्यास करना अपने-आपको नये प्रकार की शिक्षा देना है। इस प्रकार की शिक्षा की उपयोगिता आधुनिक मनोविश्लेषकों ने नहीं पहचानी है, किन्तु भारतवर्ष के पुराने ऋषियों ने मन की उलझनें सुलझाने में इस प्रकार के अभ्यासों की उपयोगिता भले प्रकार में दर्शायी है। पतञ्जलि के योगसूत्र और बौद्धों के अभिधम्म-निकाय में मानसिक ग्रन्थियों को खोलने के अनेक उपाय दिखलाये गये हैं। इनके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन की उलझनें सुलझा सकता है और स्थायी मानसिक शान्ति लाभ कर सकता है। आधुनिक चित्तविश्लेषकों में डाक्टर होमरलेन ने मनुष्य की मानसिक ग्रन्थि को सुलझाने में उपर्युक्त शिक्षा अर्थात् व्यक्ति का दृष्टिकोण बदलने पर अनेक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों का फल बड़ा ही चमत्कार और उत्साहवर्द्धक है। जहाँ फ्रायड की रीति मन की अड़चनों को हटाने में असफल होती है, वहाँ होमरलेन की रीति सफल होती है। फ्रायड महाशय की रीति विश्लेषणात्मक तथा वैज्ञानिक है, होमरलेन की रीति सृजनात्मक और धार्मिक है। होमरलेन ने कितने ही पागलों को उनके दृष्टिकोण को बदलकर और उनसे मैत्री-भावना का अभ्यास कराकर स्वस्थ बना दिया है।

प्रश्न

१—संवेग क्या है ? उसका मनुष्य की क्रियात्मक और ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों से क्या सम्बन्ध है ?

२—संवेगों का मुख्य लक्षण बताइये। उदाहरण देकर यह स्पष्ट कीजिये कि संवेग वैयक्तिक अनुभव हैं ?

३—संवेग किसी-न-किसी विषय पर आरोपित होता है—उदाहरण देकर समझाइये।

४—भाव और संवेगों में क्या सम्बन्ध है ? क्या संवेगों को शरीर में होनेवाले विकारो का एक विशेष प्रकार का परिणाम माना जा सकता है ?

५—"कितने ही लोगों के संवेग उनके विचारों के कारण बहुत काल तक दबे रहते हैं; इस प्रकार दबे रहने से उनकी शक्ति क्षीण नहीं होती अपितु और बढ़ जाती है।"—इस कथन की प्रामाणिकता उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।

६—संवेगों का विषयान्तर किस तरह होता है ? उदाहरण देकर समझाइये।

७—क्रोध आते समय मनुष्य के शरीर और मन में जो विकार होते हैं उनका पूरा-पूरा विवरण दीजिये।

८—'जेम्स लैंगे सिद्धान्त' से आप कहाँ तक सहमत हैं ? इस सिद्धान्त की त्रुटि स्पष्ट कीजिये।

९—संवेगजनित मानसिक विकार कौन-कौन से होते हैं ? उदाहरण देकर समझाइये।

१०—स्थायीभाव और उमंग में क्या भेद है ? स्थायीभाव कैसे बनते हैं ?

११—उमंग और संवेग में क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।

१२—एक उमंग दूसरी उमंग में कैसे परिणत हो जाती है, इसे समझाइये। इस मनोवैज्ञानिक सत्य से हम क्या शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं ?

१३—किसी बालक के मन में हमें देश-भक्ति का स्थायीभाव बनाना है। इसके लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए ?

१४—स्थायीभाव और चरित्र में क्या सम्बन्ध है ? क्या चरित्र को स्थायीभावों का पुञ्ज कहा जा सकता है ?

१५—मानसिक ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) क्या है ? उदाहरण देकर समझाइये।

नवाँ प्रकरण

ध्यान[1]

ध्यान का स्वरूप

ध्यान, चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है जिसका परिणाम ज्ञान होता है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता होती है।

जब तक हम जाग्रत रहते हैं, हमारा ध्यान किसी-न-किसी वस्तु की ओर लगा रहता है। जिस समय हम किसी वस्तु पर ध्यान नहीं देते उस समय हम सो जाते हैं। अतएव सोने की अवस्था में ही हम सर्वदा ध्यान-विहीन होते हैं। अपनी जाग्रत अवस्था में हमें विभिन्न प्रकार का ज्ञान होता रहता है। जिन वस्तुओं का हमें ज्ञान होता है उनमें से कुछ 'चेतना के विशेष केन्द्र' पर होती हैं और कुछ उसके आस-पास और कुछ तट पर। जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित होता है, वह ध्यान का विषय कही जाती है। चेतना के प्रकाश का किसी वस्तु-विशेष पर केन्द्रीभूत होना ध्यान कहा जाता है। चेतना का प्रकाश[2] जिस वस्तु पर केन्द्रित होता है उस वस्तु का स्वरूप भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में किसी वस्तु के गुणों को अच्छी तरह समझने के लिए ही उस ध्यान दिया जाता है, अर्थात् चेतना के प्रकाश को उस पर केन्द्रित किया जाता है।

हमारा साधारण अनुभव है कि हमारे ध्यान का विषय क्षण-क्षण पर बदलता है। जब हमारी चेतना एक पदार्थ पर केन्द्रीभूत होती है तो उससे सम्बन्धित दूसरे पदार्थों का भी हमें सामान्य ज्ञान रहता है। इन पदार्थों का ज्ञान बहुत ही फीका होता है। इनमें से कोई-कोई पदार्थ चेतना के ज्ञान की सीमा के अन्दर नहीं आते, किन्तु उसके निकट ही तट पर रहते हैं। जब हमारे ध्यान का विषय बदलता है तो जिस विषय पर हम पहले ध्यान दे रहे थे, चेतना के प्रकाश के केन्द्र से हट कर सामान्य ज्ञान के क्षेत्र में अथवा ज्ञान के

---

1. Attention. 2. Focus of consciousness.

क्षेत्र के बाहर आ जाता है, किन्तु रहता है उसकी सीमा के समीप ही। उसका स्थान वे पदार्थ ग्रहण कर लेते हैं जो ज्ञान के सामान्य क्षेत्र में थे अथवा ज्ञान की सीमा के समीपवर्ती स्थल में वर्तमान थे। इस तरह चेतना के ज्ञान के केन्द्र, सामान्य ज्ञान के क्षेत्र और सीमा के बाहर की वस्तुओं में परिवर्तन होता रहता है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति गेंद खेल रहा है, उसके ध्यान का विषय गेंद है; अर्थात् उसकी चेतना का प्रकाश सबसे अधिक गेंद पर केन्द्रित होता है। किन्तु इस व्यक्ति को गेंद खेलते समय अपने साथी खेलाड़ियों का ध्यान भी रहता है। यदि ऐसा न हो तो गेंद का खेलना सम्भव ही नहीं। उसे खेल के नियमों का भी स्मरण है, किन्तु इन नियमों का ज्ञान उसकी चेतना की ज्ञान-सीमा के किनारे ही रहता है। जब तक खेल निर्विघ्न चलता रहता है तब तक उसकी चेतना-शक्ति गेंद पर ही केन्द्रित रहती है, किन्तु किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न होने पर चेतना का प्रकाश नई परिस्थिति पर केन्द्रित हो जाता है। वह व्यक्ति अपने साथियों का चिन्तन करने लगता है अथवा खेल के नियमों के विषय में सोचने लगता है। गेंद चेतना के ज्ञानकेन्द्र से अलग हो जाती है और साधारण ज्ञान के क्षेत्र अथवा ज्ञान की सीमा के बाहर चली जाती है। दूसरी वस्तुएँ उसका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह खेलाड़ी की चेतनाओं के विषय में परिवर्तन होता रहता है। ध्यान का वास्तविक विषय वही है जिस पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित हो।

ध्यान की विशेषता[1]

ध्यान की क्रिया की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें हम सरलता से समझ सकते हैं; और अपने मन के अन्तर्दर्शन तथा दूसरों के व्यवहारों द्वारा सरलता से पहचान सकते हैं। ध्यान के समझने के लिए इन विशेषताओं का समझना आवश्यक है :—

१ प्रयत्नशीलता[2]—प्रत्येक ध्यान की मानसिक स्थिति प्रयत्न की उपस्थिति दर्शाती है। जब कभी हम मन को एक विषय पर एकाग्र करते हैं, तो हमें मानसिक प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न चाहे जान-बूझकर किया जाय अथवा अनजाने। जान-बूझकर प्रयत्न करने पर मानसिक शक्ति अधिक खर्च होती है। स्वाभाविक अथवा सहज ध्यान में जो अनजान होता है, इतनी मानसिक शक्ति खर्च नहीं होती, किन्तु शक्ति का कुछ-न-कुछ खर्च होना तो

1. Characteristics of attention. 2. Presence of effort

निश्चित ही है। जान-बूझकर किसी विषय में ध्यान लगाने में सहज ध्यान की अपेक्षा थकावट भी शीघ्रता से आती है। यदि कोई मनुष्य किसी विषय पर ध्यान लगाने की चेष्टा कर रहा है और उसका ध्यान उससे बार-बार उचटता है, तो उसके ध्यान-प्रयत्न में उसकी मानसिक शक्ति का अधिक व्यय होता है। ऐसी अवस्था में थकावट भी बड़े वेग से आती है।

ध्यान की स्थिति में विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं। कोई मनुष्य किसी विषय पर ध्यान लगा रहा है अथवा नहीं, यह हम उसकी बाहरी चेष्टाओं तथा मुखाकृति से पहचान सकते हैं। ध्यान की स्थिति में मनुष्य के अङ्ग कड़े रहते हैं। जिस प्रकार किसी काम के करने की तैयारी की अवस्था में मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएँ विशेष प्रकार की होती हैं उसी तरह ध्यान की अवस्था में भी उसकी शारीरिक चेष्टाएँ विशेष प्रकार की होती हैं। उसकी शारीरिक चेष्टाएँ देखकर हमें ज्ञात हो सकता है कि वह किसी काम के करने के लिए सब तरह से तैयार है अथवा नहीं। फ़ौज के सिपाहियों को जब किसी विशेष प्रकार की क्रियाओं के करने के लिए तैयार करना पड़ता है तो पहले सावधान* (अटेन्शन) शब्द कहता जाता है। सावधान के कहते ही सिपाही लोग कोई भी काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ध्यान इस तरह होनेवाली परिस्थिति के लिए मनुष्य को तैयार करता है।

यदि हम किसी सभा के उन लोगों की मुखाकृति और शारीरिक चेष्टाओं को देखें जो किसी वक्ता की बातों को ध्यान से सुन रहे हैं और इनकी तुलना उन लोगों की मुखाकृति और शारीरिक चेष्टाओं से करें जो वक्तृता को ध्यान-पूर्वक नहीं सुन रहे हैं, तो हमें उनकी विषमता तुरन्त ही स्पष्ट हो जायगी। वक्तृता को ध्यानपूर्वक सुननेवाले लोग आगे को तने हुए दिखाई देते हैं। उनकी गर्दनें आगे को झुकी रहती हैं, आँखें खूब खुली रहती हैं तथा अङ्ग कड़े रहते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग इस वक्तृता पर ध्यान नहीं दे रहे हैं, वे कुर्सियों पर आराम से बैठे हुए दिखाई देंगे, उनकी दृष्टि स्थिर नहीं होगी, उनके सभी अङ्ग शिथिल रहेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य की क्रियात्मक मुद्रा में ध्यान की एकाग्रता बड़ी सरलता से होती है। क्रियात्मक मुद्रा ही ध्यान की एकाग्रता की सूचना है। लेटे हुए मनुष्य की अपेक्षा बैठे हुए मनुष्य का ध्यान अधिक एकाग्र हो सकता है। इसी तरह ढीले-ढाले बैठे रहने की अपेक्षा मेरुदण्ड को सीधा करके बैठने की स्थिति में अथवा खड़े हो जाने

---

* सावधान = स + अवधान = ध्यान के सहित होना।

की स्थिति में ध्यान की एकाग्रता अधिक रहती है। जो वक्ता अथवा
अपना सम्पूर्ण ध्यान अपनी वक्तृता और शिक्षा को रोचक बनाने में
वे प्रायः खड़े होकर ही वक्तृता देते अथवा पाठ पढ़ाते हैं। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि ध्यान की मानसिक स्थिति प्रयत्नात्मक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के क्रियात्मक मुद्रा में आते ही उसकी एकाग्रता अधिक हो जाती है।

विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति[1]—ध्यान की अवस्था में मनुष्य की विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति काम करती है। जिस विषय पर ध्यान दिया जाता है उसके अङ्ग-प्रत्यंगों को अलग-अलग समझने की चेष्टा की जाती है। किसी भी विषय में ध्यान देने में जितने अंग अथवा पहलू दिखाई देते हैं उतने उस विषय के प्रथम ज्ञान में नहीं दिखाई देते। मान लीजिए, हम पहले-पहल किसी वायुयान को देखते हैं। हमारे प्रथम ज्ञान की अवस्था में वह हमें चील के सदृश एक पदार्थ दिखाई देता है। किन्तु जब हम वायुयान के ऊपर ध्यान देते हैं और उसे समझने का प्रयत्न करते हैं, तब हमें उसके अनेक अङ्ग-प्रत्यङ्गों का पता चलता है। हम फिर इन अङ्गों को अलग-अलग समझने का प्रयत्न करते हैं। किसी भी ध्यान के विषय का इस तरह विश्लेषण किये बिना उसका ठीक-ठीक ज्ञान जो कि उस विषय पर ध्यान देने का वास्तविक लक्ष्य है, नहीं होता।

रचनात्मक कार्य[2]—ध्यान की मनोवृत्ति विश्लेषणात्मक ही नहीं होती, रचनात्मक अथवा संगठनात्मक[3] भी होती है। विश्लेषण नयी रचना के लिए किया जाता है। हमारा किसी विषय का प्रथम ज्ञान स्पष्ट और तारतम्य रहित अथवा क्रम-विहीन होता है। उस विषय पर ध्यान देने से वह ज्ञान स्पष्ट और सुसंगठित हो जाता है। जब हम हवाई जहाज के विभिन्न अङ्गों का एक-एक का अलग-अलग अध्ययन कर लेते हैं तो इस समस्त ज्ञान को सुसंगठित कर एक वस्तु का ज्ञान बनाते हैं। किसी भी वस्तु का परिपक्व ज्ञान इस तरह सुसंगठित ज्ञान होता है। हमारे मन की विश्लेषणात्मक और संगठनात्मक क्रियाएँ साथ ही साथ होती हैं। वे एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकतीं। हमारी प्रौढ़ावस्था के संसार का ज्ञान हमारे मन की सृष्टि ही है। जिस मनुष्य ने जितना अधिक किसी विषय पर ध्यान दिया है, वह उस विषय के बारे में उतना ही अधिक जानता है। अतएव संसार के किसी विशेष क्षेत्र की मानसिक सृष्टि

1. Analytic activity of consciousness. 2. Constructive activity. 3. Synthetic.

दूसरे लोगों की उसी क्षेत्र की मानसिक सृष्टि से भिन्न होती है। यह ज्ञान-सृष्टि ध्यान की विश्लेषणात्मक और संगठनात्मक क्रियाओं के द्वारा रची जाती है।

परिवर्तनशीलता[1]—ध्यान की उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि ध्यान एक ही विषय के एक ही पहलू पर बहुत देर तक नहीं रह सकता। मान लीजिए, हम दीवाल पर लगे हुए किसी एक बिन्दु पर मन को थोड़ी देर तक एकाग्र कर रहे हैं तो हम देखते हैं कि हमारा मन उस बिन्दु पर थोड़ी देर तक एकाग्र रहता है। बहुत देर तक प्रयत्न करने पर ध्यान इधर-उधर भागने लगता है। हमारे मन में अनेक प्रकार के विचार उठने लगते हैं और हमारा ध्यान इनकी ओर जाता है। जिस विषय में हमाने समझने के लिए कुछ भी नहीं रहता, जिसके नये-नये पहलू हमारे सामने नहीं आते उस पर अधिक देर तक ध्यान लगाना असम्भव है। जब हम एक ही विषय पर अधिक देर तक ध्यान लगाते हैं, तो हम उस विषय के अङ्ग-प्रत्यगों को समझते रहते हैं। हमारा ध्यान कुछ देर तक एक अंग पर रहता है, फिर दूसरे और तीसरे पर चला जाता है। इस तरह ध्यान का विषय एक होते हुए भी क्षण-क्षण पर बदलता रहता है। कोई व्यक्ति कितनी देर तक किसी विषय पर ध्यान लगा सकता है, यह उस विषय की जटिलता और उस व्यक्ति के मानसिक विकास पर निर्भर होता है। यदि कोई विषय ऐसा होता है जिसके अनेक पहलू नहीं हैं अथवा जो इतना सरल है कि उसके समझने के लिए कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है, तो ऐसे विषय पर अधिक देर तक ध्यान लगाना कठिन होता है। इस तरह जिस व्यक्ति को किसी विशेष विषय के समझने की शक्ति नहीं होती वह उस विषय पर अधिक देर तक ध्यान नहीं लगा सकता। जब हममें किसी विषय के समझने की शक्ति होती है तो हम उसके विभिन्न अङ्गों का एक-एक कर विचार करते हैं और इस तरह हमारे ध्यान के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। किन्तु जिस विषय के समझने की शक्ति हमारे मन में नहीं होती उसका हम भलीभाँति विश्लेषण नहीं कर सकते; उसके अनेक पहलू हमें नहीं दिखाई पड़ते। अतएव हम उस पर अधिक देर तक ध्यान भी नहीं लगा सकते।

बालकों का ध्यान प्रौढ़ लोगों के ध्यान की अपेक्षा अधिक चञ्चल होता है। इसका कारण यह है कि उनके किसी भी विषय के समझने की शक्ति परिमित होती है, उसको ध्यान के विषय के उतने पहलू नहीं दिखाई देते जितने कि

1. Shifting nature.

प्रौढ़ लोगों को दिखाई देते हैं। वास्तव में प्रौढ़ लोगों के ध्यान का विषय वैसे ही बदलता रहता है जैसे कि बालक के ध्यान का विषय। किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति का एक ही विषय के अनेक पहलुओं पर ध्यान बदला करता है और बालक के ध्यान का विषय ही बदल जाता है। यदि किसी प्रौढ़ व्यक्ति की समझ सुविकसित न हो और वह किसी विषय के बारे में उतना ही समझ सके जितना कि एक बालक समझता है, अर्थात् यदि वह उस विषय के विभिन्न अङ्गों को न देख सकता हो तो इस प्रौढ़ व्यक्ति का ध्यान भी वैसा ही चञ्चल होगा जैसा कि बालक का। ध्यान के एकाग्र करने की शक्ति वास्तव में ध्यान की अपरिवर्तनशीलता में नहीं है किन्तु समझ के विकास में है। जिस व्यक्ति की जितनी अधिक समझ होती है वह उतना ही अधिक किसी विषय पर ध्यान एकाग्र कर सकता है।

लक्ष्य-पूर्णता[1]—ध्यान की क्रिया लक्ष्य-पूर्ण होती है। किसी विषय पर ध्यान अपनी इच्छा की सन्तुष्टि के लिए होता है। जिस विषय में जितनी अधिक दृढ़ इच्छा होती है, उस विषय पर उतनी ही एकाग्रता में ध्यान लगता है। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के लक्ष्य विकसित होते हैं, उसके ध्यान लगाने की शक्ति भी उतनी ही बढ़ती है। सुसङ्गठित चित्र होने पर ध्यान के विभिन्न विषयों में एकता हो जाती है। एक ही लक्ष्य सभी विषयों को सूत्रीभूत करता है। ध्यान का अधिक चञ्चल होना जीवन में लक्ष्य-विहीनता का सूचक है। बालक का ध्यान उसकी मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही सञ्चालित होता है। मूल प्रवृत्तिजनित इच्छाओं की तृप्ति करना ही ध्यान का लक्ष्य होता है। ये इच्छाएँ जल्दी-जल्दी बदलती रहती हैं, अतएव ध्यान का विषय भी बदलता रहता है। प्रौढ़ लोगों की इच्छाएँ मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उनके स्वाभिमान अथवा आदतों द्वारा भी सञ्चालित होती हैं, अतएव वे किसी विषय पर देर तक ध्यान दे सकते हैं।

ध्यान के कारण[2]

किसी विषय पर ध्यान लगाने के दो प्रकार के कारण होते हैं—एक बहिरङ्ग[3] और दूसरा अन्तरङ्ग[4]। दोनों प्रकार के कारणों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। किन्तु विषय का भलीभाँति प्रतिपादन करने के लिए हमें उन पर अलग विचार करना उचित है।

---

1. Purposive. 2 Conditions of attention. 3. Objective-conditions. 4 Subjective conditions.

बहिरङ्ग कारण—किसी विषय पर ध्यान जाने के बहिरङ्ग कारण निम्न-लिखित हैं। हम इन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

(१) उत्तेजना की प्रबलता[1]—हमारी चेतना के समक्ष हर समय बाहर में उत्तेजनाएँ आती रहती हैं। ये उत्तेजनाएँ संवेदना के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित होती हैं। हमारा ध्यान उसी उत्तेजना द्वारा आकर्षित होता है जो दूसरी उत्तेजनाओं की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है। रेल के प्लेटफार्म पर अनेक प्रकार का हल्ला-गुल्ला होता रहता है। हमारा ध्यान उस हल्ला-गुल्ला पर इतना आकर्षित नहीं होता जितना कि रेल की सीटी पर होता है। शाम को बजनेवाला बिजली घर का भोपू सब हल्ला-गुल्ला होते हुए भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उनके ध्यान आकर्षित करने का प्रधान कारण उत्तेजना की प्रबलता ही है। धीरे-धीरे बोलनेवाने की अपेक्षा जोर से बोलनेवाला वक्ता सभा के लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित करता है। धीरे-धीरे रोने की अपेक्षा बालक का चिल्लाकर रोना माता तथा आस-पास के लोगों का ध्यान अधिक शीघ्रता से आकर्षित करता है। भड़कीले रङ्ग के कपड़े पहननेवाला व्यक्ति फीके रंग के कपड़े पहननेवाले व्यक्ति की अपेक्षा दूसरों का ध्यान अधिक आकर्षित करता है। चटकीले रंग से बनी तस्वीर हल्के रंग से बनी तस्वीर की अपेक्षा अधिक ध्यान आकर्षित करती है। प्रबल सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध साधारण गन्ध की अपेक्षा शीघ्रता से ध्यान आकर्षित करती है। इस तरह हम देखते हैं कि उत्तेजना की प्रबलता ध्यान के आकर्षण का एक प्रधान कारण है।

(२) परिवर्तन[2]—ध्यान के आकर्षण का दूसरा बहिरंग कारण विषय का परिवर्तन है। मान लीजिए, हम बार-बार रेल की सीटी सुनते हैं। और उसमें कुछ परिवर्तन नहीं देखते, तो उत्तेजना प्रबल होने पर भी उस पर हमारा ध्यान जा नहीं सकता। ध्यान का एक मुख्य गुण परिवर्तनशीलता है। प्रबल उत्तेजना तभी तक ध्यान को आकर्षित करती है जब तक उसमें हम कुछ विशेषता देखते हैं। जब उत्तेजना विशेषताविहीन हो जाती है तो वह ध्यान को आकर्षित नहीं करती। प्रबल उत्तेजना में एकाएक परिवर्तन होने पर वह ध्यान को आकर्षित करती है, चाहे यह परिवर्तन उत्तेजना में बढ़ती की ओर हो अथवा घटती की ओर। मान लीजिए, हमारे सामने एक घड़ी रखी हुई है। वह टिक-टिक शब्द कर रही है। हम अपने लिखने-पढ़ने के

---

1. Intensity of stimulus. 2. Change.

काम में लगे हुए हैं। घड़ी का टिक-टिक शब्द मानो हमें सिर्फ सुनाई देता है। किन्तु एकाएक घड़ी बन्द हो जाती है, उसका टिक-टिक शब्द आना बन्द हो जाता है, तो वह हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। इसी तरह यदि हम किसी फैक्टरी में काम कर रहे हैं जहाँ पर चारों तरफ से जोर की आवाज आती है। अब यदि हम एकाएक आवाज धीमी पड़ने का अनुभव करते हैं, तो हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित हो जाता है। फैक्टरी में काम करनेवाले आवाज के घट जाने अथवा बढ़ जाने के प्रति विशेष सावधान रहते हैं। अतएव इस प्रकार आवाज का घटना या बढ़ना उनके ध्यान को तुरन्त आकर्षित करता है।

(३) **विषय की नवीनता**[1]—नवीन विषय पुराने विषय की अपेक्षा ध्यान को अधिक आकर्षित करता है। हम नवीन बातों को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। अतएव कोई भी नवीन विषय हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। जिस विषय से हम परिचित हो जाते हैं उस पर ध्यान नहीं ठहरता। यदि परिचित विषय पर ही ध्यान लगाने की चेष्टा की जाती है तो हमें अकुलाई आने लगती है। ऐसी अवस्था में हम मानसिक थकावट का अनुभव करते हैं। यदि हमारे ध्यान के विषय हमारे साधारण परिचित विषय ही बने रहें तो ध्यान की उपयोगिता अधिक न रहे। नवीन वस्तु नई सम्भावना लेकर आती है; वह हमारे सुख को या तो बढ़ा सकती है या घटा सकती है। इसके प्रति सतर्क होना प्राणी के जीवन के लिए आवश्यक है। यदि इस प्रकार की सतर्कता किसी प्राणी में न हो तो उसके जीवन का अन्त हो जाय। जब पशु-पक्षी किसी नई आवाज को सुनते हैं तो वे उसके प्रति सतर्क हो जाते हैं। वे यह जानने की चेष्टा करते हैं कि यह नई आवाज कहीं किसी प्राणघातक जीव की न हो।

किसी विषय को रोचक बनाने के लिए वक्ता अथवा लेखक नये-नये दृष्टान्त देता है। वह अपनी वक्तृता अथवा लेख में जितनी ही नवीनता ले आ सकता है उतना ही वह श्रोताओं अथवा पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकता है। यदि हम किसी वक्ता के व्याख्यानों को बार-बार सुनें, तो हम उसके व्याख्यानों पर उतना ध्यान नहीं लगा सकते, जितना कि हम उसके व्याख्यानों को प्रथम बार सुनने में लगा सकते थे। बार-बार किसी वक्ता के व्याख्यानों को सुनने से हमारा मन ऊब जाता है, फिर ध्यान इधर-उधर भागता है। किसी भी वक्ता की अपने व्याख्यानों में नवीनता लाने की शक्ति परिमित होती है। जब इस

1. Newness.

नवीनता का अन्त हो जाता है तब हम उस वक्ता के व्याख्यानों को नहीं सुनना चाहते। इस मनोवृत्ति का परिचय हम वक्ता की नुक्ताचीनी करने में दिखलाते हैं।

(४) विरोध[1]—किसी तरह का विशेषत्व अथवा विरोध हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यदि किसी चित्र में दो-तीन मिलते-जुलते रंगों का ही उपयोग किया गया है तो वह हमारे ध्यान को उतना आकर्षित नहीं करता जितना कि विरोधी रंगों रंगा से हुआ चित्र आकर्षित करता है। जब जोर से व्याख्यान देनेवाले व्यक्ति की आवाज एकाएक धीमी हो जाती है तो हमारा ध्यान उसकी ओर अधिक आकर्षित हो जाता है। पाठकगण अपने पाठ्य-विषय को रोचक बनाने के लिए कई प्रकार के विरोधी गुणों की तुलना करते हैं जिससे कि बालकों का ध्यान पाठ्य-विषय की बातों पर अधिक आकर्षित हो और वे उस विषय को अधिक देर तक स्मरण रक्खें। जिस देश में सभी लोग नाटे हैं उसमें छः फुट का आदमी सभी का ध्यान आकर्षित करता है। इसी तरह हम सभी की दृष्टि बौने की ओर जाती है। जिस व्यक्ति का आचार-व्यवहार, बोलने का ढंग, रूप-रंग किसी विशेष प्रकार का होता है अर्थात् यदि किसी गुण में किसी व्यक्ति का जन-साधारण से विरोध होता है तो वह हमारा ध्यान तुरन्त आकर्षित कर लेता है। महात्मा गांधी का गृहस्थ और राजनीतिक होने पर भी लँगोटी लगाना तुरन्त ध्यान आकर्षित करता है। यदि महात्मा गांधी सन्यासी होते, तो उनका लँगोटी लगाना किसी का ध्यान आकर्षित न करता। कितने ही लोग जन-साधारण का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ही अनेक प्रकार की विचित्र बातें करते हैं। विशेष प्रकार के कपड़े, जूते और टोपी पहनना, विशेष तरह से बोलना, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए होते हैं। जिन लोगों में सद्गुणों की विशेषता होती है वे अपने सद्गुणों से दूसरों का ध्यान आकर्षित करते हैं और जिनमें सद्गुणों का अभाव रहता है वे दुर्गुणों से ही दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। विरोधी का ज्ञान नवीनता का ज्ञान है। विरोध एक विशेष प्रकार की नवीनता है। अतएव जब हमने पहले कहा कि नवीनता हमारे ध्यान को आकर्षित करती है, तो उस कथन में इसका भी समावेश होता है कि विरोध ध्यान को आकर्षित करता है।

(५) गतिशीलता[2]—स्थिर पदार्थ की अपेक्षा गतिमान् पदार्थ हमारे

1. Contrast. 2 Movement.

ध्यान को अधिक आकर्षित करता है। सिनेमा घर में जब स्थिर और गतिमान् दोनों प्रकार से चित्र दिखाये जाते थे, तो लोगों को स्थिर चित्रों के देखने में इतना आनन्द नहीं आता था जितना चल-चित्र में आता था। चुपचाप बैठे हुए व्यक्ति की अपेक्षा क्रियमाण व्यक्ति हमारे ध्यान को अधिक आकर्षित करता है। एक जगह रक्खा हुआ पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित नहीं करता। जब उसी पदार्थ में हम कोई गति देखने लगते हैं तो हम एकाएक उस पदार्थ से आकर्षित हो जाते हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रयोग एक कुत्ते पर किया गया है।

एक कुत्ते के सामने एक हड्डी का टुकड़ा पड़ा था। कुत्ता चुपचाप बैठा हुआ था। इस हड्डी के टुकड़े में पहले से ही एक बारीक धागा बँधा हुआ था। कुत्ते का ध्यान जब विशेष प्रकार से हड्डी की ओर नहीं गया, तो हड्डी को धीरे-धीरे उस बारीक धागे के द्वारा दूर से खींचा गया। इस धागे को कुत्ता देख नहीं सकता था और धागा खींचनेवाला उसे नहीं दिखाई देता था। जब हड्डी उसके सामने से सटकने लगी तो कुता एकाएक चिहुँक पड़ा और उसका सम्पूर्ण ध्यान उस हड्डी की जाँच करने में लग गया। यहाँ उसके ध्यान के आकर्षित होने के दो कारण थे। एक हड्डी का गतिमान होना और दूसरा गति की नवीनता।

पाठ पढ़ाते समय जो शिक्षक बालकों को वक्तृता मात्र देते हैं वे उनका उतना ध्यान आकर्षित नहीं करते, जितना कि कई प्रकार की विधियों का प्रयोग करनेवाले शिक्षक करते हैं। घर पर बनाया हुआ चित्र या नकशा पाठ पढ़ाने में उतना उपयोगी नहीं होता, जितना कि क्लास में बनाया हुआ उपयोगी होता है। जिस वस्तु की वृद्धि हमारे आँखों के सामने होती है, वह हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करती है।

अन्तरङ्ग कारण[1]—ध्यान का अन्तरंग कारण एकमात्र मनुष्य की रुचि है। यदि हम रुचि के कारणों का अध्ययन करें तो उन्हें दो प्रकार का पायेंगे—जन्मजात[2] और अर्जित[3]। जन्मजात रुचि के कारण मूल प्रवृत्तियाँ और परम्परागत मानसिक संस्कार हैं। अर्जित रुचि के कारण मनुष्य के विचार, आदत, स्थायीभाव, वासनाएँ तथा चरित्र हैं। प्रत्येक प्राणी का ध्यान उस ओर जाता है जिस ओर उसकी मूल प्रवृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं। जिन वस्तुओं से मूल प्रवृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं उनमें स्वभावतः ही रुचि रहती है। जब हम

1. Interest. 2. Inborn. 3. Acquired

कोई नई वस्तु देखते हैं तो उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इसका अन्तरंग कारण उत्सुकता की मूल प्रवृत्ति का उत्तेजित होना है। माँ का ध्यान अपने बच्चे के रोने की आवाज से तुरन्त आकर्षित हो जाता है। इसका कारण सन्तान-प्रेम की मूल प्रवृत्ति का उत्तेजित होना है। माँ का ध्यान बड़े बड़े शब्दों से आकर्षित नहीं होता; किन्तु बच्चे के धीमे शब्द से ही आकर्षित हो जाता है। बाहर की उत्तेजना कितनी ही प्रबल क्यों न हो, जब तक वह भीतर की किसी प्रवृत्ति को उत्तेजित नहीं करती तब तक ध्यान का कारण नहीं बनती। हम बाहर से आनेवाली प्रबल संवेदनाओं से इसलिए ही उत्तेजित होते हैं कि उनसे हम जीवन में सहायता अथवा रुकावट की सम्भावना देखते हैं।

वंशपरम्परागत मानसिक संस्कार भी मनुष्य की रुचि को विशेष ढङ्ग का बना देते हैं। माता-पिता की प्रबल इच्छाओं का भाव बालक पर भी पड़ता है। जिस परिवार में विशेष प्रकार का व्यापार होता रहता है प्रायः उसी ओर बालकों की रुचि भी हो जाती है। क्षत्रिय बालक में लड़ाई की प्रवृत्ति प्रबल होती है और ब्राह्मण बालक में पढ़ने-लिखने की। किन्तु परम्परागत मानसिक सभी संस्कार जन्मजात नहीं होते। अनेक परम्परागत संस्कार वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये संस्कार अर्जित होते हैं। अर्जित रुचि के कारण विचार, आदत, स्थायीभाव और वासनाएँ हैं। चरित्र इन्हीं सबसे मिलकर बनता है। मनुष्य के विचारों में जैसे-जैसे विकास होता है वैसे-वैसे उसकी रुचि में भी विकास होता है। इस तरह उसके ध्यान का विषय बदलता रहता है। जिस वस्तु के विषय में हमारा ज्ञान कुछ नहीं होता, उसमें हमारी रुचि भी नहीं होती और वह हमारा ध्यान भी आकर्षित नहीं करती। जटिल विषयों में ध्यान अधिकतर हमारे उस विषय को समझने की शक्ति पर निर्भर करता है। जिस विषय को समझने का सामर्थ्य हममें नहीं है, उस पर हम ध्यान को एकाग्र नहीं कर सकते। समझने का ज्ञान हमारे पूर्व ज्ञान पर निर्भर करता है। अपना ज्ञान बढ़ाकर हम किसी ओर भी अपनी समझ बढ़ा सकते हैं। इस तरह ज्ञान-वृद्धि से ध्यान देने की शक्ति में भी विकास होता है। समझ पर निर्भर करनेवाले ध्यान को बोधजन्य ध्यान कहते हैं।

मनुष्य की वासनाएँ और स्थायीभाव भी ध्यान के कारण होते हैं। जब विचार द्वारा मूल प्रवृत्तियों परिवर्तन होता है तो वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, और जब मनुष्य के संवेग विशेष प्रकार से अभ्यस्त होते हैं तो स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है। वासनाएँ ध्यान को उस ओर ले जाती हैं जहाँ उनकी तृप्ति

की सम्भावना होती है। इसी तरह मनुष्य के स्थायीभाव भी उसके ध्यान के नियामक होते हैं। देशभक्त का ध्यान देश की बात सुनने में लगता है; उसे देशभक्तों की गाथा सुनने से कभी थकावट नहीं होती; देश के ऊपर आपत्ति आने पर वह चिंतित हो जाता है और देश को इस आपत्ति से मुक्त करने के लिए अनेक उपाय सोचता है। स्थायीभावों के रहने पर यदि मनुष्य किसी विषय में देर तक ध्यान देना चाहे तो वह विषय कितना ही कठिन क्यों न हो सरल हो जाता है।

ध्यान के अन्तर्गत कारणों में एक प्रधान कारण आदत भी है। हम जिस प्रकार की आदतें अपने जीवन में डाल लेते हैं, उसी ओर हमारा ध्यान भी जाता है। जिस मनुष्य को सिनेमा देखने की आदत पड़ जाती है, वह सिनेमा के विज्ञापनों को बड़ी रुचि से पढ़ता है। सिनेमा देखने से वह नहीं थकता। जिस विषय पर हम पहले-पहल कठिनता से ध्यान एकाग्र करते हैं, आदत पड़ने पर उस विषय पर ध्यान लगाना हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता है। जिन बालकों को पढ़ने-लिखने की आदत नहीं पड़ी है वे पढ़ते समय जल्दी से थक जाते हैं, किन्तु आदत पड़ जाने पर थकावट नहीं आती। मनुष्य आदत के कारण बिना थकावट के घंटों कठिन काम करता रहता है। यदि हम किसी विशेष काम में ध्यान लगाना चाहते हैं तो हमें उस विषय पर ध्यान लगाने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास से आदत की उत्पत्ति होती है। जब किसी बात पर ध्यान डालने की आदत पड़ जाती है तो ध्यान स्वभावतः उस विषय पर एकाग्र हो जाता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान को साधारणतः निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित किया जाता है—
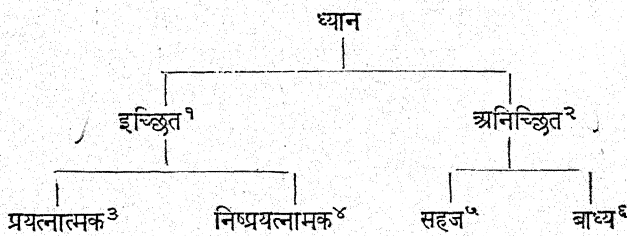
हम किसी भी पदार्थ की ओर या तो इच्छा से ध्यान देते हैं अथवा

1. Voluntary. 2. Non-voluntary. 3. Effortful. 4. Effortless. 5. Spotaneous. 6. Forced.

अनिच्छा से। जब किसी विषय पर ध्यान लगाने में किसी प्रकार भी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है तो वह इच्छित ध्यान कहलाता है। ध्यान के लगाने में जब इच्छाशक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता तो ध्यान को अनिच्छित ध्यान कहते हैं। इच्छित ध्यान के दो प्रकार हैं—प्रयत्नात्मक और निष्प्रयत्नात्मक। इसी तरह अनिच्छित ध्यान के दो प्रकार हैं—सहज और बाध्य। अब हम इन चारों प्रकार के ध्यानों का क्रमशः वर्णन करेंगे। पहले अनिच्छित ध्यान से आरम्भ करना सुगम है।

अनिच्छित सहज ध्यान—सहज ध्यान वह है, जिसके होने में प्रधानतः हमारा सहज स्वभाव अर्थात् जन्मजात प्रवृत्तियाँ काम करती हैं, अर्थात् सहज ध्यान की प्रेरक मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। प्रत्येक मनुष्य को सुरीले शब्द सुनने में जन्मजात रुचि होती है। इसी तरह भूखे का भोजन में, माता का अपने बालक में और लड़नेवाले का प्रतिपक्षी की चेष्टाओं में स्वाभाविक ध्यान जाता है। इस प्रकार ध्यान हमारी मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति का साधन होता है। अतएव जो उत्तेजनाएँ मूल प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं, उनकी ओर ध्यान ले आने के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न अथवा इच्छाशक्ति के उपयोग की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी वस्तुएँ स्वतः ही रुचिकर होती हैं और उनकी ओर ध्यान अपने-आप जाता है। बालक का ध्यान खेलने की ओर स्वतः ही जाता है। इसके लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के ध्यान को सहज ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पशु-पक्षियों और मनुष्यों में एक-सा ही पाया जाता है। बालक और प्रौढ़ दोनों प्रकार के व्यक्तियों में इस ध्यान की शक्ति होती है।

अनिच्छित बाध्य ध्यान—इस प्रकार के ध्यान में प्रायः बाह्य उत्तेजना की प्रधानता होती है। जब बाहर से कोई जोर की आवाज आती है तो हमारी उसको सुनने की इच्छा न होने पर भी उसे हमें सुनना पड़ता है। बाध्य ध्यान अनिच्छा से नहीं होता, इच्छा के प्रतिकूल भी होता है। हमारी इच्छा हमें एक विषय पर ध्यान लगाने के लिए प्रेरित करती है, किन्तु हमारा ध्यान दूसरी ओर भी बरबस खींचा जाता है। यदि हम अपनी पढ़ाई में लगे हैं तो हम नहीं चाहते कि कोई हमारे ध्यान में विघ्न डाले; किन्तु जब कोई आगन्तुक आकर हमारा द्वार खटखटाने लगता है, तो हमारा ध्यान उस शब्द की ओर न ले जाने की इच्छा रहते हुए भी हम उसे सुने बिना नहीं रह सकते। कभी-कभी बाध्य ध्यान किसी प्रबल अन्तर्मन की उत्तेजना के कारण भी होता है। यह उत्तेजना झक के रूप में चेतना के समक्ष आती है।

विक्षिप्त अवस्था में इस प्रकार की उत्तेजनाएँ बढ़ जाती हैं। इच्छाशक्ति ऐसी अवस्था में इतनी निर्बल हो जाती है कि वह मन में आनेवाले अवांच्छनीय विचारों को चेतना से अलग करने में असमर्थ नहीं होती। मॉरगन महाशय का अपनी "साइकॉलॉजी ऑफ़ दी अनएड्जस्टेड स्कूल चाइल्ड" नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है।

एक स्त्री को बार-बार यह विचार आता था कि कहीं वह अपने बच्चे को, जिसे वह खूब प्यार करती थी, मार न डाले। इस प्रकार का विचार निष्कारण होने पर भी वह उसे छोड़ नहीं सकती थी। उसे अपने इस अशुभ विचार से भय हो गया, अतएव उसने अपने घर के सभी छुरी चाकुओं तथा पैनी चीजों को छिपा दिया। तत्पश्चात् उसे यह विचार आया कि कहीं वह रोटी बनाने के बेलन से ही उसे न मार डाले। उसने इस बेलन को भी छिपा दिया। फिर उसके मन में विचार आया कि कहीं वह उस बच्चे का सिर कुर्सी पर पटककर ही उसे मार न डाले। इस प्रकार का विचार उसे बड़ा दुखदायी हो गया, किन्तु उसके लाख प्रयत्न करने पर भी वह विचार उसे छोड़ता न था। अन्त में उसे अपने विचार से व्यथित होकर मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ी।

उपर्युक्त उदाहरण असाधारण है। किन्तु हमारे सामान्य जीवन में भी हमारे किसी विशेष प्रकार की धारणा को मन से हटाने का अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे हटाने में हम समर्थ नहीं होते। जब सोते समय कोई चिन्ता सवार हो जाती है तो हमारे प्रयत्न करने पर भी वह हमें नहीं छोड़ती। हम जानते हैं कि इस चिन्ता के रहने से हमारा ही अनर्थ होगा, किन्तु इस प्रकार का ज्ञान हमें चिन्ता से मुक्त नहीं करता। जितना ही हम चिन्ता से मुक्त होने का अधिक प्रयास करते हैं, चिन्ता और भी जटिल हो जाती है। नींद न आने की बीमारी से पीड़ित लोगों को यही चिन्ता हो जाती है कि नींद आ जाय, यदि नींद न आई तो स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा। किन्तु यही विचार उनकी नींद आने में बाधक होता है।

बाध्य उत्तेजना से बाध्य ध्यान का होना एक साधारण सी बात है; आन्तरिक बाह्य उत्तेजना से बाध्य होकर किसी अप्रिय विषय पर ध्यान देना मानसिक दुर्बलता की बीमारी का सूचक है। इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता अधिक बढ़ जाने पर मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है।

इच्छित प्रयत्नात्मक ध्यान—हमारे जीवन का प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य इच्छित ध्यान से होता है चाहे वह प्रयत्नात्मक हो अथवा निष्प्रयत्नात्मक। जब हम एक नये विषय का अध्ययन करते हैं तो उसमें हमें प्रयत्न के साथ ध्यान लगाना पड़ता है। हमारा ध्यान बार-बार इधर-उधर जाता है, किन्तु हम बलपूर्वक ध्यान को पाठ्य-विषय पर एकाग्र करते हैं। जिन लोगों की इच्छा-शक्ति दुर्बल होती है वे इस प्रकार का प्रयत्न करने में असमर्थ होते हैं। किसी विषय पर भी, जिसमें उनकी जन्मजात रुचि नहीं है, ध्यान को एकाग्र नहीं कर सकते। वास्तव में ध्यान को एकाग्र करने की चेष्टा इच्छाशक्ति को बली बनाने की ही चेष्टा है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने ध्यान को एकाग्र कर सकता है, उसको उतना ही इच्छाशक्ति में बली समझना चाहिए। इच्छाशक्ति के बल पर ही मनुष्य के जीवन की सफलता निर्भर करती है, अतएव ध्यान की एकाग्रता मनुष्य के सामर्थ्य की सूचक है तथा उसे जीवन में सफल बनाती है। उचित वस्तु पर दीर्घकाल तक का ध्यान देने की शक्ति का नाम ही प्रतिभा है। प्रतिभा की यह व्याख्या अमनोवैज्ञानिक नहीं है। जो मनुष्य जितना ही अधिक ध्यान को उचित विषयों पर एकाग्र कर सकता है वह उतना ही प्रतिभाशाली है।

इच्छित निष्प्रयत्नात्मक ध्यान—जब किसी विषय पर प्रयत्नपूर्वक बार-बार ध्यान लगाते हैं तो उस विषय पर ध्यान लगाना सरल हो जाता है। हमें इस प्रकार के ध्यान की आदत पड़ जाती है। आदत के पड़ जाने पर अरोचक विषय भी रोचक बन जाता है। उस पर ध्यान लगाने में जो हमें पहले कठिनाई होती थी वह नहीं होती। अब आदत हमारे प्रयत्न की बचत करती है। पहले-पहल जब कोई व्यक्ति मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़ता है तो उसे ध्यान को एकाग्र करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। पुस्तक पढ़ते समय उसका ध्यान बार-बार इधर-उधर भागता है। किन्तु जब वह मनोविज्ञान की दस-पाँच पुस्तकें पढ़ चुकता है और विषय से परिचित हो जाता है तो उसे मनोविज्ञान की नई पुस्तक पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसका ध्यान अभ्यास के कारण स्वतः ही पुस्तक पढ़ने में लग जाता है। जिस प्रकार बालकों का मन खेलने में लगता है इसी प्रकार किसी विषय में रुचि रखने वाले व्यक्ति का मन उसके अध्ययन में लगता है। इस प्रकार का स्वभाव में परिवर्तन, आदत और स्थायीभावों के बन जाने से होता है। जब किसी भी विषय या व्यवसाय पर ध्यान देना आदत का अंग बन जाता है तभी हम उस

विषय के अध्ययन अथवा व्यवसाय में महत्वपूर्ण उन्नति करते हैं। प्रतिभाशाली व्यक्ति को वास्तव में अपने विषय के अध्ययन में हर समय उतनी शक्ति खर्च नहीं करनी पड़ती जितनी कि साधारण व्यक्तियों को करनी पड़ती है। आदत ही यहाँ शक्ति के अपव्यय को रोकती है।

हमें यहाँ यह न भूल जाना चाहिये कि इस प्रकार की ध्यान की आदत डालने में पहले पहल प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। यह प्रयत्न इच्छाशक्ति के प्रयास से ही होता है। अतएव ऐसी आदतों के कार्य में इच्छाशक्ति के प्रयास का सर्वथा अभाव नहीं समझना चाहिए। प्रयत्नात्मक और निष्प्रयत्नात्मक इच्छित ध्यान में अन्तर इतना ही है कि पहले प्रकार के ध्यान में जान-बूझकर प्रयत्न करना पड़ता है, दूसरे प्रकार के ध्यान में पहले किया गया प्रयत्न काम करता है। अभ्यस्त कार्यों में जो भी प्रयत्न किया जाता है वह स्वभावतः होता है; अनजाने ही यह प्रयत्न हो जाता है। किन्तु जब वास्तव में प्रयत्न का अभाव हो जाता है तो आदत भी मिट जाती है और फिर किसी विषय पर ध्यान लगाना कठिन हो जाता है।

ध्यान-वशीकरण[1]

जीवन की सफलता ध्यान के वशीकरण में ही है। इच्छित ध्यान की वृद्धि ध्यान का वशीकरण ही है। बुद्धि और चरित्र का विकास इच्छित ध्यान की वृद्धि पर निर्भर होता है। इच्छाविहीन ध्यान का प्राबल्य विचार तथा चरित्र की कमी का सूचक है। बालकों तथा पशुओं में इच्छाविहीन अथवा प्राकृतिक ध्यान का प्राबल्य होता है; प्रौढ़ लोगों में इच्छित ध्यान की प्रबलता होती है। ध्यान को वश में करने के निम्नलिखित प्रमुख उपाय हैं—

(१) **इच्छित ध्यान का सहज ध्यान से संयोग**—इच्छित ध्यान का प्रारम्भ से ही दृढ़ होना कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति में आरम्भ से सहज ध्यान की प्रबलता होती है। यदि हम किसी वस्तु की ओर, जिस पर हमारा सहज ध्यान नहीं जाता, प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना चाहते हैं तो हमें उसे ऐसी वस्तु से सम्बन्धित करना होगा जिसके प्रति सहज ध्यान जाता है। बालक का ध्यान पुस्तक पढ़ने में नहीं लगता, किन्तु चित्र देखने में स्वभावतः चला जाता है। यदि हम बालक की रुचि पुस्तक पढ़ने में बढ़ाना चाहते हैं तो हमें चित्र देखने की प्रवृत्ति से पुस्तक पढ़ने के कार्य को सम्बन्धित करना पड़ेगा।

1. Conquest of attention.

जब बालक चित्र देखता है और उसके विषय में अनेक प्रश्न पूछता है तो हम तो उससे कह सकते हैं कि तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर चित्र के नीचे लिखा है, तुम पढ़ कर जान लो। इस तरह उसकी पुस्तक पढ़ने की इच्छा उत्तेजित होगी और वह पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न करेगा। रेलवे टाइम टेबुल का अध्ययन अरुचिकर होता है किन्तु जब हमें कहीं जाना होता है तो हम उस पर चाव से ध्यान देते हैं।

(२) **रुचि की वृद्धि**—जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है उसी में हमारा ध्यान लगता है। रुचि हमारे जन्मजात स्वभाव अथवा अर्जित संस्कारों पर निर्भर रहती है। जिन विषयों में हमारी मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति होती है उन पर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान जाता ही है। इन विषयों से ध्यान को हटाकर विचारपूर्वक योग्य सिद्ध किए हुए विषयों पर लगाना ध्यान को वश में करना है। योग्य पदार्थों में रुचि विचार की वृद्धि से होती है। हम जिन पदार्थों का महत्त्व जीवन में समझते हैं उन पर ध्यान देना सुगम होता है। वास्तव में किसी विषय का महत्त्व समझे बिना उस पर ध्यान जमाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। बहुत से बालकों का ध्यान उनके पाठ्य-विषय पर नहीं जमता, किन्तु जब परीक्षा का समय आता है तो ये ही बालक प्रयत्न के साथ पुस्तकों को याद करने लगते हैं। किसी नये काम का सीखना तब तक ठीक से नहीं होता जब तक हम उसका अपने जीवन की सफलता में महत्त्व नहीं देखते। प्रौढ़ व्यक्ति का नई भाषा सीखना कठिन होता है, किन्तु जब हम किसी नये देश में अपनी प्रौढ़ अवस्था में पड़ जाते हैं तो जल्दी ही उसकी भाषा को सीख लेते हैं। वास्तव में अब हम उस काम में अपने ध्यान को अधिक एकाग्र कर लेते हैं।

(३) **विषय-परिवर्तन**—ध्यान को वश में करने के लिए उसके विषय का परिवर्तन करते रहना आवश्यक है। हम जिस ओर चाहें अपने ध्यान को ले जा सकते हैं, किन्तु उसे एक ही स्थान पर नहीं रख सकते। यदि हम उसे एक ही स्थान पर रखने का प्रयत्न करेंगे तो वह स्वतः ही दूसरी ओर चला जायगा। अतएव हमें पहले से ही निश्चय करके रखना चाहिए कि अमुक विषय के पश्चात् किस विषय पर हमारा ध्यान जाना चाहिये। यदि पाठ-शाला में दिन भर एक ही विषय पढ़ाया जाय तो उस पर बालकों का ध्यान एकाग्र करना असम्भव होगा। अतएव पाठशाला में पढ़ाई का समय-विभाग रहता है और उस विभाग के अनुसार पौन घण्टे में विषय-परिवर्तन हो जाता है।

नैपोलियन का कथन है कि काम का बदल देना ही आराम है। काम के बदल देने से मन उस काम से नहीं ऊबता और थकावट भी नहीं आती। विषय-परिवर्तन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए। जितने ही दो विषय विरोधी होते हैं, एक से दूसरे में ध्यान डालना सुविधाजनक होता है। यदि हम कुछ काल तक मस्तिष्क सम्बन्धी परिश्रम करें तो उसके बाद हाथ का परिश्रम करना अच्छा होगा। यदि हम दो घण्टे तक गणित का अभ्यास करें तो इसके पश्चात् चित्रकला का अभ्यास लाभदायक होगा।

(४) **क्रिया-सहयोग**—ध्यान में जितना ही क्रिया का सहयोग होता है उतना ही ध्यान को एकाग्र करने में सरलता होती है। स्वयं ध्यान क्रियात्मक मानसिक वृत्ति है। अतएव जितनी ही अधिक क्रिया की प्रधानता होती है, यह मनोवृत्ति तीव्र होती है। क्रिया और ज्ञान का सदा सहयोग होता है। जैसे-जैसे मनुष्य में कार्य करने की शक्ति बढ़ती है उसका ज्ञान भी बढ़ता जाता है। अतएव मनुष्य के सक्रिय होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है। ध्यान ज्ञान की वृद्धि का साधन है। उसके विकास में ज्ञान और क्रिया दोनों का ही विकास होता है। ध्यान उदासीनता का प्रतियोगी है। क्रिया से मनुष्य की उदासीनता नष्ट होती है, अतएव ध्यान की शक्ति की वृद्धि होती है। यदि हमारा मन पुस्तक पढ़ते समय इधर-उधर भाग रहा हो तो हमारे लिए उसके विचारों पर मनन करना अच्छा होगा। यदि इससे भी ध्यान एकाग्र नहीं हो तो हमें उसके कुछ विचारों को नोटबुक पर लिखना आरम्भ करना उत्तम है।

(५) **ध्यान की आदत**—किसी भी विषय पर अभ्यास के द्वारा मन एकाग्र किया जा सकता है। योगसूत्र में मन के एकाग्र करने के दो उपाय बताए गये हैं—एक वैराग्य और दूसरा अभ्यास*। अभ्यास आदत का जनक है। जिस काम करने की आदत हमें पड़ जाती है वह काम रुचिकर हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी जटिल विषय पर ध्यान बड़े प्रयत्न के साथ लगाया जाता है, किन्तु बार-बार इस प्रकार का प्रयत्न करने पर उस विषय पर ध्यान लगाना सरल हो जाता है। जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में ध्यान लगाना चाहता है उसे प्रतिदिन पढ़ने-लिखने का अभ्यास करना आवश्यक है। इस प्रकार के अभ्यास से बिना प्रयास मन पढ़ने-लिखने में लग जाता है। जब किसी प्रकार का अभ्यास बहुत दिन तक छूट जाता है तो उस विषय में

---

* अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

पुनः ध्यान लगाना कठिन हो जाता है। किन्तु हमारा पूर्व अभ्यास यहाँ भी हमारी सहायता करता है। अभ्यास ही कठिन से कठिन अरोचक विषयों को सरल कर उन्हें रोचक विषय बना देता है।

(६) हठ न करना—ध्यान के लगाने में जो विक्षेप पैदा होते हैं उन्हें हठ द्वारा हटाया नहीं जा सकता। यदि हम किसी विशेष पदार्थ का चिन्तन नहीं करना चाहते तो उचित यही है कि हम किसी दूसरे रोचक काम में मन लगावें अथवा रोचक बातों की ओर ध्यान को ले जावें। यदि हम इसके बदले मन के किसी हठ से लड़ना चाहें तो अवश्य परास्त हो जायेंगे। जिस विषय को हम सोचना नहीं चाहते वही विषय बार-बार हमारे चिन्तन में आवेगा।* कितने ही मनुष्यों को दुश्चिन्तन की बीमारी होती है। वे जितना ही अपने दुश्चिन्तन को हटाने का प्रयत्न करते हैं उतना ही अधिक दुश्चिन्तन बढ़ता जाता है। यदि ऐसे लोग अपने दुश्चिन्तन को हटाने का प्रयत्न छोड़ दें तो सम्भव है कि उनका दुश्चिन्तन छूट जाय। दुश्चिन्तन प्रायः किसी मानसिक ग्रन्थि का परिणाम होता है। इस ग्रन्थि के खुलने पर दुश्चिन्तन दूर हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को, जो काम करना है उस पर, ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। जिस विषय पर हम ध्यान देना चाहते हैं, उसके विषय में ध्यान न देने की भी चिन्ता को छोड़ना चाहिए। जिस विषय को मन पकड़ लेता है, उसको उस विषय से हटाने के लिए उदासीनता लाभप्रद होती है।

(७) विक्षेप को ध्यान का अंग बनाना—मान लीजिए, हम मनो-

* इस सम्बन्ध में निम्नलिखित किंवदन्ती उल्लेखनीय है—

एक व्यक्ति किसी योगी के पास वशीकरण मंत्र (दूसरों का मन वश में करने-वाला मंत्र) सीखने गया। योगी महाराज ने उसे एक मन्त्र बताया और उससे कहा, "इस मन्त्र को एकान्त स्थान में एक हजार बार जप करने से दूसरों का मन वश में करने की सिद्धि प्राप्त हो जायगी।" उस मन्त्र को लेकर वह व्यक्ति उस योगी के पास से प्रसन्न होकर चलने लगा। चलते समय उस मनुष्य को बुलाकर योगी ने पुनः कहा—"भाई, मैं एक बात कहना भूल गया था। उस मन्त्र को जपते समय बन्दर का विचार अवश्य आ जाता है, उसे तुम मत आने देना, नहीं तो सिद्धि प्राप्त नहीं होगी।" योगी का यह उपदेश सुनकर वह प्रसन्नता से घर आया। उसने निश्चय कर लिया कि वह बन्दर का विचार, मंत्र जपते समय कभी न आने देगा। किन्तु ज्योंही उसने एकान्त स्थान खोजकर मन्त्र को जपना आरम्भ किया, बन्दर का विचार भी आ गया। जैसे-जैसे वह उसे हटाने का प्रयत्न करता था वैसे-वैसे वह विचार और भी दृढ़ होता जाता था।

विज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं और इस समय कोई विचार हमारे ध्यान को उचाट रहा है। ऐसे समय उस विचार का ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ कर देना उचित होगा। इस तरह प्रत्येक विषय को अध्ययन का विषय बना लेने से ठीक अध्ययन के विषय पर ही ध्यान एकत्र रहेगा।

जब बालकों का ध्यान पढ़ाई के विषय पर न जाकर अन्यत्र जाता है, तो कुशल शिक्षक इस अन्य विषय की अवहेलना न कर उसी के सम्बन्ध में इस प्रकार चर्चा करता है कि बालकों की पढ़ाई का ही वह अङ्ग बन जाता है*।

प्रश्न

१—कोई व्यक्ति किसी विषय पर ध्यान दे रहा है अथवा नहीं, यह कैसे पहचाना जा सकता है? उदाहरण सहित समझाइये।

२—ध्यान की क्रिया की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? ध्यान की परिवर्तनशीलता पर प्रकाश डालिए।

३—ध्यान के बहिरंग कारण क्या-क्या हैं? यदि कोई टिक-टिक करती हुई घड़ी एकदम से बन्द हो जाती है तो हमारा ध्यान उसकी ओर क्यों जाता है?

४—विरोध से हमारा ध्यान किसी पदार्थ की ओर आकर्षित होता है। इस सत्य का निरूपण कीजिये।

५—ध्यान के अन्तरङ्ग कारण कौन-कौन से हैं? इनका ध्यान के बहिरङ्ग कारणों से किस प्रकार साम्य है?

६—अनिच्छित बाध्य ध्यान का स्वरूप उदाहरण सहित समझाइये।

७—ध्यान को किस प्रकार वश में किया जा सकता है? किसी व्यक्ति के मन में कोई अप्रिय विचार इच्छा के प्रतिकूल बार-बार आता है। ऐसे विचार से मुक्त होने का क्या उपाय है?

---

* यहाँ यह कथा उल्लेखनीय है—कोई पुरोहित अपने टट्टू पर बैठकर यजमानों के यहाँ जाना चाहता था। ज्योंही वह घर से निकला, उसका टट्टू अड़ गया। पुरोहित टट्टू को आगे की ओर हाँकता, टट्टू पीछे जाता। पुरोहित ने इस पर टट्टू का मुँह पीछे की ओर मोड़ दिया और कहा, "चल, इसी ओर चल। इधर भी मेरी यजमानी है।" फिर टट्टू वश में हो गया। हठी मन को वश में करने का भी यही उपाय है।

दसवाँ प्रकरण

संवेदना[1]

चैतन्य मन का सर्वप्रथम और सरल ज्ञान संवेदन है। संवेदन इन्द्रियों के बाह्य पदार्थ के स्पर्श से होता है। अतएव स्पर्श ही संवेदन का समीपवर्ती कारण है। इस स्पर्श की सम्भावना मन और इन्द्रियों से होती है। जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द 'सेंसेशन' के कई अर्थ हैं, किन्तु मनोविज्ञान की पुस्तकों में वह एक विशेष अर्थ में काम में आता है, इसी तरह भारतीय साहित्य में 'संवेदना' शब्द को कई अर्थों में प्रयोग करते हैं। सहानुभूति को भी संवेदना कहा जाता है। किन्तु यहाँ हम संवेदना शब्द इन्द्रियजन्य प्रथम ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं।

संवेदना की उत्पत्ति—संवेदना किसी भी इन्द्रिय की उत्तेजना से उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति में शरीर की ज्ञानवाही नाड़ियाँ[2] और मस्तिष्क काम करते हैं। जब हमारे शरीर का कोई भाग बाह्य पदार्थ से स्पर्श करता है तो शरीर के उस भाग में स्थित ज्ञानवाही नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। ज्ञानवाही नाड़ियों का शरीर के बाहरी भाग पर रहनेवाला छोर ही विशेष प्रकार की इन्द्रिय कहलाता है। ज्ञानवाही नाड़ी के उत्तेजित होने पर उसकी उत्तेजना सुषुम्ना से होकर मस्तिष्क के ज्ञानजनक केन्द्र तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचने पर विशेष प्रकार का इन्द्रियज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

हमारे शरीर के विभिन्न भागों के ऊपर ज्ञानवाही तन्तु फैले हुए हैं। इन्हीं तन्तुओं से सब प्रकार का इन्द्रियज्ञान अर्थात् संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। आँख की रेटिना के उत्तेजित होने पर जो ज्ञानतन्तु वहाँ से उत्तेजना ले जाते हैं उनसे रूप-संवेदना उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कान के ज्ञानवाही तन्तुओं में उत्तेजना होने पर शब्द-संवेदना उत्पन्न होती है। जिह्वा के विशेष भाग से बाह्य पदार्थ के स्पर्श करने पर जो ज्ञानवाही तन्तुओं में उत्तेजना होती है, वह रस-संवेदना में परिणत होती है। नाक के विशेष भाग में फैले ज्ञानवाही तन्तुओं की उत्तेजना से गन्ध-संवेदना उत्पन्न होती है। इस तरह सभी प्रकार की संवेद-

---

1. Sensation. 2. Sensory nerves.

नाओं का कारण विशेष प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय, अर्थात् ज्ञानतन्तुओं का बाह्य पदार्थ के सम्पर्क में आना ही होता है।

निम्नवर्ग के प्राणियों की इन्द्रियाँ—प्राणिमात्र में संवेदना की शक्ति होती है; अर्थात् उसकी ज्ञानवाही नाड़ियाँ जो शरीर के विभिन्न भागों में फैली हैं, विभिन्न प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान उत्पन्न करती हैं। मनुष्य के शरीर के भिन्न-भिन्न भाग पृथक्-पृथक् इन्द्रियों के स्थल हैं। किन्तु निम्नवर्ग के जीवों के अंगों में इस प्रकार इन्द्रियाँ स्थित नहीं हैं। केंचुआ के आँख, कान, नाक आदि नहीं होते; किन्तु जो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा दूसरे प्राणियों को होता है, वह ज्ञान केंचुआ को भी कम या अधिक मात्रा में होता है। 'अमीवा' नामक प्राणी के पेट के अतिरिक्त और कोई अंग नहीं होता, तिस पर भी उसे विभिन्न प्रकार के कुछ ऐसे ज्ञान होते हैं जो साधारणतः उन इन्द्रियों के अभाव में होना सम्भव नहीं। हम जैसे उत्तरोत्तर उच्चवर्ग के प्राणी के शरीर की बनावट देखते हैं, उसके शरीर के विशेष स्थलों में ही विशेष इन्द्रियों को पाते हैं; अर्थात् उच्चवर्ग के प्राणियों के ज्ञान-तन्तुओं में काम का बँटवारा हो जाता है। ये ज्ञान-तन्तु विशेष प्रकार का काम करने में अभ्यस्त हो जाते हैं। अतएव उनकी विशेष प्रकार के ज्ञानोत्पादन की शक्ति भी बढ़ जाती है। प्राणियों के शरीर का विकास इस तरह विभिन्न प्रकार के ज्ञान-तन्तुओं तथा शरीर के अङ्गों में काम के बँटवारे से होता है।

प्रौढ़ व्यक्तियों का संवेदन चेतना का सबसे सरल ज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान का किसी प्रकार के पूर्व और अपर ज्ञान से सम्बन्ध नहीं होता। यह बाह्य विषय का प्रथम ज्ञान है, ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना मात्र से चेतना में आता है। जब इस संवेदना का सम्बन्ध पूर्व संवेदनाओं के संस्कारों से हो जाता है तो वह संवेदना विशेष प्रकार का अर्थ ग्रहण कर लेती है, अर्थात् वह संवेदना मात्र न रहकर प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत हो जाती है। संवेदना का इस प्रकार पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित होना उसका सार्थक बनना कहलाता है। संवेदना उस ज्ञान का नाम है जिसने उक्त प्रकार की सार्थकता न प्राप्त की है। इस प्रकार की अर्थरहित संवेदना नव-शिशु को होना ही सम्भव है। प्रौढ़ व्यक्तियों की सभी संवेदनाएँ चेतना में आते ही सार्थक बन जाती हैं, अर्थात् प्रौढ़ व्यक्तियों का ज्ञान पदार्थ-ज्ञान ही होता है; संवेदना मात्र का ज्ञान नहीं होता। पदार्थ-ज्ञान तात्कालिक संवेदना का पुराने अनुभव के संस्कार उत्तेजित करने से होता है। हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है

कि एक प्रकार की उत्तेजना मस्तिष्क में आते ही मस्तिष्क के अनेक ज्ञान-केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं, जिससे उस विशेष प्रकार की उत्तेजना का नया स्वरूप ही हो जाता है। मनुष्य का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसके मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में अधिकाधिक सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतएव किसी भी प्रकार की उत्तेजना तुरन्त अनेक प्रकार के अर्थ का उद्भव मन में करती है।

इस तरह हम देखते हैं कि संवेदना मात्र का ज्ञान प्रौढ़ व्यक्तियों को होना सम्भव नहीं। उनके मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि इस प्रकार का ज्ञान होना कठिन है। संवेदन का अध्ययन हम अपनी विश्लेषणात्मक कल्पना के द्वारा करते हैं। पदार्थ-ज्ञान में संवेदन का भी कार्य होता है। हम इस कार्य की कल्पना करके संवेदन के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। संवेदन निर्विकल्पक ज्ञान है, पदार्थ-ज्ञान सविकल्पक होता है। एक ज्ञान का पूर्व अपर ज्ञान से सम्बन्ध जुड़ना विकल्पक कहलाता है। संवेदना वह ज्ञान है जो मन की इस प्रकार की विकल्पक की क्रिया से रहित हो। यह निष्प्रकारक ज्ञान है, पदार्थ ज्ञान सप्रकारक ज्ञान होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का कोई भी ज्ञान पूर्णतः निर्विकल्पक अथवा निष्प्रकारक नहीं होता।

जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो उसके पहचानने के पूर्व एक प्रकार का निरर्थकज्ञान चक्षु-इन्द्रिय के उत्तेजन होने से होता है। इसे हम संवेदना कह सकते हैं। जब हम उस पदार्थ को पहचान लेते हैं तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाता है। इसी तरह दूर से आनेवाली आवाज का प्रथम ज्ञान संवेदना कहा जा सकता है, किन्तु जब हम यह जान लेते हैं कि यह आवाज किस प्रकार की और किस पदार्थ द्वारा पैदा की गई है तो हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

संवेदनाओं की उपयोगिता—हमारे समस्त ज्ञान का आधार संवेदनाएँ ही हैं। संवेदनाएँ अपने संस्कार मन पर छोड़ जाती हैं। इन संस्कारों और नई संवेदनाओं के सम्मिश्रण से पदार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ के अनुभव में इस तरह दो प्रकार का ज्ञान काम करता है। एक शीघ्र उत्पन्न हुआ अर्थात् इन्द्रियजनित ज्ञान और दूसरा संस्कारजनित ज्ञान। किन्तु इन संस्कारों का आधार भी पहले अनुभव की गई संवेदनाएँ हैं। इस तरह हम देखते हैं कि बाह्य जगत् के हमारे सभी ज्ञान का आधार संवेदनाएँ ही हैं। जिस समय में कोई इन्द्रिय की क्षति होने के कारण विशेष प्रकार की संवेदनाएँ ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती, वह संसार के

अनेक पदार्थों के ज्ञान से वञ्चित रह जाता है; जिन पदार्थों का उसे ज्ञान होता है, वह साधारण मनुष्यों के समान पूरा नहीं होता। उसका सभी ज्ञान अधूरा रह जाता है। जन्म से अन्धे मनुष्य को रंग की कल्पना कैसे हो सकती है? उनमें रूप-सौंदर्य को समझने की शक्ति होना ही सम्भव नहीं। इसी तरह जन्म से बहरा व्यक्ति सुरीले गानों का क्या उपभोग कर सकता है? उसके लिए मधुर और कर्कश आवाज एक-सी है।

बहरे मनुष्य गूँगे भी हो जाते हैं। दूसरों के बोलने की आवाज सुनकर बालक अपने बोलने का प्रयत्न करता है। हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार के ज्ञान-क्षेत्र और क्रिया-क्षेत्र अलग-अलग हैं, किन्तु उनका एक दूसरे से सम्बन्ध है। अतएव विशेष प्रकार के ज्ञान विशेष प्रकार की क्रियाओं को उत्तेजित करते हैं। शब्द-ज्ञान हमारी वागिन्द्रिय अर्थात् बोलने की प्रवृत्ति को उत्तेजित करता है। किन्तु जिस व्यक्ति को शब्दज्ञान ही नहीं होता उसकी बोलने की प्रवृत्ति कैसे उत्तेजित हो सकती है।

संवेदना संसार के पदार्थों के ज्ञान का प्राथमिक कारण है। संवेदन-शक्ति प्राणी के विकास के साथ-साथ बढ़ती है। मनुष्य में संवेदना की शक्ति सबसे अधिक है। किन्तु पशुओं में किसी विशेष प्रकार की संवेदन-शक्ति अधिक हो सकती है। उदाहरणार्थ कुत्ता, गिद्ध आदि को देखें। कुत्ते की सूँघने की शक्ति और गिद्ध को देखने की शक्ति मनुष्य से अधिक तीव्र है। यदि हम सभी तरह की संवेदना की शक्ति देखें तो उन्हें मनुष्य की अपेक्षा बिलकुल कम पावें। कई असभ्य जातियों के लोगों में संवेदना की शक्ति सभ्य जातियों की अपेक्षा अधिक होती है। डाक्टर राइवर्स ने प्रशान्त महासागर के द्वीपों के मूल निवासियों में संवेदना की शक्ति अधिक पाई; इसी तरह अमेरिका के मूल निवासियों की संवेदना-शक्ति भी साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार की विषमता का कारण अभ्यास जान पड़ता है। अभ्यास के द्वारा भी किसी विशेष प्रकार की संवेदना-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। एक व्यक्ति के जीवन के अभ्यास से चाहे इस प्रकार का अन्तर उत्पन्न न हो, पर परंपरागत वंशानुक्रम के अनुसार अभ्यास करने पर ऐसा अन्तर हो जाना सम्भव है। सभ्य समाज के लोग अपनी संवेदना-शक्ति से उतना काम नहीं लेते जितना कि असभ्य जातियों के लोग लेते हैं। उनकी चेतना अधिकतर बौद्धिक प्रश्नों को ही हल करती रहती है। अतएव जहाँ सभ्य मनुष्यों की विचारशक्ति में वृद्धि होती है, उनकी संवेदना-शक्ति में कमी

हो जाती है। जो शक्ति अभ्यास से विकसित होती है वह अनभ्यास से कम हो जाती है।

मनुष्य की संवेदना की शक्ति में जिस तरह परम्परागत अभ्यास से भेद होते हैं उसी तरह व्यक्तिगत अभ्यास से भी भेद होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि जन्म से अन्धा मनुष्य अभ्यास के फलस्वरूप देखने लगे, अथवा बहरा मनुष्य सुनने लगे। किन्तु अभ्यास से विभिन्न प्रकार के लोगों की समझने की शक्ति, अथवा विभिन्न प्रकार के आवाजों के जानने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है। मनुष्य की स्वस्थ अवस्था में उसकी संवेदनाएँ जितनी प्रबल होती हैं, उतनी उसकी अस्वस्थ अवस्था में नहीं होतीं।

संवेदनाओं के गुण

हमारी संवेदनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। एक ओर संवेदनाओं में प्रकार-भेद होता है और दूसरी ओर शक्ति-भेद। इस प्रकार के भेद संवेदना के गुण कहे जाते हैं :—

प्रकारता—शब्दसंवेदना, रूपसंवेदना से भिन्न है, इसी तरह घ्राण-संवेदना, रससंवेदना से भिन्न है। इस तरह के भेदों को संवेदना का प्रकार-भेद कहा जाता है। रूपसंवेदना में भी आभ्यन्तरिक प्रकार-भेद होते हैं। श्वेत, पीत, नील, लाल आदि रंगों की संवेदना का भेद भी प्रकार-भेद कहलाता है। यदि किसी संवेदना में से प्रकारता के भेद निकाल दिये जायँ तो उस संवेदना का अस्तित्व ही मिट जाय।

प्रबलता—संवेदनाओं में दूसरे प्रकार का आपस का भेद शक्ति अथवा प्रबलता का भेद है। एक ही प्रकार की तीक्ष्ण आवाज मध्यम आवाज से भिन्न होती है। जब घण्टा धीरे पीटा जाता है और जब वह जोर से पीटा जाता है तो दो प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। इस प्रकार का भेद ध्वनि की शक्ति का भेद कहलाता है।

संवेदना का प्रकार-भेद ज्ञानेन्द्रिय के भेद से उत्पन्न होता है और प्रबलता का भेद उत्तेजना के ऊपर निर्भर होता है। उत्तेजना की जैसी शक्ति होती है उसके अनुसार संवेदना भी प्रबल या निर्बल होती है। कभी-कभी प्रबलता का भेद प्रकारता के भेद में परिणित हो जाता है। जब किसी प्रकार की उत्तेजना की शक्ति एक निश्चित सीमा से अधिक होती है तो वह उत्तेजना दूसरे ही प्रकार की ज्ञात होती है। उदाहरणार्थ, साधारण गरम लोहा लाल रङ्ग का दिखाई देता है; जब उसकी गर्मी और भी अधिक बढ़ जाती है तो

उसका रंग सफेद हो जाता है। यहाँ गर्मी की कमी तथा वेशी ही रंगों के भेद का कारण है।

प्रकार और शक्ति के अतिरिक्त मनोविज्ञान के द्वारा संवेदनाओं के कुछ दूसरे भेद भी माने गये हैं। संवेदना की व्यापकता और उसका काल भी संवेदना के गुण माने जाते हैं। संवेदना की व्यापकता का भेद शरीर के कम या अधिक भाग से उत्तेजित होने पर निर्भर होता है। एक गरम तार से यदि हमारे शरीर का कोई भाग छू जाय तो हमें गर्मी की संवेदना उत्पन्न होगी, किन्तु यह संवेदना उतने ही गरम पैसे के छुलाये जाने की संवेदना से भिन्न होगी। इसी तरह जो आवाज एक सेकेण्ड ठहरती है, वह मिनट भर ठहरनेवाली उतनी ही तीक्ष्ण आवाज से भिन्न होती है।

पर इस प्रकार के संवेदना के भेद वास्तव में गुण-भेद नहीं हैं। ये भेद देश और काल से उत्पन्न हुए हैं। देश और काल से पैदा किये गये भेदों को संवेदना के स्वगत-भेद अथवा गुण-भेद मानना उचित नहीं।

संवेदनाओं का वर्गीकरण

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारी संवेदनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। संवेदनाओं को उनके प्रकार-भेद के अनुसार निम्नलिखित विभागों में विभक्त किया जाता है—

(१) देखने की संवेदना (दृष्टिसंवेदना)[1]
(२) सुनने की संवेदना (श्रोतृसंवेदना)[2]
(३) सूँघने की संवेदना (घ्राणसंवेदना)[3]
(४) स्वाद की संवेदना (रससंवेदना)[4]
(५) स्पर्शसंवेदना[5]—इसके चार भेद माने गये हैं—
    (क) दबाने की संवेदना[6]
    (ख) पीड़ा की संवेदना[7]
    (ग) उष्णता की संवेदना[8]
    (घ) शीतसंवेदना[9]

---

1. Visual sensations, 2. Auditory sensations. 3. Olfactory sensations. 4. Gastutary sensations. 5. Tectile sensations. 6. Sensations of pressure. 7. Sensations of pain. 8. Sensations of heat. 9. Sensations of cold.

(६) चलने-फिरने की संवेदना[1]
(७) समता की संवेदना[2]
(८) शरीर के भीतर चलनेवाली क्रियाओं की संवेदना[3]

उपर्युक्त संवेदनाओं के विभाजन से यह स्पष्ट है कि हमारी संवेदनाओं की प्रकार-विषयक साधारण धारणा अवैज्ञानिक और भ्रमात्मक है। साधारणतः हम इन्द्रिय-ज्ञान पाँच ही प्रकार का मानते हैं—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध। मनोविज्ञान के विकास के पूर्व इसी तरह की धारणा पश्चिम के लोगों की भी थी; पर प्रयोगों द्वारा यह धारणा भ्रमात्मक सिद्ध हुई। उदाहरणार्थ, स्पर्श-ज्ञान को ही लीजिये। हमारी साधारण धारणा यह है कि हमारे शरीर में शीत, उष्ण, पीड़ा आदि का ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। शीत का अनुभव करनेवाले शरीर के भाग, उष्णता का अनुभव करनेवाले भागों से भिन्न हैं। यह सच है कि ये भाग बहुत ही सूक्ष्म होते हैं अतएव इनके विभिन्न होने का ज्ञान साधारण व्यक्तियों को नहीं हो पाता, पर प्रयोगों द्वारा इन्हें जाना जा सकता है।

अब हमें मुख्य इन्द्रियों की बनावट और विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं की उत्पत्ति की क्रिया को जानना आवश्यक है।

दृष्टि-संवेदना

दृष्टि-ज्ञान होने के लिए उचित बाह्य उत्तेजक पदार्थ और स्वस्थ चक्षु-इन्द्रिय की आवश्यकता होती है। उत्तेजक पदार्थ तथा चक्षु-इन्द्रिय का वर्णन अलग-अलग दृष्टि-संवेदना के समझने में सहायक होगा।

दृष्टि-संवेदना के उत्तेजक—देखने की संवेदना उत्पन्न करनेवाला पदार्थ सूर्य की किरणें हैं जो साधारणतः सात रंग की बनी हुई रहती हैं। इन सातों रंगों के मिलने से सफेद प्रकाश का ज्ञान होता है अर्थात् सूर्य की साधारण सफेद किरण सात प्रकार के विभिन्न रंगों के मेल से बनी है। ये सात रंग निम्नलिखित हैं :—

(१) बनफ्शी[4], (२) नीला[5], (३) आसमानी[6], (४) हरा[7], (५) पीला[8], (६) नारंगी[9], और (७) लाल[10]।

---

1. Conative sensations. 2. Sensations of balance. 3. Organic sensations. 4. Violet. 5. Indigo. 6. Blue. 7. Green. 8. Yellow. 9. Orange. 10. Red.

यदि हम किसी तिकोने शीशे[1] में से प्रकाश को देखें तो ये रंग बिलकुल साफ-साफ दिखाई पड़ेंगे। प्रकाश हमारी आँख तक लहरों के रूप में आता है। किसी लहर के स्पन्दन की गति तीव्र होती है और किसी की धीमी। लहरों के स्पन्दन के गति-भेद से प्रकाश के रंग का भेद होता है। हमारी आँख में सभी प्रकार की लहरों द्वारा उत्तेजित की गई संवेदना को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। हमारी आँख की शक्ति परिमित है। न तो वह अति धीमी गतिवाली लहरों से उत्पन्न की गई उत्तेजना को ग्रहण कर सकती है और न अति वेगवाली लहरों से पैदा की गई उत्तेजना को। जो लहरें दृष्टिसंवेदना उत्पन्न करती हैं उनकी गति ४३५ से लेकर ७६६ विलियन एक सेकेण्ड में है। वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसी किरणों की खोज की है जो प्राणियों के जीवन में बड़े महत्त्व का कार्य करती हैं, किन्तु जिन्हें हम देख नहीं सकते। उदाहरणार्थ, एक्स रे और अल्ट्रावायलेट रे (अति बनफ्शी) को लीजिए। इन दोनों किरणों को हमारी आँख नहीं देख सकती किन्तु हमारे जीवन में ये मौलिक कार्य करती हैं। एक्स रे और अल्ट्रावायलेट रे की खोज चिकित्सावैज्ञानिकों के लिए बड़े महत्त्व की सिद्ध हुई है।

समावयवी और मिश्रित प्रकाश—प्रकाश की उत्तेजना दो प्रकार की होती है:—समावयवी[2] और मिश्रित[3]। समावयवी प्रकाश उपर्युक्त सात रंगों का होता है। मिश्रित प्रकाश का सबसे अच्छा उदाहरण साधारण सफेद प्रकाश है। वास्तव में जब हम किसी एक ही प्रकार के रंग का ज्ञान करते हैं उस समय भी समावयवी प्रकाश के साथ-साथ हमें मिश्रित प्रकाश का ज्ञान होता रहता है; अर्थात् हमारी चक्षु-संवेदना कभी भी मिश्रित प्रकाश के ज्ञान से अप्रभावित नहीं रहती।

आँख की बनावट—आँख एक गोल कैमरा के समान है। इसे नेत्र-गोलक[4] कहते हैं। इसकी रक्षा पलक और बरौनी करती हैं। ये गोलक गेंद की तरह गोल नहीं होते, इनकी लम्बाई एक कोने से दूसरे कोने तक एक इञ्च की होती है। इसका अगला भाग कुछ उभरा हुआ रहता है, जिसे कनीनिका[5] कहते हैं। कनीनिका में से होकर प्रकाश एक छोटे से दरवाजे पर पहुँचता है। यह दरवाजा उपतारा[6] कहा जाता है।

---

1. Prism. 2. Homogeneous. 3. Mixed. 4. Eye ball 5. Cornea. 6. Iris.

आँख का गोलक, जैसा कि चित्र नं ९ में दिखाया गया है, तीन तहों का बना हुआ है। इन तहों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) श्वेत पटल[1] (स्क्लेरोटिक)
(२) मध्य पटल[2] (कोरायड)
(३) अन्तरीय पटल[3] (रेटिना)
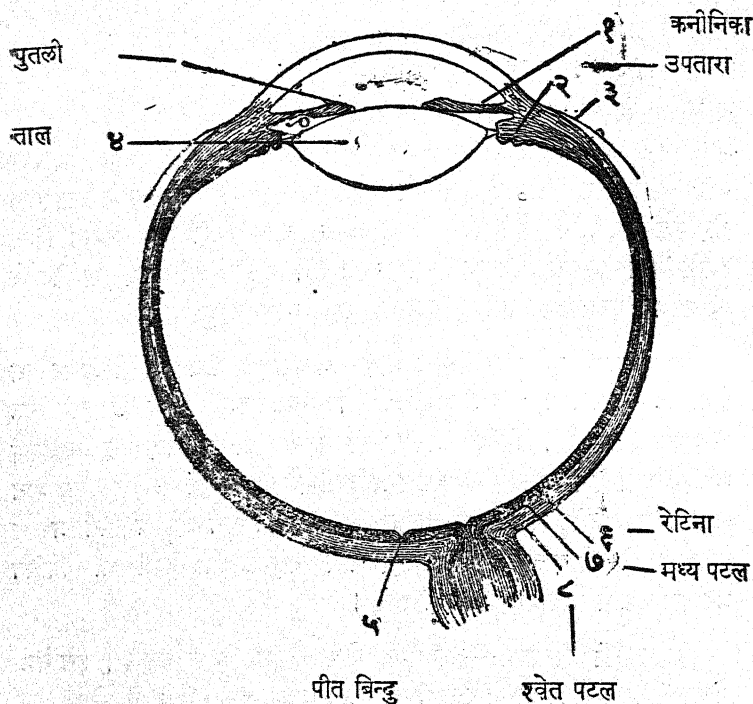
आँख के गोलक का चित्र

चित्र नं० ९

श्वेत पटल नेत्रगोलक का सबसे ऊपरी भाग है। यह नेत्र के ५।६ भाग पर फैला रहता है। इसका ही अगला भाग कनीनिका कहलाता है। कनीनिका पारदर्शी[4] होती है। श्वेत पटल पारदर्शी नहीं होता। कनीनिका का रंग

1. Sclerotic, 2. Choroid. 3. Retina. 4. Transparent.

भूरा या काला दिखाई देता है। इसका यह रंग वास्तविक नहीं है, किन्तु यह रङ्ग उपतारे का है जो इसके बीच होकर चमकता है।

मध्य पटल काले रंग का होता है। इस पटल के सामने की ओर प्रकाश को ग्रहण करनेवाला दरवाजा होता है जिसे उपतारा कहते हैं। उपतारा कनीनिका के कुछ पीछे होता है। यह कनीनिका से दिखाई देता है। इसके बीच में एक गोलाकार छेद होता है जिसे पुतली कहते हैं। उपतारा आँख में आनेवाले प्रकाश को कम या अधिक करता है। जब हम चमकीले प्रकाश में जाते हैं तो उपतारा में लगी हुई रेशेदार मांश-पेशियाँ पुतली को छोटा कर देती हैं और जब अँधेरे में आते हैं तो ये पेशियाँ उसे बड़ा कर देती हैं। यह उपतारे की क्रिया हमारे अनजाने अपने-आप होती है। इस प्रकार की क्रिया को "परावर्तन क्रिया" (सहज क्रिया) कहा जाता है। उपतारे के पीछे ताल (लेन्स) होता है। इसका वही काम है जो फोटोग्राफर के केमरे के ताल का होता है। उपतारा किसी पदार्थ से आनेवाली किरणों को रेटिना के विशेष भाग पर केन्द्रित करता है। मध्य पटल आँख की कोठरी को अन्धकारमय बनाये रखता है। उसके कारण आँख के अन्दर आनेवाला प्रकाश चमक नहीं पैदा करता। जिस तरह फोटो लेनेवाले केमरे के भीतर अन्धकार रहता है, इसी तरह आँख के गोलक के भीतर भी मध्य पटल के कारण अन्धकार रहता है। यदि यह अन्धकार न रहे तो आँख के सामने आनेवाले पदार्थ का ठीक चित्र रेटिना पर न पड़े।

आँख के गोलक का सबसे भीतरी भाग रेटिना या अन्तरीय पटल कहलाता है। यह मध्य पटल के नीचे और उससे लगा हुआ रहता है। रेटिना दृष्टि-संवेदना ग्रहण करनेवाली नाड़ियों के अगले भाग को कहते हैं। यह आँख के गोलक के भीतरी भाग १।३ हिस्सों में फैला रहता है। इसके बीचोबीच एक गोलाकार पीला धब्बा होता है, जिसे पीतबिन्दु[1] अथवा फोविया कहते हैं। जब आँख का यह भाग उत्तेजित होता है तो प्रबल दृष्टि-संवेदना होती है। जिस स्थान से होकर दृष्टि-संवेदना की नाड़ियाँ मस्तिष्क में जाती हैं उस स्थान में दृष्टि-संवेदना ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। इस स्थान को काला धब्बा[2] (अन्धबिन्दु) कहा जाता है।

रेटिना डण्डों और सूचियों का बना रहता है। इनकी आकृति अगले चित्र में दिखाई गई है। ये डण्डे और सूचियाँ दृष्टि-संवेदना ग्रहण करनेवाली

1. Fobia 2. Blind Spot.
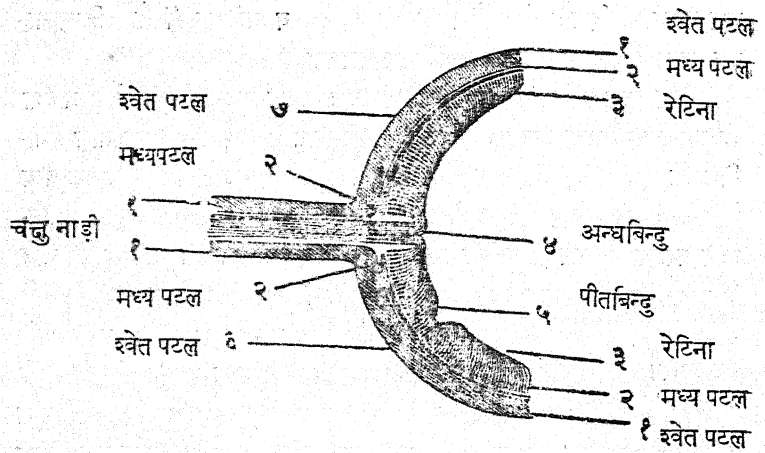
रेटिना का चित्र

चित्र नं० १०

स्नायुओं के सिरे हैं। डण्डे प्रकाश की चमक को ग्रहण करते हैं और सूचियाँ रंगों को ग्रहण करती हैं। अन्धबिन्दु पर न डण्डे रहते हैं और न सूचियाँ। फोविया अर्थात् पीतबिन्दु पर सूचियाँ मात्र रहती हैं। रङ्गों का स्पष्ट ज्ञान पीत-बिन्दु और उसके आस-पास ३०° तक होता है। रेटिना के दूसरे स्थलों पर डण्डे और सूचियाँ दोनों रहती हैं। जहाँ सूचियों का अभाव होता है वहाँ रंग का ज्ञान नहीं होता। रेटिना के छोर पर सूचियों का अभाव होने के कारण किसी रंग का ज्ञान नहीं होता, सभी पदार्थ भूरे अथवा काले दिखाई देते हैं। उससे भीतरी भाग में लाल और हरे रंग का ज्ञान नहीं होता। ये रंग पीले, नीले अथवा भूरे जैसे दिखाई देते हैं। उसके बादवाले भीतर की ओर के स्थल में अर्थात् फोविया (पीत-बिन्दु) समीपवर्ती स्थल में सभी रंगों का ज्ञान होता है।

अन्धबिन्दु की खोज के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है। किसी कागज पर एक गुणे का निशान लगाकर उससे तीन इञ्च दूरी पर एक वर्ग का चित्र बनाइए। इस चौकोर चित्र से एक इञ्च की दूरी पर एक स्टार का चित्र बना लें। अब अपनी बाईं आँख बन्द करके दाहिनी आँख से टकटकी लगाकर कोई पाँच इञ्च दूरी से गुणा के चिह्न को देखें। सम्भव है इस समय वर्ग और स्टार दोनों दिखाई पड़ें। अब अपनी दृष्टि को गुणे के
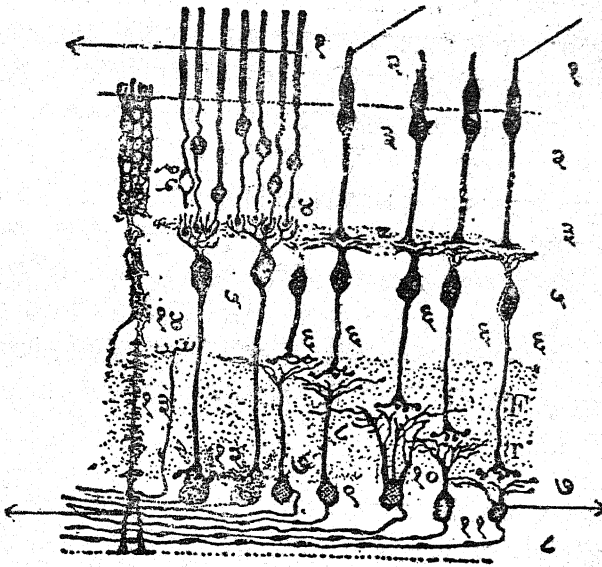
डण्डों और सूचियों का चित्र

चित्र नं० ११

ऊपर जमाये हुए जिस कागज में चित्र बने हैं उसे आगे की ओर धीरे-धीरे हटाओ। थोड़ी देर में वर्ग अदृश्य हो जायगा और फिर स्टार अदृश्य हो जायगा। इस समय वर्ग दिखाई देने लगेगा। जब स्टार या वर्ग का चित्र अन्धबिन्दु के ऊपर पड़ता है तो वे अदृश्य हो जाते हैं।

×

चित्र नं० १२

अन्धबिन्दु को एक आँख बन्द कर दूसरी आँख को किसी पेंसिल की नोक पर, जो आँख से दस बारह इञ्च दूरी पर हो, जमाकर तथा एक पैसे भर आगे पीछे करके मालूम किया जा सकता है।

आँख के गोलक को उपतारा दो भागों में विभक्त करता है—एक सामने

वाला और दूसरा पिछला। इन भागों में दो प्रकार के तरल पदार्थ भरे रहते हैं। एक का नाम जलीय रस (एक्यूअस ह्यूमर) है और दूसरे का स्वच्छ द्रव्य (विट्रिअस ह्यूमर) है। कनीनिका और उपतारा के बीच के भाग में जलीय रस रहता है। इस भाग को अगला कोष्ठ कहते हैं। गोलक के दूसरे भाग में अर्थात् उपतारा और रेटिना के बीच भाग में, जिसे पिछला कोष्ठ कहते हैं, स्वच्छ द्रव्य रहता है। जलीय रस निर्मल पानी की तरह पारदर्शी होता है और स्वच्छ द्रव्य एक गाढ़ा और कुछ लसदार, स्वच्छ, अर्द्धतरल पदार्थ होता है। यह उपतारा के पीछे लगे हुए ताल (लेंस) को अपने ऊपर रखे रहता है। इन द्रव्यों और ताल का यह कार्य है कि बाहर से आनेवाले प्रकाश को तिरछा करके रेटिना के सबसे अधिक संवेदनात्मक स्थान पर केन्द्रित करे, जिससे कि बाह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब साफ-साफ रेटिना के ऊपर पड़ सके।

जब किसी पदार्थ की उत्तेजना हमारी आँख तक पहुँचती है अर्थात् जब बाह्य पदार्थ से आनेवाली प्रकाश की किरणें हमारी आँख के बाहरी भाग से सम्पर्क करती हैं तो हमारी आँखें तुरन्त ही इस उत्तेजना को ग्रहण करने के लिए उचित तैयारी कर लेती हैं। आँख का उपतारा या तो बढ़ जाता है या सिकुड़ जाता है जिससे तारे से होकर उतनी रोशनी जा सके जितनी कि बाह्य पदार्थ का चित्र लेने के लिए आवश्यक है। अधिक रोशनी में तारे का आकार छोटा हो जाता है और कम रोशनी में बढ़ जाता है। तारे के पीछे ताल लगा हुआ है। बाह्य पदार्थ की सभी किरणें इस ताल से होकर जाती हैं। इस ताल तक आने के पूर्व किरणें समानान्तर रूप में आती हैं। इस ताल का यह कार्य है कि ये समानान्तर किरणें इस तरह से तिरछी हो जायँ जिससे वे एक विशेष विंदु पर एकत्रित हो सकें। यह ताल सूर्यमुखी काँच के समान बीच में मोटा और सिरों पर पतला रहता है। इस प्रकार के ताल को उन्नतोदर ताल (कानवेक्स लेन्स) कहा जाता है, किंतु हमारी आँख का उन्नतोदर ताल काँच के उन्नतोदर ताल के सदृश अपरिवर्तनशील नहीं है। यह एक जीवित पदार्थ है। इसमें परिस्थिति के अनुसार अपने को परिवर्तित करने की शक्ति होती है। यह आवश्यकतानुसार मोटा अथवा पतला हो जाता है। ताल की इस शक्ति को संयोजक शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा पास की और दूर की वस्तुएँ देखी जा सकती हैं; अर्थात् उनसे आनेवाली किरणों को एक ही स्थल पर केन्द्रित किया जा सकता है

साधारणतः मनुष्य की आखें दूर की वस्तुओं को (२० से ८० फुट तक की वस्तुओं को) सरलता से देखती हैं। किंतु जब पढ़ाई-लिखाई का काम ज्यादा करना पड़ता है तो आँख को नजदीक की वस्तु के देखने का अभ्यास डालना पड़ता है। नजदीक की वस्तु से आनेवाली किरणों को रेटिना पर केन्द्रित करने के लिए ताल और उपतारा से लगे हुए स्नायुओं को विशेष परिश्रम पड़ता है। इसके परिणाम स्वरूप दूर के पदार्थ देखने की शक्ति आँख से जाती रहती है। ताल ऐसी स्थिति में अधिक उन्नतोदर हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं लोगों को जन्म से ही आँख की बीमारी होती है। वे दूर की चीजों को देख सकते हैं, परन्तु नजदीक की चीजें को नहीं देख सकते। इस प्रकार के रोग को दूरदृष्टि का रोग कहते हैं। इसी तरह आँख का दुरुपयोग करने से निकट दृष्टि का रोग हो जाता है। ऐसे लोग नजदीक की चीजें अच्छी तरह से देख सकते हैं, किंतु दूर की चीजें नहीं देख सकते। निकट दृष्टि वाले लोगों की आँख का ताल आवश्यकता से अधिक उन्नतोदर होता है और दूर दृष्टि के रोगवाले लोगों की आँख का ताल आवश्यकता से कम उन्नतोदर होता है। पहले प्रकार के रोग में बाहर से आने वाली किरणें रेटिना के आगे केन्द्रित हो जाती हैं। इसे बीच में दबे हुए काँच के चश्मे (कानकेव लेन्स) की सहायता से सुधारा जा सकता है, अर्थात् इस प्रकार के चश्मे की सहायता से किरणों को रेटिना पर केन्द्रित किया जा सकता है। इसी तरह दूरदृष्टि के रोग को उन्नतोदर ताल के चश्मे से सुधारा जा सकता है।

दो आँखों की समान दृष्टि—हमारी दो आँखें हैं। जब हम किसी पदार्थ की ओर देखते हैं तो दोनों आँखों के रेटिना पर उस पदार्थ के दो चित्र अङ्कित होते हैं। फिर भी हमें ज्ञान एक ही पदार्थ का होता है। आँख की असाधारण अवस्था में ही दो पदार्थ दिखाई देते हैं। दो आँखों की समान दृष्टि कैसे होती है?

प्रत्येक आँख छः पेशियों द्वारा अपने काम करने में नियन्त्रित होती है। ये पेशियाँ आँख को ऊपर, बीच और दायें-बायें घुमाती हैं। दोनों आँखों की पेशियाँ साथ ही काम करती हैं। वे आँखों को ऊपर, नीचे और बाजू की ओर साथ ही हिलाती हैं। वे दोनों आँखों की दृष्टि को एक बिंदु की ओर केन्द्रित कर देती हैं। आँखों के इस प्रकार घूमने के कारण जब हम किसी पदार्थ की ओर देखते हैं तो उस पदार्थ का चित्र दोनों आँखों के पीत बिन्दु पर पड़ता है। जब दोनों आँखों के रेटिना का समान भाग बाहरी उत्तेजना को ग्रहण करता है

तो एक ही पदार्थ दिखाई देता है, पर जब बाहरी उत्तेजना दोनों आँखों के रेटिना के आस-पास के भाग को उत्तेजित करती है तो एक ही जगह दो पदार्थ दिखाई देते हैं। यह निम्नलिखित प्रयोग द्वारा देखा जा सकता है।

दो पेन्सिलों को अपने चेहरे के ठीक सामने (नाक की सीध में) इस तरह रखो कि एक चेहरे से चार इञ्च की दूरी पर हो और दूसरी पन्द्रह या बीस इञ्च की दूरी पर। अब अपनी दृष्टि दूर की पेन्सिल पर एकाग्र करो। ऐसी स्थिति में नजदीक की पेन्सिल दो दिखाई देगी। इसी तरह यदि पास वाली पेन्सिल पर दृष्टि एकाग्र की जाय तो दूर वाली पेन्सिल दो दिखाई देगी। एक की जगह दो पदार्थ दोनों आँखों के रेटिना के असमान भागों के उत्तेजित होने के कारण दिखाई देते हैं।

रंगसंवेदना का वर्गीकरण—रंगों को दो भागों में विभक्त किया जाता है, विषमधर्मा और समधर्मी। विषमधर्मी में काला सफेद-भूरा रंग की कतार है और समधर्मी में तिकोने काँच द्वारा देखे गये सात रंग हैं। मनोवैज्ञानिकों और चित्रकारों में—इन सात रंगों में से मूल रंग कौन से हैं—इस विषय में मतभेद है। मनुष्य के अनुभव ने यह दर्शाया है कि कुछ थोड़े से मूल रंगों को लेकर उनको कम अथवा अधिक परिमाण में मिलाकर दूसरे सब रंग बनाये जा सकते हैं। किन्तु यह देखा गया है कि रंगों के मिलाने के तरीकों पर नए रंग की उत्पत्ति निर्भर रहती है। पीले और नीले रंग को यदि पानी में घोल कर मिलाते हैं, तो हरा रंग बनता है, किन्तु यदि इन्हीं दो रङ्गों को प्रतिबिम्बित करके अथवा घूमती हुई तख्ती के द्वारा मिलावें तो पीला और नीला मिलाकर हरा न बनकर भूरा रङ्ग बनेगा। अर्थात् जब पीले और नीले रङ्ग की संवेदनाएँ किसी प्रकार मिला दी जाती हैं तो दोनों प्रकार की संवेदनाएँ मिलकर भूरे रङ्ग की संवेदना में परिणत हो जाती हैं।

हमारे साधारण ज्ञान के अनुसार सूर्य की रोशनी में दिखाई देनेवाले सात रङ्ग होते हैं, जिन्हें हम तिकोने काँच के द्वारा देखते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इन रङ्गों में से केवल चार ही मूल रङ्ग हैं। ये रङ्ग हैं लाल, पीला, हरा और नीला। नारंगी रंग, लाल और पीले रंग के मेल से बनता है, बनफ्शी, नीले और लाल के मेल से। यदि बनफ्शी रंग में लाल रंग का परिमाण बढ़ा दिया जाय तो बैंगनी रंग हो जाता है। इस भाँति दूसरे रंग भी दो रंगों के सम्मिश्रण से बनाये जा सकते हैं।

रंगों में प्रकार-भेद के अतिरिक्त स्वगत भेद भी होता है। एक ही रंग

गहरा और हल्का हो सकता है, जैसे गहरा लाल और हल्का लाल। गहरे लाल की संवेदना हल्के लाल की संवेदनाओं से भिन्न होती है। आँख में रंगों के गहरे और हल्केपन का ज्ञान रेटिना में स्थित डंडों के द्वारा होता है और विभिन्न रंगों का ज्ञान सूचियों के द्वारा होता है।

विभिन्न प्रकार के रंगों की संवेदनाओं में आपस में विशेष प्रकार का सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध हमारे रंग के ज्ञान पर प्रभाव डालता है।

रंगों का मिश्रण—दो भिन्न भिन्न प्रकार के रंग आपस में मिलकर या तो तीसरे प्रकार का रंग उत्पन्न करते हैं, जो दोनों रंगों के बीच का रंग होता है अथवा वे आपस में मिलकर एक दूसरे को नष्ट करके भूरे रंग में परिणत हो जाते हैं। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का सम्मिश्रण रंगों के संवेदना का सम्मिश्रण है। यह चित्रकारों के काम में आनेवाली रंग की बुकनियों का सम्मिश्रण नहीं है। जैसे ऊपर बताया गया है लाल और पीला मिलकर नारंगी रंग बनता है जो लाल और पीले के बीच का रंग है। इसी तरह नीला और लाल मिलकर बनफ्शी अथवा बैंगनी रंग बनते हैं। ये दोनों रंग नीले और लाल के बीच के रंग हैं। किन्तु यदि पीले और नीले को मिला दिया जाय तो दोनों भूरे रंग में परिणत हो जाते हैं। इसी तरह लाल और नीला मिलकर भूरा रंग बनता है। जिन दो रंगों के मिलने से भूरा रंग उत्पन्न होता है अर्थात् जो दो रंग एक दूसरे की संवेदना को नष्ट कर देते हैं वे अनुपूरक रंग[1] कहलाते हैं। वर्णच्छत्र[2] के हरे रंग को छोड़ प्रत्येक रंग का अनुपूरक रंग वर्णच्छत्र में ही होता है। सफेद का अनुपूरक काला रंग है, लाल का हरा और पीले का नीला।

उपर्युक्त सिद्धान्त की सत्यता निम्नलिखित प्रयोग द्वारा प्रमाणित की जा सकती है—

पीले और नीले रंग की दो तख्तियाँ ले लो। दोनों तख्तियों को किसी एक घूमनेवाले पहिये पर लगा दो और वर्णच्छत्र की तख्ती की तरह इन्हें तेजी से घुमाओ। इस तरह इन तख्तियों के घुमाने से पीला और नीला रंग मिलते दिखाई देंगे। इन दोनों तख्तियों के हिस्सों को घटाते-बढ़ाते जाओ। इस प्रकार तख्तियों का रंग भिन्न-भिन्न परिमाण में मिलता है। एक समय ऐसा आवेगा जब कि दोनों रंग नष्ट होकर भूरे रंग के रूप में दिखाई देंगे। भूरा रंग प्राप्त करने के लिए १।३ नीले रंग और २।३ पीले रंग की आवश्यकता होती है।

---

1. Complementary colours. 2. Spectrum.

जिस तरह पीले और नीले रंग का सम्मिश्रण किया जा सकता है, दूसरे दो अनुपूरक रंगों का सम्मिश्रण भी किया जा सकता है। जब दो अनुपूरक रंगों की तख्तियाँ नहीं ली जातीं तो दो रंगों से मिलकर भूरा रंग नहीं पैदा होता, वरन् दोनों रंगों के बीच का रंग पैदा होता है।

इस प्रयोग के करने के लिए एक विशेष प्रकार का यन्त्र काम में लाया जाता है जिसे रंग मिलाने वाला यन्त्र (कलर मिक्श्चर) कहते हैं। यह बिजली के पंखे के सदृश होता है।

रंगों का विरोध[1]—यदि दो परस्पर विरोधी रंगों को जो एक दूसरे के अनुपूरक हैं, एक दूसरे के पास रख दिया जाय, तो जहाँ दोनों रंगों का मेल होता है वहाँ वे दोनों रंग अधिक गहरे दिखाई देंगे। पीले और नीले रंग की दो पट्टियाँ किसी ड्राइङ्ग कापी पर बनाकर यह देखा जा सकता है। यदि पीली पट्टी के पास नीले के बदले लाल या हरे रंग की पट्टी बनाई जाय तो दूसरे प्रकार का ही परिणाम होगा। अर्थात् जहाँ दोनों रंग मिलते हैं वहाँ वे उतने अधिक चटकीले न दिखाई देंगे। अनुपूरक रंगों के समीप आने पर ही दोनों रंग अधिक चटकीले दिखाई देते हैं। इस प्रकार का प्रभाव उन रंगों की विरोधी उत्तर प्रतिमा[2] के कारण होता है जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। ऐसे विरोधी को क्रमिक विरोध[3] कहते हैं।

क्रमिक विरोध के अतिरिक्त एक और दूसरे प्रकार के रंगों का विरोध है, जिसे सहकारी विरोध[4] कहते हैं। सहकारी विरोध की अवस्था में भी रंग के क्षेत्र में लगी हुई कोई भूरे रंग की चिट अनुपूरक रंग से रंगी हुई दिखाई देती है। यदि कोई पीले रंग का क्षेत्र हो और उसके ऊपर एक भूरे रंग की कागज की चिट लगा दी जाय तो यह चिट भूरे रंग की न दिखाई देकर नीली सी दिखाई देगी। इसी तरह नीले क्षेत्र में लगी हुई चिट पीली सी दिखाई देगी। अब यदि पतले कागज (टिस्यू पेपर) से चिट के सहित पूरे क्षेत्र ढाँक दिये जायँ तो देखनेवाला उन क्षेत्रों में उपस्थित भूरे रंग को कदापि नहीं पहचान सकेगा। वे भूरे रंग की चिटें क्षेत्र के विरोधी रंग की संवेदना उत्पन्न करेंगी।

उत्तर प्रतिमाएँ[5]—उत्तर प्रतिमाएँ किसी प्रकार की दृष्टि संवेदनाओं से पैदा होती हैं। इन्हें वास्तव में उत्तर-संवेदनाएँ कहा जाना चाहिए। ये दो

1.Colour contrast. 2 After-image 3.Successive contrast. 4 Simultaneous contrast. 5. After-images.

प्रकार की होती हैं। एक अनुरूप उत्तर प्रतिमा[1] और दूसरी विरोधी उत्तर प्रतिमा[2]। अनुरूप उत्तर प्रतिमा निम्नलिखित प्रयोग द्वारा प्राप्त की जा सकती है—

एक मिनट के लिए अपनी दोनों आँखें बन्द कर लो, फिर अपनी दृष्टि को किसी तेज प्रकाश, जैसे जलते हुए बिजली के बल्ब पर जमाओ। एक मिनट इस प्रकार बिजली के प्रकाश की ओर देखने के बाद एकाएक दोनों आँखें बन्द कर लो। आँखों के बन्द होने पर, दो एक सेकेण्ड तक बिजली की रोशनी जैसा चमकीला पदार्थ सामने दिखाई देता रहेगा। वास्तव में यह पदार्थ इसके पूर्व देखी गई बिजली की रोशनी की उत्तर प्रतिमा है। यह उत्तर प्रतिमा आँख के रेटिना में पैदा हुई उत्तेजना के परिणाम स्वरूप होती है। अर्थात् रेटिना उत्तेजक पदार्थ के अभाव में भी उत्तेजित अवस्था में रहता है। इस उत्तर-प्रतिमा को अनुरूप उत्तर प्रतिमा कहते हैं।

विरोधी उत्तर प्रतिमा के अनुभव में इसके ठीक उल्टी प्रतिक्रिया होती है, प्रकाश अन्धकार में परिणत हो जाता है और किसी प्रकार का रंग उसके अनुपूरक रंग में परिणत हो जाता है। अनुरूप प्रतिमा अनुभव के तुरन्त बाद दिखाई देती है। इसके प्रतिकूल विरोधी उत्तर प्रतिमा किसी प्रकार की उत्तेजना के तीन चार सेकेण्ड बाद दिखाई देती है। विरोधी उत्तर प्रतिमा के प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है—

एक सफेद ८ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े कागज पर सिरे से कुछ नीचे बीच में एक नीले रंग की एक वर्ग इंच की चिट चिपका दो। इस कागज को अपनी आँख से १ फुट दूरी पर रखो। इस चिट की ओर टकटकी लगाकर एक मिनट तक देखो। फिर एकाएक अपनी दृष्टि इस चिट से हटाकर उस कागज के निचले सिरे के पास जमाओ। दो एक सेकेण्ड के बाद पीले रंग की उतनी ही बड़ी चिट दिखाई देगी। यह पहली चिट की विरोधी उत्तर प्रतिमा है। यदि हम इस प्रयोग में पीली की जगह लाल रंग की चिट लें तो विरोधी उत्तर प्रतिमा हरे रंग की दिखाई देगी। यह उत्तर प्रतिमा चार पाँच सेकेण्ड तक ठहरती है। पीछे दिये की लौ के समान कूदकर लोप हो जाती है।

यदि किसी विरोधी उत्तर प्रतिमा की ओर देखते-देखते हम उस कागज को, जिस पर वह दिखाई देती है, धीरे-धीरे आँख से दूर ले जायँ तो

1. Positive after-image. 2. Negative after-image.

उसका आकार बढ़ते हुए दिखाई देगा और यदि उसे आँख के समीप लावे तो उसका आकार घटते हुए दिखाई देगा। अर्थात् विरोधी उत्तर प्रतिमा का अनुभव पदार्थ के संवेदनाजनक ज्ञान के ठीक प्रतिकूल होता है। साधारणतः हम जिस पदार्थ को आँख से जितना दूर रखते हैं उसकी उतनी ही छोटी प्रतिमा रेटिना पर आती है और उसे जितना समीप हम देखते हैं उसकी प्रतिमा उतना ही बड़ी होती है। विरोधी उत्तर प्रतिमा के अनुभव में इसके प्रतिकूल परिस्थिति पाई जाती है। वह जितनी दूर रखी जाती है, उतनी ही बड़ी दिखाई देती है तथा जितनी समीप रखी जाती है उतनी छोटी दिखाई देती है।

रंग का अन्धापन—ऊपर बताया जा चुका है कि साधारणतः रेटिना के सिरे के भाग में रंग की संवेदना ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती है। किन्तु किन्हीं-किन्हीं लोगों की आँख के पूरे रेटिना में रंग संवेदना ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। ऐसे मनुष्य में रंग का अन्धापन रहता है। रंग के अन्धे व्यक्ति स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होते हैं। कितने ही लोग लाल और हरे रंग को नहीं देख सकते, बाकी सब रंगों को देखते हैं। कितने ही लोग नीले और पीले रंगों को नहीं देख सकते। जिन लोगों में रंगों के प्रति पूरा अन्धापन होता है वे वर्णच्छत्र के किसी भी रंग को नहीं देख पाते। उन्हें सभी रंग भूरे दिखाई पड़ते हैं।

ध्वनि-संवेदना[1]

ध्वनि-संवेदना के प्रकार—ध्वनि-ज्ञान को प्रायः दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है—हल्ला[2] (शोर) और सुर[3]। बोतल की आवाज हल्ला कहलाती है और तालयुक्त आवाज सुर कहलाती है। हल्ला और सुर एक दूसरे से बिलकुल पृथक् नहीं होते। अधिक सुरों में हल्ला रहता है और बहुत से हल्लाओं में सुरीली आवाज रहती है। पियानो की आवाज में 'सुर' का प्रधान अंग रहता है, किन्तु हल्ला करनेवाली आवाज का पूर्ण अभाव नहीं होता। इसी तरह हथौड़े से तार को पीटने की आवाज हल्ला पैदा करती है; किन्तु दूर से यही हल्ला सुर से मिश्रित सुनाई देता है। गाड़ी की गड़गड़ाहट 'हल्ला' कहलाती है किन्तु दूर से सुनने से यही हल्ला एक प्रकार के रोचक 'सुर' के रूप में सुनाई देता है।

ध्वनि संवेदना के गुण—ध्वनि-संवेदना के तीन गुण होते हैं—ऊँचाई[4], तीक्ष्णता[5] और माधुर्य[6]। ध्वनि-संवेदनाओं के विशेष गुणों के

1. Auditory Sensations. 2. Noises. 3. Tones. 4. Pitch. 5. Intensity. 6. Quality.

भेद बाहर से आनेवाली उत्तेजना के भेदों पर निर्भर होते हैं। हवा का स्पन्दन इन अनेक प्रकार की ध्वनियों (आवाजों) को उत्पन्न करता है। सुरीली आवाज प्रति सेकेण्ड सोलह या बीस बार स्पन्दन से लेकर चालीस-पचास हजार बार प्रति सेकेण्ड तक से पैदा होती है। जब स्पन्दन इससे अधिक होता है तो सुर ज्ञान नहीं होता। प्रायः सभी बाजे एक सेकेण्ड में चौंसठ स्पन्दन से लेकर चार-पाँच हजार स्पन्दन तक सीमित रहते हैं।

किसी आवाज की ऊँचाई स्पन्दन की संख्या[1] पर उसकी तीक्ष्णता उसके विस्तार पर और उसका माधुर्य ध्वनि की लहर[2] के आकार पर निर्भर रहता है। स्वरों के विषय में सन्तोषजनक ज्ञान यहाँ पर देना सम्भव नहीं। किसी भी बाजे की विभिन्न प्रकार की सुरीली ध्वनियों के उत्पन्न करने में जितने गुणों की आवश्यकता होती है उन्हें समझना ध्वनि-विशेषज्ञ के लिए ही सम्भव है। विभिन्न प्रकार की ध्वनि की उत्पत्ति एक बड़े विज्ञान का विषय है जिसमें उतरना यहाँ सम्भव नहीं।

मनुष्य की आवाज में हल्ला और सुर दोनों हो उपस्थित रहते हैं। किसी भाषा के शब्दों में भी दोनों प्रकारों की आवाजें पाई जाती हैं। भाषा की वर्ण-माला के स्वर सुर उत्पन्न करते हैं और व्यञ्जन अधिकतर हल्ला उत्पन्न करते हैं। विभिन्न व्यक्तियों की भाषा में उक्त दो प्रकार की आवाजें भिन्न-भिन्न परि-माण में मिश्रित रहती हैं। इसी कारण किसी व्यक्ति की भाषा में कर्कशता अधिक रहती है और किसी में माधुर्य अधिक रहता है। पहले की भाषा में कठोर व्यञ्जनों का बाहुल्य होता है और दूसरे की भाषा में मृदु व्यञ्जन, सानुनासिक और स्वर अधिक पाये जाते हैं। कविता की भाषा में 'सुर' की प्रधानता होती है।

कर्णेन्द्रिय की बनावट—कर्णेन्द्रिय की बनावट और उसकी ध्वनि-संवेदना की ग्रहण करने की प्रक्रिया को पूर्णतः समझना एक मनोविज्ञान की पुस्तक में सम्भव नहीं। यह डाक्टरी का विषय है और इसका सम्पूर्ण अध्ययन चिकित्सा-विज्ञान में ही हो सकता है। किन्तु इस विषय में कुछ मोटी-मोटी बातों का ज्ञान कर लेना कठिन नहीं है। इन बातों का ज्ञान करना कर्णेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न की हुई संवेदना को समझने के लिए आवश्यक है।

---

1. Frequency of the vibration. 2 Amplitude. 3 Sound wave. 4. Form.

कान के तीन मुख्य भाग होते हैं जो नीचे दिये चित्र में दर्शाये गये हैं।
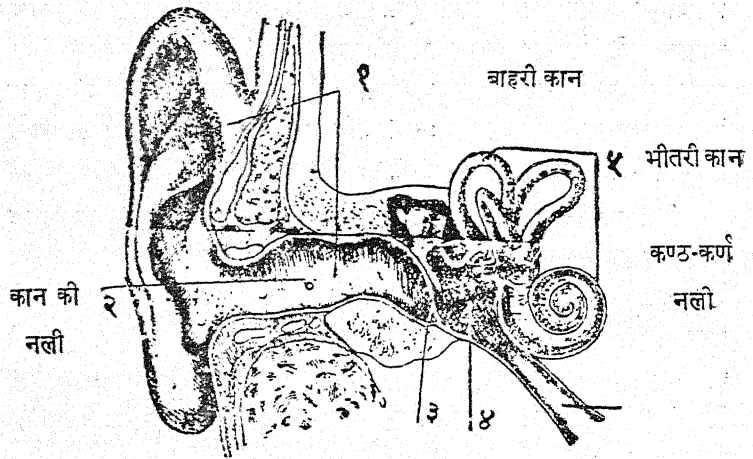
ढोल मध्य कान

कान का चित्र

चित्र नं० १३

इन भागों के निम्नलिखित नाम हैं—

(१) बाहरी कान[1]

(२) मध्य कान[2]

(३) भीतरी कान[3]

बाहरी कान—बाहरी कान के दो भाग होते हैं। एक वह है जो सीपी की तरह रहता है। यह नीचे की ओर को छोड़कर कारटिलेज का बना रहता है। दूसरा भाग 'कान की नली' कहलाता है। यह नली लगभग सवा इञ्च की होती है। यह नली टेढ़े-मेढ़े घूमकर ढोल[4] तक पहुँचती है। ढोल बाहरी कान और मध्य कान के बीच में होता है।

मध्य कान—मध्य कान एक प्रकार की कोठरी है। यह बाहर की ओर चौड़ी और भीतर की ओर सँकरी होती है। यह कोठरी कनपटी की हड्डियों के भीतर रहती है। इसमें से एक नली, जिसे कण्ठ-कर्ण नली[5] कहते हैं, गले की ओर जाती और गले तक पहुँचती है। इस कोठरी में एक पतली नली

---

1. The external ear. 2. The middle ear. 3. The internal ear. 4. Drum. 5. Eustachian tube.

लगी रहती है जो हवा से भरी होती है। मध्य कान में तीन-तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं, जो ढोल से लेकर मध्य कान की भीतरी दीवाल तक फैली हुई रहती हैं। ये आपस में बन्धनों द्वारा बँधी होती हैं और इनमें बीच में हिलने-घूमनेवाले जोड़ होते हैं। ढोल के पास वाली हड्डी को मुगद्र[1] कहते हैं। बीच की हड्डी को निहाई[2] कहते हैं। तीसरी हड्डी जो भीतरी कान के समीप होती है, रकाब[3] कहलाती है। इन हड्डियों के नाम इनकी बनावट के अनुसार रखे गये हैं। उनके द्वारा ढोल तक पहुँचाती हुई आवाज की लहरें भीतरी कान तक पहुँचती हैं।

भीतरी कान—भीतरी कान कनपटी की हड्डी के भीतर रहता है। इसकी बनावट बड़ी ही जटिल होती है। इसकी बनावट की जटिलता के कारण इसे घूम-घूमैया[4] भी कहा जाता है। इस कान की दीवाल एक पतली झिल्ली से ढकी रहती है। इसमें पानी भरा रहता है। इस झिल्ली की जड़ में ध्वनि-संवेदना जाननेवाली नाड़ियों के छोर होते हैं।

जब ध्वनि लहरें कान तक पहुँचती हैं तो वे ढोल से स्पन्दन पैदा करती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ढोल बाहरी कान और मध्य कान के बीच होता है। इस ढोल से मुगद्र जुड़ा हुआ रहता है। इसके द्वारा ढोल का स्पन्दन निहाई तक पहुँचता है। यही स्पन्दन पीछे रकाब के द्वारा, जो एक ओर निहाई से और दूसरी ओर भीतरी कान से जुड़ा रहता है, भीतरी कान तक पहुँचता है। यहाँ पहुँचने पर वह स्पन्दन भीतरी कान की झिल्ली में स्थित छोटे-छोटे बालों की कोठरियों को उत्तेजित करता है। इन बालों के उत्तेजित होने पर ध्वनि ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं और वे ध्वनि-संवेदना को मस्तिष्क तक ले जाती हैं। मस्तिष्क में ध्वनि-ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र में पहुँचकर यह उत्तेजना ध्वनि-ज्ञान में परिणित हो जाती है।

अर्धचक्राकार नलियाँ[5]—ये भीतरी कान से जुड़ी रहती हैं। इनका उपयोग शरीर की हलचल और उसकी समता रखने में है। ये सुनने के किसी काम में नहीं आतीं। इनके अधिक उत्तेजित होने पर चक्कर आने की अनुभूति होती है।

---

1. Hammer. 2. Anvil. 3. Stirrup. 4. Labyrinth. 5. Semi-circular canals.

रस-संवेदना

रस-संवेदनाओं के प्रकार—अनेक प्रयोगों और तर्क-वितर्क के पश्चात् मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर आये हैं कि मूल रस-संवेदनाएँ चार प्रकार की होती हैं। खारा, खट्टा, मीठा और कड़वा—ये ही चार प्रकार के स्वाद हमारी रसना ग्रहण करती है। कुछ लोग इनके अतिरिक्त कसैले और तीक्ष्ण को भी भिन्न प्रकार का स्वाद मानते हैं। ये स्वाद अर्थात् उक्त छः प्रकार की संवेदनाएँ एक दूसरे से मिश्रित होकर अनेक प्रकार के स्वादों के अनुभवों को उत्पन्नकरती हैं। इन छः प्रकार की रस-संवेदनाओं का मिश्रण स्पर्श, घ्राण, शीतोष्ण आदि संवेदनाओं में हो जाता है। यों भोजन के अनेक प्रकार के स्वादों की सृष्टि होती है, किन्तु यदि किसी खाद्य पदार्थ से स्वाद का विश्लेषण किया जाय तो हम उसके मूल में उक्त चार या छः प्रकार की संवेदनाओं को ही पायेंगे। बहुत से भोजनों की रोचकता सुगन्ध के कारण बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, चाय और काफी को लीजिए—इनकी रोचकता अधिकतर उनकी विशेष प्रकार की सुगन्ध पर निर्भर करती है। काफी में कड़वापन, मीठापन, उष्णता और स्पर्श की संवेदनाएँ रहती हैं। इन्हीं संवेदनाओं के कारण काफी इतना प्रिय पेय पदार्थ नहीं होता, अपितु उसकी विशेष प्रकार की सुगन्ध ही उसे प्रिय बनाती है। इसी तरह जब चाय की सुगन्ध चली जाती है तो वह पीने में अच्छी नहीं लगती। यदि उष्णता और स्पर्श की संवेदनाओं को भी, जो वास्तव में रस-संवेदनाएँ नहीं हैं, चाय के स्वाद से निकाल दें तो क्या चाय फिर पीने योग्य वस्तु रह जायगी? जब हमें जुकाम हो जाता है तो भोजन का स्वाद फीका पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में लोग जीभ को दूषित मान बैठते हैं; पर वास्तव में हमारी सुगन्ध ग्रहण करने की शक्ति जुकाम के कारण कम हो जाने से ही भोजन का स्वाद बिगड़ जाता है।

किसी भोजन के स्वादिष्ट लगने में आँख से देखना भी महत्वपूर्ण है। कितने ही भोजन के पदार्थ स्वादिष्ट होने पर भी रूप-रङ्ग के कारण खाने में अप्रिय लगने लगते हैं। घ्राण-संवेदना और चक्षु-संवेदनाओं का किसी पदार्थ को स्वादिष्ट बनाने में कितना महत्व का स्थान है इसे हम एक प्रयोग द्वारा जान सकते हैं।

चार-पाँच प्रकार के अनजाने खाद्य-पदार्थ किसी व्यक्ति को खाने के लिए परोसिए। भोजन करने के पूर्व उसकी आँखें बाँध दीजिये और नाक बन्द करके उससे भोजन को चखकर भोजन के पदार्थों को पहचानने को कहिए।

आप देखेंगे कि बहुत से साधारण पदार्थों से बने भोजन को वह न पहचान सकेगा। यदि ठोस भोजन को पतला करके और उसे साधारण ताप की अवस्था में दिया जाय तो भोजन को पहचानना और भी कठिन हो जायगा। ऐसी अवस्था में भोजन के चार रसों की संवेदनाओं के अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार के स्वादों का ज्ञान नहीं होता। इन चारों को भी ठीक-ठीक पहचानना कठिन हो जाता है। रसों के स्वाद चार ही हैं, यह उक्त प्रयोग भले प्रकार से सिद्ध कर देता है।

रस ज्ञान का वितरण—उपर्युक्त चार प्रकार की रस-संवेदनाएँ जीभ के विभिन्न भागों से उत्पन्न होती हैं। हमारी साधारण धारणा है कि जीभ के प्रत्येक भाग में सभी प्रकार के रस-ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति है, ठीक नहीं है।
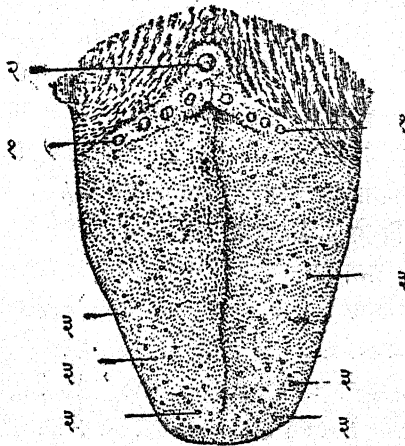
जीभ का चित्र

चित्र नं० १४

जीभ की ऊपर से दिखाई देनेवाली सतहें—नं १ और २ के स्थान एक प्रकार के रसों की संवेदना ग्रहण करते हैं और ३ दूसरे प्रकार के रसों को। अंकवाले भागों के अतिरिक्त दूसरे भागों में रस-संवेदना ग्रहण करने की शक्ति बहुत कम होती है। वास्तव में जीभ के मध्य भाग में किसी प्रकार के रस-ज्ञान की शक्ति बहुत ही कम होती है और जीभ के चारों तरफ के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की रस-संवेदनाओं के ग्रहण करने की शक्ति होती है। जीभ

के अगले छोर में मीठे और खारेपन को जानने की विशेष शक्ति होती है; जीभ की दोनों बाजुओं में खट्टेपन का ज्ञान होता है और उसके भीतरी भाग में कडुआपन का ज्ञान होता है। इससे प्रमाणित होता है कि विभिन्न प्रकार की रस-संवेदनाओं के ज्ञान के लिए प्रकृति ने भिन्न-भिन्न प्रकार की नाड़ियों की रचना की है। देखा जाता है कि एक ही पदार्थ जीभ के एक स्थान पर मीठा और दूसरे पर कडुआ ज्ञात होता है।

घ्राण-संवेदना

घ्राण-संवेदना की उत्पत्ति—घ्राण-संवेदना का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रस-संवेदना से है। घ्राण-संवेदना प्राणियों के जीवन में बड़े काम की वस्तु है। इसके द्वारा वे खाद्याखाद्य का ज्ञान करते हैं। घ्राण-संवेदना कई प्रकार की होती है। विभिन्न प्रकार की घ्राण-संवेदना को ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ किसी एक विशेष स्थान पर नहीं रहतीं, वरन् नाक के भीतरी भाग में सभी जगह रहती हैं। जिस तरह रस का ज्ञान किसी भी पदार्थ के द्रवरूप में आने पर होता है, इसी तरह घ्राण-संवेदना को पैदा करनेवाले उत्तेजक पदार्थ गैस के रूप में ही होते हैं। घ्राण-संवेदना के विशेषज्ञों ने उसे कई वर्गों में विभाजित किया है। प्रायः इन वर्गों के नाम उन पदार्थों के अनुसार पड़े हैं जिनमें वे संवेदनाएँ आती हैं।

घ्राणेन्द्रिय की बनावट—नाक के भीतरी भाग में बारीक धागों के सदृश छोटे-छोटे कोषाणु होते हैं। इन्हीं के द्वारा घ्राण-संवेदना ग्रहण की जाती है। इनका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। जब हम साँस लेते हैं तो हवा में रहनेवाली विशेष प्रकार की गैस नाक की झिल्ली में उपस्थित कोषाणुओं को उत्तेजित करती है। कभी-कभी धीरे-धीरे साँस लेने से यह उत्तेजना नहीं होती, किन्तु जोर से साँस लेने से ये कोषाणु उत्तेजित हो जाते हैं। रस-संवेदना और घ्राण-संवेदना के विशेष स्थान मस्तिष्क में कौन से हैं, इसका अभी तक बिलकुल ठीक पता नहीं चला है, पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन संवेदनाओं के ग्रहण करने के वैसे ही स्थल हैं जैसे अन्य संवेदनाओं के।

स्पर्श-संवेदना

स्पर्श-संवेदनाओं के अन्तर्गत कई प्रकार की संवेदनाएँ हैं। जब कोई पदार्थ हमारे शरीर के किसी भाग के सम्पर्क में आता है तो कई प्रकार की संवेदनाएँ हमें होती हैं; जैसे दबाव की, गर्मी की, ठण्डक की और पीड़ा की।

यद्यपि ये संवेदनाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं और उनके चमड़े पर भिन्न-भिन्न स्थान हैं, तिस पर भी जब कभी कोई पदार्थ शरीर के सम्पर्क में आता है तो दो तीन प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति एक साथ होती है। इसके कारण हम यह नहीं जान पाते कि भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं के शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थान हैं। मान लीजिए, हम एक गरम तार छू लेते हैं तो गर्मी की, और पीड़ा की संवेदनाओं का अनुभव एक साथ होता है। परन्तु वास्तव में जिस स्थान में पीड़ा की संवेदना की अनुभूति होती है उस स्थान में गर्मी की संवेदना की अनुभूति नहीं होती। इसी तरह जिस स्थल में गर्मी की संवेदना की अनुभूति होती है वहाँ पीड़ा की संवेदना की अनुभूति नहीं होती। अर्थात् हमारे चमड़े के कुछ भाग शीत की; कुछ गर्मी की, कुछ पीड़ा की और कुछ दबाव की संवेदना ग्रहण करते हैं। ये स्थल बहुत पास-पास होते हैं, अतएव इनको खोजने में कठिनाई होती है, किन्तु कुछ साधारण प्रयोगों के द्वारा इन्हें खोजा जा सकता है।

स्पर्श संवेदना के प्रयोग—शरीर के किस भाग में कौन-कौन से विशेष स्थान ठण्डक या गर्मी की उत्तेजना को ग्रहण करते हैं, इसे जानने के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है—एक वर्ग इञ्च का रबर स्टैम्प ऐसा लीजिए, जिसमें सौ खाने बने हों। इसके ऊपर स्याही लगाकर हाथ के पिछले भाग पर छाप दीजिए। जब ये सौ खाने हाथ के पिछले भाग पर उभर जायँ तो एक पीतल की पेन्सिल के रूप के पतले डण्डे से जिसे बरफ के पानी में डालकर ठण्डा कर लिया गया हो, एक-एक खाने में शीत-संवेदना ग्रहण करनेवाले स्थानों को खोजिए। प्रयोग करने से ज्ञात होगा कि जब हम सावधानी के साथ हाथ पर उभरे हुए सौ घरों पर एक-एक करके इस पीतल के डण्डे की नोक चलाते हैं तो किसी स्थल पर हमें ठण्डक का ज्ञान होता है और किसी स्थल पर यह ज्ञान नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे शरीर के चमड़े के सभी भागों में एक-सी शीत-संवेदना ग्रहण करने की शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार शीत-संवेदना ग्रहण करनेवाले स्थल ढूँढ़े जा सकते हैं इसी तरह पीतल के नुकीले डण्डे को पानी में डालकर कुछ गरम करके गर्मी की उत्तेजनाओं को ग्रहण करनेवाले स्थलों को ढूँढ़ा जा सकता है। सूअर के बाल की सहायता से इसी तरह पीड़ा की संवेदना को ग्रहण करनेवाले स्थलों को ढूँढ़ा जा सकता है।

प्रयोगों द्वारा पता चला है कि विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को ग्रहण करने की शक्ति शरीर के और भागों की अपेक्षा अंगुलियों के छोरों में अधिक होती है। इसी तरह जीभ की नोक पर भी स्पर्श-संवेदना ग्रहण करने की शक्ति अधिक होती है। हाथ के विभिन्न स्थानों में दबाव की संवेदना ग्रहण करने की शक्ति में भेद होता है। इसे एक साधारण प्रयोग के द्वारा जाना जा सकता है।

किसी व्यक्ति को आँख बन्द करने को कहिए। इसके पश्चात् परकार के दोनों डण्डों को एक चौथाई इञ्च दूर रखकर उसकी कुहनी के समीप धीरे से छुलाइए। अब उससे पूछिये कि परकार का एक डण्डा छू रहा है अथवा दोनों। इसी तरह इन डण्डों को हथेली पर छुलाइए और पूछिए कि कितने डण्डे छू रहे हैं। इस प्रयोग से पता चलेगा कि कुहनी के समीप के स्थान में स्पर्श संवेदना का ठीक-ठीक ज्ञान करने की उतनी शक्ति नहीं है जितनी कि हथेली के किसी भाग में है।

वेबर का नियम[1]

वेबर महाशय ने संवेदना की तीक्ष्णता और उत्तेजना की प्रबलता में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। उनकी यह खोज "वेबर के नियम" के नाम से प्रसिद्ध है। यह नियम सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है।

"उत्तेजना की प्रबलता चाहे कितनी ही क्यों न हो उससे उत्पन्न संवेदना में किसी प्रकार के अन्तर के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उत्तेजना में वृद्धि किसी विशेष अनुपात में हो*।" इसका अर्थ यह है कि जैसी उत्तेजना में होगी उसी के अनुसार उसमें वृद्धि या कमी होनी चाहिए तभी किसी प्रकार के भेद का ज्ञान होता है अन्यथा नहीं। मान लीजिए, कोई मनुष्य एक सेर वजन अपने हाथ में रखे है, यदि उसके वजन में आधा तोला वजन और बढ़ा दिया जाय तो उसे वजन का ज्ञान न होगा। पर यदि वही मनुष्य पहले से दो

---

1 Weber's Law.

* Whatever the absolute value of a stimulus, it must be increased by a proportionate amount in order that, on the side of sensation, a difference may be noticed—Gault and Howard. *An outline of Psychology*, P. 100.

तोला ही वजन अपने हाथ में लिये है और उसके वजन में आधा तोला वजन और बढ़ा दिया जाय तो उसे उस वजन का ज्ञान तुरन्त हो जावेगा।

जिस मकान में दो सौ लैम्प जल रहे हों उसमें यदि एक लैम्प और जला दिया जाता है तो उस घर में प्रकाश की वृद्धि का ज्ञान हमें नहीं होता। इसी तरह यदि दो सौ दियों में से एक बुझ जाय तो भी प्रकाश के अन्तर का ज्ञान हमें नहीं होगा। पर जिस कमरे में पाँच लैम्प जल रहे हों उसमें एक और लैम्प जला दिया जाय, अथवा उन पाँच लैम्पों में से एक बुझ जाय तो हमें प्रकाश का अन्तर तुरन्त ज्ञात हो जायगा। रात को शान्त अवस्था में घड़ी का टिक-टिक करना हमें बहुत खटकता है, किन्तु यही घड़ी जब एक फैक्टरी में टिक-टिक करती है तो उसकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता।

इन उदाहरणों से यह प्रत्यक्ष है कि किसी भी प्रकार की दो उत्तेजनाओं के अन्तर का ज्ञान उस अन्तर के परिमाण पर निर्भर नहीं है, बल्कि उस अन्तर का मूल उत्तेजना के साथ अनुपात पर निर्भर रहता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं के अन्तर का ज्ञान होने के लिए भिन्न-भिन्न अनुपात में उन्हें घटाने अथवा बढ़ाने की आवश्यकता होती है। प्रयोग करके देखा गया है कि प्रकाश की उत्तेजना में अन्तर के ज्ञान के लिए सौवें हिस्से को बढ़ाना या घटाना आवश्यक होता है, किन्तु आवाज का भेद पहचानने के लिए प्राथमिक उत्तेजना का एक तिहाई भाग कम या अधिक करना पड़ता है।

इस नियम की सत्यता एक प्रयोग के द्वारा सिद्ध की जा सकती है। किसी व्यक्ति को पाँच ग्राम वजन की डिबिया दो। पीछे उसे एक दूसरी ऐसी डिबिया उठाने को कहो जिसका वजन पहली डिबिया से थोड़ा अधिक है। जब तक उसे वजन में अन्तर न मालूम पड़े क्रमशः वजनी डिब्रियों को उठवाते जाओ। जब उसे पहिली डिबिया और इस नई डिबिया में वजन का अन्तर ज्ञात होवे, दोनों के वजन के अन्तर को निकाल लो। इस अन्तर से पहिली डिबिया के वजन में भाग दो तो उस अनुपात का पता चल जायगा जो वजन के अन्तर के ज्ञान के लिए आवश्यक है।

अब हम यह कह सकते हैं कि एक सेर वजन में कितना वजन बढ़ाया या घटाया जाय कि वजन बढ़ने और घटने का ज्ञान हो सके।

प्रश्न

१—संवेदना किस प्रकार के ज्ञान को कहते हैं? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? उदाहरण देकर समझाइए।

२—बच्चों और प्रौढ़ व्यक्तियों की संवेदना के भेद को स्पष्ट कीजिए। प्रौढ़ व्यक्तियों को शुद्ध संवेदना का ज्ञान होना क्यों सम्भव नहीं है?

३—मनुष्य और पशुओं की संवेदनाओं में क्या भेद है? उदाहरण देकर समझाइए।

४—संवेदनाओं के मुख्य गुण कौन-कौन से हैं? संक्षेप में समझाइए।

५—भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं के उदाहरण देकर समझाइए।

६—दृष्टि-संवेदना कैसे उत्पन्न होती है? आँख के चित्र को बनाकर इसे समझाइए।

७—आँख के भिन्न-भिन्न भागों को और उनके कार्यों को आँख का चित्र बनाकर समझाइए।

८—रंग-संवेदना की उत्पत्ति तथा उसकी विशेषता समझाइए।

९—उत्तर-प्रतिमाएँ क्या हैं? एक ऐसे प्रयोग का वर्णन कीजिए जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तर-प्रतिमाएँ जानी जा सकती हैं।

१०—कान के भिन्न-भिन्न भागों और उनके कामों का चित्र बनाकर समझाइए।

११—ध्वनि-संवेदना कैसे उत्पन्न होती है? ध्वनि-संवेदना के गुणों को समझाइए।

१२—स्पर्श-ज्ञान में कौन-कौन सी संवेदनाएँ सम्मिलित हैं? उनके स्वरूप को समझाइए।

१३—शीत और पीड़ा के स्थल ढूँढ़ने के लिए जिस प्रयोग की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन कीजिए।

१४—वेबर के नियम को उदाहरण देकर समझाइए।
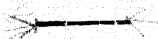
ग्यारहवाँ प्रकरण

प्रत्यक्षीकरण[1]

प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप

हमारी चेतना में बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष के रूप में ही होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार विभिन्न इन्द्रियों की संवेदना है। किन्तु संवेदना[2] मात्र का ज्ञान हमें नहीं होता। हमें सदा पदार्थ-ज्ञान होता है। इस पदार्थ-ज्ञान का आधार संवेदनाएँ हैं, यह हम विचार के द्वारा पीछे निश्चित करते हैं। प्रौढ़ लोगों को संवेदना मात्र का ज्ञान नहीं होता। दो एक रोज के बच्चे को संवेदना मात्र का ज्ञान होना सम्भव है। हमारी चेतना में जैसी भी उत्तेजना होती है वह किसी न किसी प्रकार के अर्थ के साथ आती है। संवेदना का ज्ञान निरर्थक ज्ञान है जो प्रकारता-रहित है। इस प्रकार के ज्ञान को निर्विकल्पक[3] ज्ञान कहा जाता है। हमारा साधारण ज्ञान अर्थसहित होता है।

जब कभी हमें किसी बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है तो उसे ज्ञान के साथ हमें यह भी ज्ञात होता है कि वह पदार्थ किस प्रकार का है। हममें पदार्थ-ज्ञान का आधार कोई एक विशेष प्रकार की संवेदना होती है। यह संवेदना दृष्टि-संवेदना, स्पर्श-संवेदना, ध्वनि-संवेदना, घ्राण-संवेदना अथवा स्वाद-संवेदना होती है। बाह्य पदार्थ एक ही प्रकार की संवेदना का उत्तेजन हमारे मन में क्यों न करता हो, किन्तु जब यह संवेदना मस्तिष्क तक पहुँचती है तो वह उत्तेजक पदार्थ की पुरानी अनुभूतियों को जाग्रत करती है। इसके कारण उस पदार्थ में दूसरी जितनी संवेदनाओं को उत्तेजित करने की योग्यता है वह सब स्मरण हो जाती है, अर्थात् एक ही प्रकार की संवेदना उत्तेजित पदार्थ के सम्पूर्ण रूप को हमारी चेतना के समक्ष खड़ा कर देती है। प्रत्येक संवेदना हमारे मस्तिष्क में पहुँचते ही पुराने अनुभव के अनुसार सार्थक बन जाती है। जब कोई संवेदना सार्थक बनती है तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत हो जाती है। प्रत्यक्ष ज्ञान संवेदना और अर्थ का सम्मिश्रण है। संवेदना उपस्थित पदार्थ से

---

1. Perception. 2. Sensation. 3. Indeterminate.

पैदा होती है और अर्थ हमारा मन जोड़ता है। संवेदना का आधार बाह्य पदार्थ है और अर्थ का आधार हमारा मन तथा उसके पुराने संस्कार हैं।

अर्थ का स्वरूप—दूसरे विषय के साथ एक विषय के सम्बन्ध का ज्ञान अर्थ कहलाता है। यह सम्बन्ध देश-काल-गुण अथवा रूप का हो सकता है। एक पीली-पीली वस्तु को देखकर इस ज्ञान का स्मरण होना कि यह गोल है, इसका मीठा स्वाद है, इसे मैंने कल देखा था और अपने मित्र के घर देखा था—यह सब अर्थ-ज्ञान कहलाता है। अर्थ-ज्ञान किसी पदार्थ का जानना मात्र नहीं है, उस पदार्थ का पहचानना भी है। जब हम एक लम्बी पतली वस्तु को अँधेरे मे पड़ी देखते हैं तो हम उसे रस्सी या सर्प कहते हैं। यह हमारे उस वस्तु के जानने मात्र पर निर्भर नहीं है, हमारे पहचानने पर भी निर्भर रहता है, जो हमारे स्मरण पर निर्भर है। भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति एक ही पदार्थ का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं, अतएव अर्थ-ज्ञान व्यक्तियों के पुराने अनुभव के ऊपर निर्भर होता है। जिस व्यक्ति ने कभी मोटरगाड़ी देखी ही नहीं वह पहली बार मोटरकार को देखकर उसका ठीक अर्थ लगा ही नहीं सकता। जब एक छोटा बालक पहले-पहल नारंगी देखता है तो उसे आम कह देता है, क्योंकि उसका अनुभव आम ही तक परिमित है। इसलिए प्रायः कहा जाता है कि हम संसार के पदार्थों को जैसा वे हैं वैसा नहीं देखते किन्तु जैसा हम हैं वैसा देखते हैं, अर्थात् जैसा हमारा अनुभव है वैसे ही हम संसार की वस्तुओं का अर्थ लगाते हैं।

किसी वस्तु का अर्थ, जिस समय उस वस्तु का ज्ञान हो, उस पर भी निर्भर करता है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति रात के समय भूतों की या चोरों की चर्चा सुन रहा है। इस अवसर पर उसे एकाएक गांव से दूसरे गाँव को अँधेरे में जाना पड़े तो वह किसी पेड़ के ठूँठ को भी भूत या चोर के रूप में देखने लगेगा। यदि उसके मन की स्थिति भयपूर्ण है तो वह शीघ्रता से अपने आस-पास भूत देखने लगेगा। किसी वस्तु का अर्थ-ज्ञान उस वस्तु के आस-पास की वस्तुओं और वातावरण पर निर्भर होता है। यदि देवालय में मूर्ति के ऊपर टोप टँगा दिखाई दे तो हम एकाएक उस वस्तु का अर्थ नहीं समझ पायेंगे। कितने ही लोग उस टोप को ढका हुआ घण्टा समझेंगे।

प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान होने में कई प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं। प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए पहली प्रक्रिया वस्तुध्यान है। इस ध्यान के साथ भिन्न-भिन्न संवेदनाओं में से कुछ का

चुनाव तथा विश्लेषण होता है। इसके बाद मन की रचनात्मक क्रिया कार्य करती है। वस्तु-ज्ञान मन की रचनात्मक क्रिया का फल है। इस रचनात्मक क्रिया से ही संवेदनाएँ सार्थक बनाई जाती हैं। परन्तु उपर्युक्त मानसिक क्रियाओं को ज्ञाता जान-बूझकर नहीं करता। यह कार्य अनायास होता है। यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर किसी वस्तु के विषय में अर्थ का निश्चय करे तो उसकी यह जानने की क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान न कहलाकर अनुमान कहलायेगी।

प्रत्यक्ष ज्ञान होने में उपर्युक्त ध्यान और उसकी विश्लेषणात्मक तथा रचनात्मक क्रिया के अतिरिक्त स्मृति और कल्पना की भी आवश्यकता होती है। जब हमारे मस्तिष्क में किसी बाह्य वस्तु की संवेदना पहुँचती है तो यह संवेदना विशेष प्रकार की प्रतिमा को चेतना के समक्ष ले आती है। इन्हीं प्रतिमाओं के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का निरूपण होता है। जब हम दूर के सफेद-सफेद धब्बे को देखकर उसे मकान कहते हैं तो हम अपनी स्मृति तथा कल्पना से काम लेते हैं। इसी प्रकार अँधेरे में पड़ी लम्बी-लम्बी चीज को देखकर उसे सर्प या रस्सी ठहराना स्मृति तथा कल्पना की सहायता से होता है।

हम इस प्रकार जब अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का विश्लेषण करते हैं तो यह पाते हैं कि उसका अधिकांश भाग अनुमान मात्र है, जिसका आधार स्मृति और कल्पना है। वास्तविक अनुभव तो बहुत थोड़ा रहता है।

प्रत्यक्षीकरण की शक्ति में विकास—बालकों में पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने की शक्ति धीरे-धीरे आती है। बालक जब पहले-पहल एक घण्टी को देखता है तो इतना ही समझता है कि कोई वस्तु पड़ी है। यह उसका दृष्टि की सहायता से प्रथम ज्ञान है। जब दूसरी बार वही पदार्थ उसे फिर मिलता है और वह अपना हाथ उस पर फैलाता है तो उसे चिकनाई और ठंडई का ज्ञान होता है। अब बालक के पुराने अनुभव में उसका घण्टी के बारे में यह नया अनुभव बढ़ गया। यदि बालक उस घण्टी को फिर से देखे तो उसको दृष्टि-संवेदना के साथ-साथ स्पर्श-ज्ञान का स्मरण होगा। घण्टी को बिना छूये ही बालक जान सकेगा कि स्पर्श करने पर घण्टी किस प्रकार की संवेदना को उत्तेजित करेगी। कुछ काल के बाद बालक घण्टी को उठाने की कोशिश करता है और उसे भारी पाता है। उस पर डण्डा मारता है और उससे निकलनेवाली ध्वनि का बोध करता है। इस प्रकार बालक को घण्टी से सम्बन्ध

रखनेवाली अनेक संवेदनाओं का ज्ञान होता है। ये संवेदनाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित होती जाती हैं। बड़ा होने पर जब बालक घण्टी को दूर से ही देखता है तो उसकी अनुभव की सभी संवेदनाएँ चेतना के समक्ष आ जाती हैं। एक आठ साल के बालक का घण्टी का ज्ञान एक शिशु के घण्टी के ज्ञान से कई प्रकार से भिन्न होता है। आठ वर्ष का बालक घण्टी का विभिन्न उपयोग भी जानता है जो शिशु के लिए सम्भव नहीं।

बालक स्वभावतः अनेक चीजों को देखता, छूता, उठाता, पटकता रहता है और इस प्रकार वह अपने वातावरण के अनेक पदार्थों को पहचानता रहता है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध जानना बालक का अपने वातावरण के कुछ पदार्थों का अनुभव दूसरे पदार्थों को समझने में सहायता देता है। इस प्रकार जब एक बड़े बालक के समक्ष कोई नया पदार्थ आता है तो वह उसे शिशु-काल की अपेक्षा अति शीघ्रता से समझ लेता है।

भ्रम[1]

भ्रम का स्वरूप—ऊपर बताया गया है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में स्मृति और कल्पनाएँ कार्य करती हैं। इन्हीं के आधार पर दृष्टि-गोचर पदार्थ का अर्थ लगाया जाता है। जब दृष्टिगोचर पदार्थ का अर्थ उपस्थित पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के अनुसार होता है तो उस ज्ञान को हम प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, किन्तु जब यह अर्थ उपस्थित पदार्थ के स्वरूप के विपरीत होता है तब हम तज्जनित ज्ञान को भ्रम कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान एक प्रकार की प्रमा है, वह जैसा का तैसा ज्ञान है; भ्रम अयथार्थ ज्ञान अथवा अप्रमा है, जिसकी परिभाषा तर्क-शास्त्र में 'जैसा का तैसा ज्ञान न होना' की गई है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारे प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में कुछ न कुछ भ्रम का अंश रहता है। सामान्य बुद्धि के अनुसार यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान एक नित्यप्रति का अनुभव है और भ्रम असामान्य अनुभव है; किन्तु वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। हमें यह बतलाना कठिन होता है कि हमारे ज्ञान में कहाँ तक वास्तविकता है और कहाँ तक भ्रम है। मेज के ऊपरी भाग को हम समकोण चतुर्भुज देखते हैं, परन्तु वास्तव में आँख पर उसकी जो प्रतिमा पड़ती है वह विषमकोण चतुर्भुज होती है। यदि दो समान ऊँचाई के व्यक्तियों में एक दुबला-पतला हो और दूसरा मोटा-ताजा, तो दुबला व्यक्ति ऊँचा दीख पड़ता है। इस प्रकार जब कोई आदमी एक ही रंग की पोशाक सिर से पैर तक पहनता है तो

1. Illusion.

वह अधिक ऊँचा दिखाई देने लगता है। एक स्त्री और पुरुष में एक ही ऊँचाई के होने पर भी स्त्री अधिक ऊँची जान पड़ती है। इसका कारण यह है कि स्त्री एक ही कपड़े को ऊपर से नीचे तक पहनती है जो कि पुरुष नहीं पहनता, किन्तु इस प्रकार के भ्रमों को हम भ्रम नहीं कहते। जब वास्तविकता और हमारे ज्ञान में अधिक विषमता हो जाती है तभी वह ज्ञान भ्रम कहलाता है।

भ्रम दो प्रकार के होते हैं—संवेदनाजन्य[1] और विचारजन्य[2]। संवेदनाजन्य भ्रम इन्द्रियज्ञान के दोष से पैदा होता है। इस भ्रम के कारण पदार्थों के आकार तथा दूरी जाँचने में गलतियाँ होती हैं। इसका कारण हमारी इन्द्रियों की वास्तविकता को जानने की शक्ति की कमी है। अभ्यास के कारण इस प्रकार के भ्रम होते हैं। साधारण मनुष्य ऐसे भ्रमों की पहचान भी नहीं कर सकते हैं। वैज्ञानिक खोज से इन भ्रमों का पता चलता है।

संवेदनाजन्य भ्रम के कुछ उदाहरण—संवेदनाजन्य भ्रम के अनेक उदाहरण वैज्ञानिकों ने खोजे हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) आड़ी लकीर की अपेक्षा उतनी ही बड़ी खड़ी लकीर बड़ी दिखाई देती है। यह नीचे के चित्र से प्रमाणित होता है।
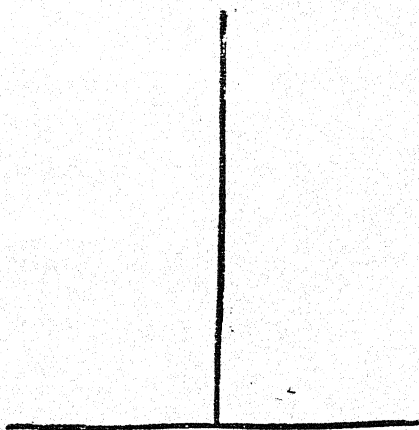
चित्र नं० १५

1. Illusions of the Sense. 2. Illusions of interpretation or thought.

(२) दो एक ही बराबर लकीरों में से जिस लकीर का छोर भीतर को ओर मुड़ा रहता है, छोटी दिखाई देती है।
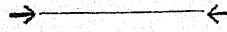
चित्र नं० १६

(३) तिरछी लकीरों को काटनेवाली सीधी लकीर टेढ़ी दिखाई देती है। नीचे दी हुई आड़ी रेखाएँ समानान्तर हैं, किन्तु वे टेढ़ी दिखाई देती हैं।
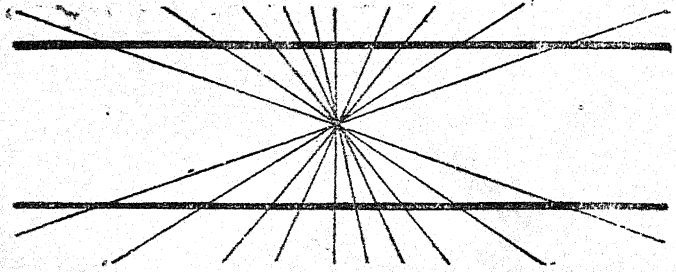
चित्र नं० १७

(४) खाली स्थान की अपेक्षा उतना ही बड़ा भरा स्थान छोटा दिखाई देता है।
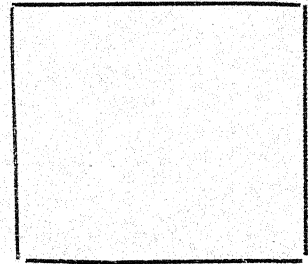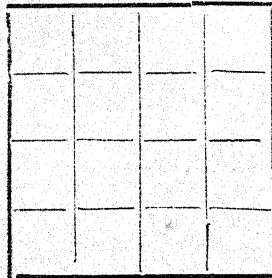
चित्र नं० १८

(५) दो समान चित्रों में ऊपर का चित्र छोटा और नीचे का बड़ा दिखाई देता है।
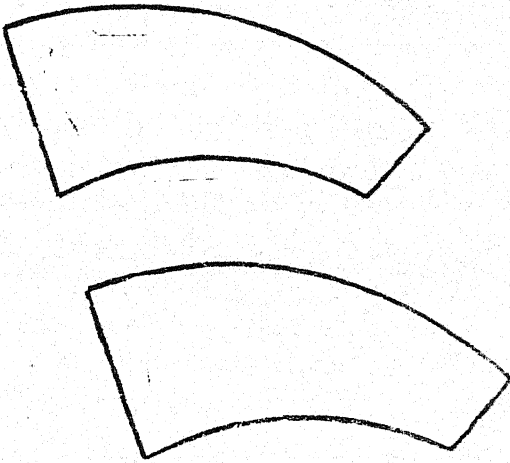
चित्र नं० १६

विचारजन्य भ्रम—विचारजन्य भ्रम के कारण मन में चलनेवाले विचार, इच्छाएँ और उद्वेग होते हैं। यदि हमारा मस्तिष्क किसी विशेष प्रकार के विचारों से भरा हुआ है तो बाहर दूसरा पदार्थ होने पर भी हम उसके विपरीत पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ऐसे भ्रम प्रूफ-संशोधन करने वाले प्राय: करते हैं। जब कोई लेखक, छपते समय, स्वयं अपनी पुस्तक के प्रूफ पढ़ता है तो वह ऐसी अनेक हिज्जे की गलतियाँ कर देता है जो एक साधारण लिखा-पढ़ा व्यक्ति नहीं करेगा। लेखक जिस समय प्रूफ को देखता है उस समय उसका मन लिखित वस्तु में लग जाता है। वह उसके अर्थानुसार प्रूफ को पढ़ने लगता है। उसका ध्यान शब्दों की बनावट पर नहीं रह पाता और जब कभी शब्दों की बनावट की ऐसी गलती हो जाती है जिसकी उसे आशा नहीं रहती, वह उसे सुधार नहीं पाता।। अतएव सबसे अच्छा प्रूफ संशोधक वही व्यक्ति हो सकता है जो लिखित वस्तु के अर्थ को न समझे अथवा जिसमें यह शक्ति हो कि प्रूफ देखते समय अपने मन को वस्तु के अर्थ से अलग रख सके।

उद्वेगों की उपस्थिति भी भ्रम उत्पादन का कारण बन जाती है। कृपण व्यक्ति चोर-डाकुओं के भय से सदा पीड़ित रहते हैं। घर में रात्रि के समय

थोड़ी-सी भी खटखट सुनने पर उन्हें चोर के घुस जाने की आशङ्का हो जाती है और यदि कोई अनजानी वस्तु उन्हें दीख पड़े तो वे उसे चोर ही समझ बैठते हैं।

आशाएँ भी इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। जिस व्यक्ति के अपने घर पर आने की हम आशा करते हैं और उसके लिए बड़ी देर से चिंतित रहते हैं, यदि वह न आये और बदले में दूसरा आ जावे तो कुछ देर के लिए हमें भ्रम हो जाता है। हम दूसरे व्यक्ति को तुरन्त नहीं पहचान पाते। उसे हम अपना इच्छित व्यक्ति मान लेते हैं। भय और आशा की अवस्था में बड़े-बड़े विचित्र भ्रम जनसमाज तक में हो जाते हैं। १६१७ ई० में अंग्रेज लोग भारी सङ्कट में पड़े थे। उस समय जर्मनों का ब्रिटेन पर हमला करने का भय सबसे अधिक बढ़ गया था। वे सोचते थे कि रूस के लोग उनकी मदद को शीघ्र आ रहे हैं। एक बार भ्रमवश किन्हीं दूसरे लोगों को अंग्रेजों ने देखा और उन्हें रूसी ही समझ लिया। रूसियों के इंग्लैंड में आ जाने की अफवाह सारे इंग्लैंड में बिजली की तरह फैल गई जो निराधार सिद्ध हुई।

हमारी पहले की बनी धारणाएँ भी भ्रम उत्पादन करती हैं। मनुष्य जिस धारणा को लेकर किसी विशेष घटनास्थल की जाँच करने जाता है उसे अपनी धारणा के अनुसार ही घटना में अनेक बातें दीखने लगती हैं। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे में हिन्दू-दृष्टि से दंगे को देखनेवाला मुसलमानों के अत्याचार को अधिक देखता है और मुसलमानों की दृष्टि से देखनेवाला हिन्दुओं के अत्याचार को अधिक देखता है। किसी लड़ाई के घटनास्थल पर दो भिन्न विचार के रिपोर्टरों को भेजकर देखिए। अपनी आँख से देखी हुई घटनाओं का वर्णन वे भिन्न-भिन्न प्रकार से करेंगे। इस प्रकार भ्रम वैज्ञानिक लोगों को भी होता है। जिस प्रकार की धारणा लेकर कोई वैज्ञानिक किसी परिस्थिति का अध्ययन करता है वह अपनी धारणा का समर्थन करनेवाली बहुत सी बातों को उस परिस्थिति में देखने लगता है जब कि उनकी सर्वथा अनुपस्थिति रहती है।

देश अथवा अवकाश का ज्ञान

अवकाश-ज्ञान का स्वरूप—वस्तु का ज्ञान अवकाश (देश) और काल के ज्ञान के साथ-साथ होता है। वस्तुज्ञान का आधार बाहर से आनेवाली संवेदनाएँ हैं। किसी पदार्थ की संवेदना हमारे पुरानें अनुभव को जाग्रत करती है। इस अनुभव के आधार पर हम उस संवेदना का अर्थ लगाते हैं

तब हमें वस्तुज्ञान होता है। पर वस्तुज्ञान अवकाश (देश) और काल के बिना नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि अवकाश और काल है क्या, और इनका ज्ञान हमें कैसे होता है ?

कुछ दार्शनिकों के अनुसार अवकाश और काल कोई बुद्धि से स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। इनका स्वतः कोई अस्तित्व नहीं। ये वस्तुज्ञान के अङ्गमात्र हैं। यूरोप के प्रसिद्ध दार्शनिक इमेनुअल कांट के अनुसार अवकाश और काल पदार्थ को समझाने के ढङ्ग मात्र हैं। देश और काल बुद्धि में हैं, न कि पदार्थ में। वेदान्त-दर्शन भी इसी मत का प्रतिपादन करता है।

मनोवैज्ञानिक इस दार्शनिक झञ्झट में नहीं पड़ता। उसे इस प्रश्न को हल नहीं करना पड़ता कि अवकाश और काल हैं क्या ? वह सिर्फ इसी प्रश्न को हल करने की चेष्टा करता है कि अवकाश और काल का ज्ञान हमें कैसे होता है। यह ज्ञान जन्मजात है अथवा अर्जित और हमें किन-किन इन्द्रियों की सहायता इस ज्ञान को प्राप्त करने में लेनी होती है ?

स्टाउट महाशय के कथनानुसार अवकाश की भावनाएँ जन्मजात हैं; किन्तु इन भावनाओं की वृद्धि अनुभव की वृद्धि के साथ-साथ होती है। अवकाश के ज्ञान की वृद्धि में अनेक इन्द्रियाँ सहायता करती हैं। अवकाश का ज्ञान हमें एक ही इन्द्रिय से नहीं होता। इस ज्ञान के प्राप्त करने में स्पर्शेन्द्रिय और आँख विशेष कार्य करते हैं। कान की, अवकाश का ज्ञान कर सकने की योग्यता के विषय में प्रायः तर्क-वितर्क होता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कान से भी अवकाश-ज्ञान होता है।

अवकाश-ज्ञान के अंग—अवकाश-ज्ञान के निम्नलिखित चार अङ्ग हैं—

(१) दिशाज्ञान[1]

(२) दूरी का ज्ञान[2]

(३) आकारज्ञान[3]

(४) आकृतिज्ञान[4]

इन अवकाश के चार अङ्गों में कुछ इन्द्रियों के द्वारा एक अङ्ग का ज्ञान होता है और कुछ इन्द्रियों के द्वारा अनेक अंगों का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, कान के द्वारा वस्तु की दिशा और दूरी का ज्ञान हो सकता है, किन्तु उसके आकार और आकृति (सूरत) का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तु के आकार और आकृति का ज्ञान हमें दूसरी इन्द्रियों के द्वारा होता है।

---

1. Direction. 2. Distance. 3. Size. 4. Shape.

दिशाज्ञान

अवकाश-ज्ञान का पहला अङ्ग दिशा-ज्ञान है। निम्नवर्ग के प्राणियों के अवकाश-ज्ञान का यह मूल अङ्ग है। उन्हें अपने भोजन खोजने और अपने शत्रुओं से बचने के लिए दिशाज्ञान की आवश्यकता होती है।

दिशा-ज्ञान का आधार स्पर्श, गति-ज्ञान, देखना, सुनना और सूँघना होते हैं। अर्थात् दिशा-ज्ञान के प्राप्त करने में मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ सहायता करती हैं। यदि हम दिशा-ज्ञान से ही इन्द्रियों की अवकाश-ज्ञान की शक्ति के विषय में कोई निर्णय करें, तो हम उन सभी को बराबर योग्य पावेंगे। किन्तु जब हम अवकाश ज्ञान के दूसरे अङ्गों पर विचार करते हैं तो इन्द्रियों की योग्यता में मौलिक भेद पाते हैं।

दिशा-ज्ञान के प्राप्त करने में आँख और कान का विशेष कार्य रहता है। कोई वस्तु किस ओर है इसे जानने के लिए हमें अपनी आँखों को उस ओर मोडना पड़ता है। हमें अपने सामने की वस्तु ही दिखाई देती है, पीछे की नहीं दिखाई देती। बाजू की वस्तु को देखने के लिए भी हमें अपनी आँख की पुतलियों को चलाना पड़ता है। जब हम आँख को इधर-उधर करते हैं तो हमें दिशा का ज्ञान होता है।

कान से दिशा का ज्ञान होता है। हमारे दो कान हैं। जब कोई आवाज कानों तक आती है तो एक कान को वह अधिक तीक्ष्ण सुनाई देती और दूसरे कान को कम सुनाई देती है। आवाज की तीक्ष्णता से हम उसकी दिशा को जानते हैं। जब कोई आवाज हमारे ठीक सामने से अथवा ठीक पीछे से आती है, अर्थात् जब वह एक ही बराबरी की तीक्ष्णता से कानों को सुनाई देती है तो हमें आवाज की दिशा के विषय में भ्रम हो जाता है। पीछे से आनेवाली आवाज को हम कभी-कभी सामने से आई समझ लेते हैं और इसी तरह सामने से आई आवाज को पीछे से आई समझ लेते हैं। कभी-कभी घण्टे की आवाज हमारे सामने से आती है और हमें उसे पीछे से आती हुई का भ्रम होता है।

सूँघ करके भी दिशा का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति जितनी किसी-किसी नीचे वर्ग के प्राणी में है, मनुष्य में नहीं है। शिकारी कुत्ते अपनी घ्राणेन्द्रिय की सहायता से शिकार की खोज कर लेते हैं। उनकी घ्राणेन्द्रिय उन्हें अपने शिकार की दिशा जानने में बड़ी सहायता देती है।

दूरी का ज्ञान

दूरी का ज्ञान स्पर्श के द्वारा (चल फिरकर), आँख के द्वारा और कान की सहायता से किया जाता है ।

स्पर्श और गति के द्वारा दूरी का ज्ञान—दूरी के ज्ञान का मूल आधार स्पर्शज्ञान ही है। जिस वस्तु को प्राप्त करने में शिशु को जितना अधिक चलना-फिरना पड़ता है वह उतनी दूर समझी जाती है। पास की वस्तु तक पहुँचने में शिशु को कम चलना पड़ता है, दूर की वस्तु प्राप्त करने के लिए उसे अधिक चलना पड़ता है, अधिक परिश्रम करना अधिक दूरी का ज्ञान कराता है; कम परिश्रम का ज्ञान कम दूरी के ज्ञान का आधार है। इस तरह अपने अंगों द्वारा होनेवाली क्रिया के आधार पर ही दूरी का ज्ञान किया जाता है।

आँख से दूरी का ज्ञान—आँख के द्वारा दूरी के ज्ञान की वृद्धि धीरे-धीरे होती है। नवजात शिशु को वस्तुओं को देखकर दूरी का अनुमान करने की शक्ति नहीं होती। जब हम तीन-चार महीने के शिशु के सामने कोई फूल ले जाते हैं तो वह उस फूल को पकड़ने की चेष्टा करता है। पर उसे यह ज्ञान नहीं होता कि फूल उससे कितनी दूरी पर है। अतएव बालक फूल के दूर रहने पर भी मुट्ठी बाँधने की चेष्टा करने लगता है। इस तरह कई बार चेष्टाएँ करने पर वह फूल को पकड़ पाता है।

प्रौढ़ व्यक्तियों को आँख से देखकर किसी वस्तु की दूरी जानने में देर नहीं लगती। दूरी जानने के लिए न तो किसी प्रकार का विचार करना पड़ता है और न प्रयास। अतएव प्रौढ़ व्यक्तियों के मन में यह विचार ही नहीं आता कि दूरी का ज्ञान अनेक प्रकार के मानसिक संस्कारों के ऊपर निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिकों ने आँख से दूरी का ज्ञान उत्पन्न करनेवाले साधनों के निम्नलिखित दो भेद किये हैं—

(१) एक आँख के साधन,[1] (२) दो आँखों के साधन।[2]

इन दोनों प्रकार के साधनों पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

एक आँख की दूरी के ज्ञान के साधन

एक आँख से दूरी का ज्ञान कई बातों पर निर्भर है। उसमें से प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) **वस्तु का आकार**[3]—जिस वस्तु से हम परिचित हैं, उसका

---

1. Monocular factors. 2. Binocular factors. 3. Size of the object.

आकार यदि हमें छोटा दिखाई पड़े तो हम सहज में ही इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह वस्तु हमसे दूर है। जब चील को हम एक छोटी सी चिड़िया के समान देखते हैं तो हम निश्चय कर लेते हैं कि वह हमसे बहुत दूरी पर है। हम जब किसी बड़ी नदी के रेल के पुल के नीचे रहते हैं और जब हम पुल पर चलनेवाले लोगों को छोटा-छोटा देखते हैं तो हम अनुमान कर लेते हैं कि पुल बहुत ऊँचा है। आकाश में जाता हुआ दूर का वायुयान एक पक्षी के समान दिखाई देता है। हम जानते हैं कि वायुयान का आकार पक्षी के समान नहीं हो सकता, वह हमें दूरी के कारण ही छोटा दिखाई देता है। हमारे अनुमान का आधार एक ही पदार्थ का दो आकारों में दिखाई देना भी होता है। जब वायुयान दूर रहता है तो छोटा दिखाई देता है; पर जब वही वायुयान समीप आ जाता है तो बड़ा दिखाई देने लगता है। इस प्रकार के हमारे अनुभव आकार के द्वारा दूरी का ज्ञान प्राप्त करने के आधार बन जाते हैं।

दूर की वस्तु का छोटा दिखाई देना स्वाभाविक है। हमारी आँख एक फोटो खींचने के केमरे के समान है और आँख का 'रेटिना' केमरा के फोटो लेनेवाले प्लेट के समान है। किसी पदार्थ का चित्र लेते समय देखा जाता है कि जब केमरा पदार्थ के समीप होता है तो प्लेट पर चित्र बड़ा आता है और जब केमरा पदार्थ से दूरी पर होता है तो उसका चित्र छोटा आता है। इसी तरह जब हमारी आँख किसी वस्तु के समीप होती है तो उसका रेटिना के ऊपर बड़ा प्रतिबिम्ब आता है, इससे हमें उस वस्तु का आकार बड़ा दिखाई पड़ता है। जब वही वस्तु आँख से दूर होती है तो उसका आँख के रेटिना के ऊपर छोटा प्रतिबिम्ब पड़ता है, अतएव वह वस्तु हमें छोटी दिखाई देती है। वास्तव में वस्तु कितनी बड़ी है, इसे जानना आँख के लिए संभव नहीं। यदि वह वस्तु परिचित है तो हम वस्तु को छोटी देखकर अनुमान कर लेते हैं कि वह दूरी पर है इसलिए ही छोटी दिखाई देती है।

यहाँ हमें स्मरण रखना आवश्यक है कि अपरिचित वस्तु का आकार देखकर हम उसकी दूरी का अनुमान नहीं कर सकते। जो व्यक्ति पहले पहल वायुयान को आकाश में उड़ते देखता है वह उसकी, अपने पास से, दूरी का कुछ भी अनुमान नहीं कर सकता, क्योंकि वह वायुयान के सामान्य आकार से परिचित ही नहीं है।

(२) वस्तु की आकृति[1]—किसी वस्तु की आकृति देखने से भी

1. Shape of objects.

उसकी दूरी का ज्ञान होता है। दूर की वस्तु, चाहे वह गोल भले ही न हो, गोलाई लिये दिखाई पड़ती है। चन्द्रमा हमसे अधिक दूर पर है, अतएव उसकी वास्तविक आकृति टेढ़ी-मेढ़ी होने पर भी वह गोल दिखाई देता है, इसी तरह दूसरे पदार्थ की आकृतियों में विशेष प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। अतएव जब हम अपनी परिचित वस्तुओं की आकृति में किसी विशेष प्रकार का परिवर्तन देखते हैं तो हम अनुमान करते हैं कि वे दूरी पर हैं।

(३) आवरण[1]—जब एक वस्तु दूसरी को हमारी दृष्टि से ढँकती है तो ढाँकनेवाली वस्तु को हम समीपवर्ती मानते हैं और ढाँकी जानेवाली वस्तु को दूरस्थ मानते हैं। जिस प्रकार किसी फोटोग्राफ के चित्र में समीप का पदार्थ दूर के पदार्थ को ढँक देता है इसी तरह आँख के रेटिना पर आनेवाले चित्र में होता है। चित्र में जब हम दो व्यक्तियों को आस-पास खड़े देखते हैं और एक व्यक्ति के एक हाथ को नहीं देखते तो यह विचार नहीं कर लेते कि उसके एक हाथ है ही नहीं, वरन् यही सोचते हैं कि वह दूसरे व्यक्ति के शरीर से ढँक गया है। इससे यह भी निर्णय होता है कि दूसरे व्यक्ति का शरीर पहले व्यक्ति के हाथ से आगे है। जब हम एक चित्र में एक दीवाल को देखते हैं और साथ ही साथ वृक्ष के ऊपर के भाग को भी देखते हैं, पर उसके नीचे के भाग को नहीं देखते, तो हम अनुमान कर लेते हैं कि वृक्ष दीवाल के पीछे है। इसी तरह आँख के रेटिना पर पड़नेवाले चित्र की दूरी का भी अर्थ लगाया जाता है। हम कहा करते हैं कि हम पेड़ को दीवाल के पीछे देख रहे हैं, पर वास्तव में किसी वस्तु का आँख के द्वारा आगे-पीछे का ज्ञान होना अनुमान मात्र है।

कभी-कभी छोटा पदार्थ, बड़े पदार्थ को दृष्टि से ढँक लेता है। इससे भी पदार्थ की दूरी का निर्णय किया जाता है। यदि कोई छोटा पदार्थ बड़े को ढँक ले तो निश्चय किया जाता है कि वह समीप होगा। उदाहरणार्थ, एक चलता-फिरता मनुष्य जब हमारी ठीक आँख के सामने आता है तो वह अपने पीछे के ऊँचे पेड़ को दृष्टि से ओझल कर देता है। इससे हम निष्कर्ष निकालते हैं कि मनुष्य पास है और वृक्ष दूरी पर।

(४) पदार्थों की गति[2]—जब हम रेल में बैठे होते हैं तो रेल-लाइन के पास तार के खम्भे बड़ी तेजी के साथ दूसरी दिशा में जाते हुए दिखाई देते हैं,

---

1. Super-imposition. 2. Movement of Objects.

किन्तु दूर के वृक्ष धीरे-धीरे दूसरी दिशा में दिखाई देते हैं। इस प्रकार का अनुभव हमें सुझाता है कि धीरे-धीरे चलनेवाली वस्तुएँ दूर हैं और जल्दी-जल्दी चलनेवाली पास हैं। जब हम किसी वायुयान को धीरे-धीरे चलते देखते हैं तो अनुमान करते हैं कि वह दूर है। गति का ज्ञानमात्र दूरी के जानने का साधन नहीं होता, दूसरे साधन भी सहायक होते हैं।

(५) पदार्थों की अस्पष्टता—पदार्थों के स्वरूप की अस्पष्टता भी दूरी के अनुमान का कारण होती है। दूर के पहाड़ धुँधले दिखाई देते हैं, जब ये पास में होते हैं तो उन पर के वृक्ष, चट्टानें आदि स्पष्ट दिखाई देती हैं। इसी तरह दूर पर जाती हुई रेलगाड़ी धुँधली-सी दिखाई देती है। इस अनुभव से अनुमान किया जाता है कि जो पदार्थ धुँधला दिखाई देता है वह दूर है।

कभी-कभी हमारी उक्त प्रकार की धारणा भ्रम का कारण हो जाती है। मोटर चलानेवालों को कुहरे के समय विशेष प्रकार से सावधान रहना पड़ता है। कुहरे में प्रत्येक पदार्थ अस्पष्ट दिखलाई देता है। इसलिए सड़क पर चलनेवाले मनुष्यों और जानवरों की दूरी के बारे में मोटर चलानेवालों को भ्रम हो जाता है। वे समीप की वस्तुओं और जानवरों को दूर समझ लेते हैं और इसके कारण दुर्घटनाएँ हो जाया करती हैं।

दो आँख से दूरी का ज्ञान[1]

दूरी का ज्ञान एक आँख की अपेक्षा दो आँखों से देखने से और भी ठीक होता है। इसलिए जिस व्यक्ति को एक ही आँख रहती है वह दो आँखों से देखने से दूरी का ज्ञान प्राप्त करने में जो सुविधा होती है उसका लाभ नहीं उठा सकता। दो आँख से जब एक ही पदार्थ देखा जाता है तो दोनों आँखों की दृष्टि एक ही जगह मिलती है। इस प्रकार की दृष्टि के मिलने के लिए आँखों की पुतलियों को चलाना पड़ता है और इसलिए आँख की पेशियों पर दूरी के अनुसार कम अथवा अधिक जोर पड़ता है। दूर के पदार्थों को देखने में आँख की पेशियों को उतना जोर नहीं पड़ता जितना कि समीप के पदार्थों को देखने में पड़ता है। जितना दूर पदार्थ होता है उतना ही कम दोनों आँखों की पुतलियों को मोड़ना पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक आँख की दृष्टि के थोड़े झुकाव की आवश्यकता पड़ती है। समीप के पदार्थ में दृष्टि के अधिक झुकाव की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यह झुकाव

1. Binocular Factors.

ही दूर के ज्ञान का कारण बन जाता है। यह नीचे दिये हुए चित्र से स्पष्ट होता है:—
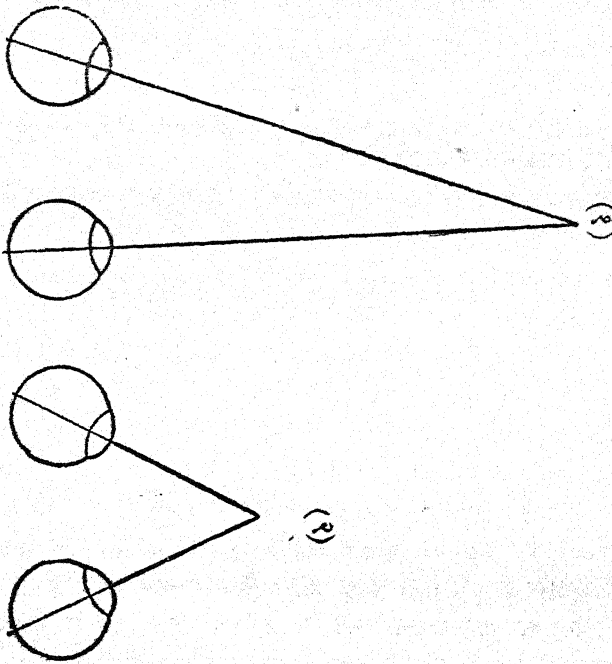
दृष्टि का झुकाव

१—दूर का पदार्थ २—समीप का पदार्थ

चित्र नं० २०

दो आँख से प्रसार का ज्ञान

प्रत्येक वस्तु का प्रसार तीन ओर होता है—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई की ओर। एक आँख से किसी पदार्थ की लम्बाई-चौड़ाई का ज्ञान ठीक तरह से हो जाता है, किन्तु मोटाई का ठीक-ठीक ज्ञान होने के लिए वस्तु के दूसरे बाजू को देखना भी आवश्यक होता है। जब हमारी दोनों आँखें एक साथ काम करती हैं तो हम किसी पदार्थ के तीन बाजुओं को एक साथ देख लेते हैं। एक आँख से दो बाजू देखे जा सकते हैं।

एक मोटी पुस्तक को लीजिए। उसे बन्द करके इस प्रकार पकड़िए कि पुस्तक की मोटाई का भाग आपकी नाक की सीध में हो। अब अपनी बाईं

आँख बन्द करके उसकी ओर देखिए। आपको इस प्रकार देखने से पुस्तक की मोटाई और पुस्तक का दाहिना बाजू ही दिखेगा; बायाँ बाजू नहीं दिखेगा। अब अपनी बाईं आँख खोल दीजिए। बाईं आँख के खोलने पर पुस्तक के दायें और बायें बाजू तथा मोटाई अर्थात् तीन बाजू दिखेंगे। जब हम दोनों आँखों से देखते हैं तो दोनों आँखों के रेटिनों पर किसी भी पदार्थ की दो आकृतियाँ बन जाती हैं; किन्तु पीछे दोनों मिलकर एक सम्मिलित आकृति का ज्ञान हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होता है।

किसी भी पदार्थ की दो भिन्न प्रकार की प्रतिमाएँ पहले-पहल हमारी आँखों के दोनों रेटिनाओं पर पड़ती हैं, पीछे ये दोनों मिलकर एक हो जाती हैं। इस बात की पुष्टि स्टीरियस्कोप के प्रयोग से होती है। स्टीरियस्कोप में देखे गये पदार्थ चित्र के रूप में नहीं वरन् मूल पदार्थों के रूप में दिखाई देते हैं। इसके कारण स्टीरियस्कोप एक तमाशा बन जाता है। इसकी बनावट में किसी वस्तु के दो ऐसे चित्र काम में लाये जाते हैं जो केमरों को उतनी ही दूरी पर रखकर एक साथ खींचे जाते हैं जितनी कि दूर हमारी दोनों आँखें हैं। इसके कारण एक ही दृश्य के दो भिन्न ऐसे चित्र प्राप्त हो जाते हैं जिनमें उतना ही भेद होता है जितना हमारी दोनों आँखों के रेटिनाओं पर पड़े दृश्य की आकृति का होगा। अब जब हम इन दोनों चित्रों को स्टीरियस्कोप की काँचों से दोनों आँखों से एक साथ देखते हैं तो वे चित्र एक ही वस्तु का ज्ञान उत्पन्न करते हैं और यह ज्ञान चित्र के नहीं वस्तु के ज्ञान सदृश होता है, क्योंकि यदि हम मूल वस्तु को अपनी दोनों आँखों से देखते तो उसी प्रकार की आकृति उनके रेटिनाओं पर पड़ती जैसी कि स्टीरियस्कोप के चित्रों में रहती है।

कान से दूरी का ज्ञान

जिस प्रकार आँख से पदार्थों की दूरी का ज्ञान होता है, उसी प्रकार कान से भी पदार्थों की दूरी का ज्ञान होता है। जब किसी परिचित पदार्थ की आवाज धीमी आती है तो हम उसे दूर मानते हैं और जब वही आवाज तेज सुनाई देती है तो उसे हम नजदीक मानते हैं। इसी तरह हम रात में घण्टों की आवाज से उनकी दूरी का अनुमान करते हैं।

समय का ज्ञान[1]

मनोविज्ञान के कथनानुसार जिस प्रकार हमें पदार्थों की आकृति का ज्ञान तथा उनके देश का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उसी प्रकार समय का

1. Perception of time.

ज्ञान भी इन्द्रियों की उत्तेजना के ऊपर निर्भर रहता है। समय का ज्ञान सभी इन्द्रियों के द्वारा होता है। यह इन्द्रिय-ग्राह्य घटनाओं के ऊपर निर्भर होता है। थोड़े समय को जब हम लेते हैं, तो जितनी अधिक घटनाएँ उसमें होती हैं, समय उतना ही अधिक ज्ञात होता है और जितनी कम घटनाएँ होती हैं उतना ही कम समय ज्ञात होता है। लम्बे समय के विषय में ठीक इसका उल्टा होता है। लम्बा समय घटनाओं से भरे रहने पर थोड़ा जान पड़ता है और घटनाओं से खाली रहने पर अधिक जान पड़ता है।

समय का अन्तर ग्रहण करने की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न शक्ति होती है। आँख से प्राप्त उत्तेजना के लिए ·०४४ सेकेंड के अन्तर की आवश्यकता होती है और कान के लिए ·००२ सेकेंड की।

देश और काल के विषय में दार्शनिक विचार

जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता कान्ट के कथनानुसार देश और काल वस्तुज्ञान के उपकरण मात्र हैं। देश और काल मन से बाहर कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। हमारी विभिन्न इन्द्रियों से विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ हमारे मस्तिष्क में जाती हैं। ये संवेदनाएँ आपस में मिश्रित होने पर एक पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति करती हैं। इस तरह पदार्थ का ज्ञान बाहर से आनेवाली संवेदनाओं पर निर्भर रहता है। देश और काल की कोई संवेदना नहीं होती। देश और काल का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए कोई बाह्य जगत् में पदार्थ नहीं। अतएव देश और काल हमारी बुद्धि की वस्तुएँ ही हैं।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि काल की संवेदना के विषय में भले ही वाद-विवाद हो, पर देश की स्वतन्त्र उपस्थिति में कोई संशय नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम देश को अपने से बाहर फैला हुआ देखते हैं। पर जब हम अपने ज्ञान पर सूक्ष्म विचार करते हैं तो देखते हैं कि बाहर और भीतर सम्बन्ध ज्ञान के नाम हैं। शरीर के सापेक्ष ये ज्ञान होते हैं। वास्तव में ज्ञान में ये भेद उत्पन्न होते हैं।

कान्ट महाशय ने देश और काल को वस्तु-ज्ञान के उपकरण बताकर दार्शनिक विज्ञानवाद का समर्थन किया है। यदि हम देश और काल को बुद्धि के विकल्प मान लें तो बाहर और भीतर का भेद ही मिट जाता है। इस भेद के मिट जाने पर हमें सारा संसार विज्ञानमय मानना पड़ता है।

ज्ञानअणुवाद[1] और सम्पूर्णज्ञानवाद

मनोविज्ञान में प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में दो प्रकार के विचार हैं। एक विचार के अनुसार वस्तु का ज्ञान ज्ञानअणुओं का बना हुआ है। ये ज्ञानअणु हमारी विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ हैं। ये संवेदनाएँ हमारी विभिन्न इन्द्रियों से मस्तिष्क की ओर जाती हैं। मस्तिष्क में जाकर वे एक दूसरे से मिश्रित होती हैं तब हमें पदार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है।

मान लीजिए, हमारे सामने एक नीबू पड़ा है। इस नीबू के रंग और आकार की संवेदनाएँ हमारी आँख के द्वारा मस्तिष्क की ओर जाती हैं। जब हम उस नीबू को देखकर उठा लेते हैं तो उसकी ठण्डाई, नमी और चिकनाई की संवेदना स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा मस्तिष्क की ओर जाती है। इसी प्रकार जब हम उसे चखते हैं तो उसकी खटाई की संवेदना जीभ के द्वारा मस्तिष्क में जाती है। ये विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ मिलकर पदार्थज्ञान की उत्पत्ति होती है। पदार्थज्ञान इस तरह ज्ञान-अणुओं का बना हुआ है।

इस विचार के प्रतिकूल एक दूसरा विचार है, जिसका प्रवर्तन आधुनिक मनोवैज्ञानिक कर रहे हैं। वस्तुज्ञान एक ज्ञान-सागर के विश्लेषण से उत्पन्न होता है। जैसे बालक उत्पन्न होता है तो उसे संसार का अस्पष्ट ज्ञान होता है। यह ज्ञान विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का बना रहता है। इस अस्पष्ट ज्ञान में पीछे मन की क्रियात्मक गति के द्वारा स्पष्टता उत्पन्न होती है। जैसे-जैसे ज्ञान-समुद्र में भेद उत्पन्न होते हैं; पृथक्-पृथक् वस्तुओं का ज्ञान उत्पन्न होता है। वस्तुज्ञान का और विश्लेषण करने पर संवेदना का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह संवेदना-ज्ञान अन्य प्रकार के ज्ञान का आधार न होकर ज्ञान-क्रिया का अन्तिम परिणाम है।

निरीक्षण[2]

निरीक्षण और प्रत्यक्ष ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। निरीक्षण एक विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार संवेदनाएँ हैं। जब संवेदना का विशेष प्रकार का अर्थ लगाया जाता है तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। प्रत्यक्ष ज्ञान में संवेदना के अतिरिक्त स्मृति और कल्पनाएँ सम्मिलित रहती हैं। जब स्मृति और कल्पनाओं का प्राबल्य हो जाता है और जब पहले से सोच-विचार कर किसी प्रकार

1. Atomic Theory of knowledge. 2. Observation.

का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है तो वह ज्ञान निरीक्षण कहा जाता है। प्रत्यक्षीकरण मात्र में बाहरी संवेदना का प्राबल्य होता है, निरीक्षण में मानसिक स्थिति की प्रबलता होती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को किसी विषय को जानने की उत्सुकता जितनी अधिक होती है उसका निरीक्षण उतना ही अधिक अच्छा होता है। निरीक्षण की योग्यता मनुष्य के पूर्ण ज्ञान पर भी निर्भर रहती है। जिस व्यक्ति का किसी विशेष प्रकार के विषय में जितना अधिक ज्ञान होता है, उसका उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों का ज्ञान उतना ही अच्छा होता है।

मान लीजिए, दो व्यक्ति किसी कला-भवन में जाते हैं। वहाँ दोनों अनेक प्रकार के चित्र देखने लगते हैं। इनमें से एक व्यक्ति चित्रकला का विशेषज्ञ है और दूसरा उसके विषय में कुछ भी नहीं जानता। अब दोनों के निरीक्षण के भेद को हम देखें तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि कला का विशेषज्ञ जितना अधिक किसी चित्र में देखने के लिए सामग्री पाता है उतना कला का ज्ञान न रखनेवाला नहीं पाता। एक व्यक्ति जल्दी-जल्दी चित्रों को देख लेता है; दूसरा एक ही चित्र को घण्टों देखता रहता है तिस पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती।

निरीक्षण की योग्यता जिस प्रकार मनुष्य की उत्सुकता और ज्ञान के ऊपर निर्भर करती है उसी तरह वह बुद्धि की प्रखरता के ऊपर निर्भर करती है। वास्तव में बुद्धि की प्रखरता भी मनुष्य के विभिन्न प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती है। जो व्यक्ति बुद्धि में जितना प्रखर होता है, उसकी ज्ञान की भूख उतनी ही अधिक होती है और उसका ज्ञानभाण्डार भी उतना ही बढ़ा-चढ़ा होता है।

किसी वस्तु का भलीभाँति निरीक्षण करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले से ही उसके विषय में चिन्तन करें और अपने मन में अनेक प्रकार के प्रश्न तैयार करके निरीक्षण का कार्य आरम्भ करें। प्रश्नों के रहने पर जितना अच्छा निरीक्षण होता है उतना अच्छा निरीक्षण अन्यथा नहीं होता।

प्रश्न

१—संवेदना और प्रत्यक्ष ज्ञान का सम्बन्ध क्या है? प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है?

२—प्रत्यक्ष ज्ञान में स्मृति और कल्पना का अंश कहाँ तक रहता है? उदाहरण देकर समझाइए।

३—भ्रम की उत्पत्ति कैसे होती है? भ्रम उत्पादन में उद्वेगों का क्या कार्य होता है?

४—हम संसार को जैसा वह है वैसा नहीं, वरन् जैसे हम हैं वैसा देखते हैं—इस कथन की सत्यता प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप समझकर स्पष्ट कीजिए।

५—एक आँख से दूरी का ज्ञान कैसे होता है? एक आँख से दूरी का ज्ञान उत्पन्न करनेवाले साधनों को उदाहरण सहित समझाइए।

६—दो आँखों से दूरी का ज्ञान कैसे होता है? चित्र के द्वारा इसे समझाइए।

७—हम दो आँखों से एक पदार्थ का ज्ञान कैसे करते हैं? स्टीरियस्कोप में देखे गये चित्र प्रत्यक्ष पदार्थों के समान क्यों दिखाई देते हैं?

८—निरीक्षण और प्रत्यक्ष ज्ञान में क्या भेद है? हम अपना निरीक्षण कैसे अच्छा बना सकते हैं?

९—दो व्यक्ति—एक गल्ले का व्यापारी और दूसरा कलाकार—बाजार में जाते हैं। दोनों के निरीक्षण में क्या भेद होगा? इसका क्या कारण है?

बारहवाँ प्रकरण

स्मृति[1]

स्मृति की उपयोगिता

व्यावहारिक जीवन में आवश्यकता—सांसारिक जीवन में स्मृति की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि प्रत्येक मनुष्य अच्छी स्मृति का इच्छुक रहता है। स्मृति हमारे व्यावहारिक जीवन के काम में आती है। यदि हम आज की बात कल न याद रख सकें तो हमारे कुल व्यवहार ही बन्द हो जायँ, किसी मनुष्य को आज हमने सौ रुपये उधार दिये और यदि कल उसे भूल जायँ तो हम अपना सब धन ही खो दें। व्यावहारिक जीवन में वही मनुष्य कुशल होता है, जिसकी स्मरण-शक्ति दूसरों से अच्छी रहती है और जो समय पर छोटी-छोटी घटनाओं को भी स्मरण कर सकता है।

पाठ याद करने में आवश्यकता—स्मृति किसी पाठ को याद करने के लिए भी आवश्यक है। विद्यार्थियों के लिए तो स्मृति इतनी महत्व की है कि इसके बिना उनका काम ही नहीं चल सकता। जिस विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति दूसरे विद्यार्थियों से अच्छी होती है वह पढ़ाई में दूसरे से बाजी मार ले जाता है। जिस विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति किसी कारण बिगड़ जाती है उसे अपनी पढ़ाई में उन्नति करना असम्भव हो जाता है।

विचार के लिए आवश्यकता—स्मरण-शक्ति विचार के लिए भी आवश्यक है। विचार स्मृति के आधार पर ही चलता है। विचार करते समय हम अपने पुराने अनुभव को दुहराते हैं और भविष्य के योग्य साधन खोजने की चेष्टा करते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान और निरीक्षण भी बिना स्मृति के सम्भव नहीं। हमने प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप दर्शाते समय यह कहा था कि प्रत्यक्ष ज्ञान में तीन चतुर्थांश स्मृति तथा कल्पना का रहता है। अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही हम वर्तमान अनुभव का अर्थ लगाते हैं। इसते यह निश्चित है कि स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए परमावश्यक है।

---

1. Memory.

अच्छी स्मृति के लक्षण[1]

शीघ्र याद कर सकना—अच्छी स्मृति का पहला लक्षण याद करने में शीघ्रता है। जो बालक जितनी जल्दी अपना पाठ याद कर सकता है उसकी स्मृति उतनी अच्छी समझी जाती है। कितने ही लोग एक ही बार किसी बात को सुनकर उसे याद कर लेते हैं और कितने अनेक बार सुनने पर भी उसे याद नहीं कर पाते। कितने ही बालक दो-तीन बार किसी पाठ को पढ़ने पर उसे याद कर लेते हैं और कितने बालक कई बार उस पाठ को पढ़ने पर भी उसे सुनाते समय भूल जाते हैं। स्मृति की शक्ति का इस प्रकार भेद जन्मजात होता है।

देर तक याद रहना—पठित विषय का देर तक याद रहना अच्छी स्मृति का दूसरा लक्षण है। कितने ही लोग शीघ्रता से किसी भी बात को याद कर लेते हैं, किन्तु वे उसे शीघ्र भूल जाते हैं। इस प्रकार अपने पुराने अनुभवों को भूल जाने से हम उनसे कुछ लाभ नहीं उठा सकते। हमारे विचार का आधार पुराना अनुभव ही रहता है, यदि हम अपने पुराने अनुभव को आवश्यकता पड़ने पर स्मरण न कर सकें तो हमारा विचार बचपन की अवस्था में ही बना रहे। स्मृति हमारे संसार के अनुभव को संचित करके रखती है। उसके संचित और सुरक्षित रहने पर ही हम उसका समय पर उपयोग कर सकते हैं।

समय पर स्मरण होना—अच्छी स्मृति का एक प्रधान लक्षण याद किये गये विषय का समय पर स्मरण होना है। सच्ची विद्या वही कही जाती है जो समय पर काम आवे। किसी अनुभव के समय पर स्मरण होने के लिए उसका स्मृति में ठहरना मात्र आवश्यक नहीं है। उसका योग्य रीति से रखा जाना भी आवश्यक है। हमारी स्मृति एक पुस्तकालय के सदृश है। सुन्दर पुस्तकालय में न केवल अनेक पुस्तकें उपस्थित रहती हैं, किन्तु वे ढंग से सजाई हुई रहती हैं, और उसका प्रबन्धक कुशल और चौकस रहता है; इसलिए जो पुस्तक जिस समय माँगी जाती है वह उसी समय मिल जाती है। इस तरह जिस व्यक्ति की स्मृति अच्छी है वह आवश्यकता पड़ने पर अपने पुराने अनुभव में से किसी भी बात को तुरत ढूँढ़ निकालता है।

व्यर्थ बातों का भूलना—कितने ही व्यक्ति सोचते हैं कि अच्छी

---

1. Characteristics of good memory.

स्मृति का एकमात्र लक्षण अपने पुराने अनुभवों को याद रख सकना है; किन्तु यह हमारी भूल है। कितने ही विद्यार्थी ऐसे हैं जो किताब की किताब याद कर डालते हैं, पर परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होते। उनकी स्मृति बुरी न होने पर भी वे परीक्षा में फेल क्यों होते हैं?

इसका प्रधान कारण यह है कि वे अपनी स्मृति का सदुपयोग नहीं करते। अतीत अनुभव की सब छोटी-छोटी बातों को स्मरण कर सकना अच्छी स्मृति का लक्षण नहीं है। अच्छी स्मृति वह है जो हमें समय पर काम दे। यदि हमें अपने जीवन की प्रत्येक घटना स्मरण रहे, तो हमारा जीवन अब से अधिक सुखी न होकर दुखी हो जाय, हम जिस बात को भुलाना चाहेंगे उसे भूल भी न सकेंगे। फिर सब दुःख, सारी घटनाएँ हमारी आँखों के सामने झूलती रहेंगी। हमारा मस्तिष्क पुराने संस्कारों से इतना भर जायगा कि नये संस्कारों के पड़ने को स्थान ही नहीं रह जायगा। अतएव अच्छी स्मृति का एक प्रधान लक्षण व्यर्थ बातों को भूल जाना है।

स्मृति के अंग[1]

किसी वस्तु का स्मरण रहना चार बातों पर निर्भर रहता है। विषय का याद करना, याद किये विषय को मन में धारण किए रहना, उसका समय पर याद आना और स्मरण आये विषय का पहचाना जाना। इन चारों बातों को स्मृति का अंग कहा गया है। अतएव हम स्मृति के निम्नलिखित चार अङ्गों पर भले प्रकार से विचार करेंगे—

(१) याद करना या सीखना[2],
(२) धारणा[3],
(३) स्मरण (पुनरावर्तन[4]),
(४) पहचान[5]।

उपर्युक्त चार अङ्गों की समस्याओं को भली प्रकार समझने से हम स्मृति के स्वरूप और समस्याओं को सरलता से समझ सकते हैं।

याद करना

याद करने की रीतियाँ[6]—कोई विषय दो तरह से याद किया जा सकता है—एक तो रटकर और दूसरे समझ-बूझकर। रटकर याद करने से समझ-बूझकर याद करना अधिक उपयोगी होता है। यदि किसी कविता को हमें याद

---

1. Factors of Memory. 2. Learning. 3. Retention. 4. Recall. 5. Reccgnition. 6. Methods of memorising.

करना है तो उसे रटना मात्र पर्याप्त नहीं, हमें उसका अर्थ समझने की चेष्टा करनी चाहिए। हम शब्दों की विशेषताओं और उनके रखने के ढंग को जानें, कविता के प्रवाह को समझें, एक शब्द और दूसरे शब्द में क्या सम्बन्ध है तथा एक पद के बाद दूसरा पद कैसे रक्खा गया है इसे जानें। कविता में प्रयोग किये गये अलङ्कारों और कवि-कल्पना की विशेषताओं को ढूँढ़ें तो कविता जितनी अच्छी तरह से याद होगी उतनी अच्छी तरह से रटने से नहीं होगी।

रटने की उपयोगिता[1]—आधुनिक काल में रटकर पाठ याद करना व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक भी समझा जाता है। पाठ याद करने की पुरानी परिपाटी रटने की थी। पुराने समय में पुस्तकों की कमी थी, अतएव रटकर ही सब विद्या याद रखी जाती थी। बालक पहले-पहल किसी बात को रटकर याद कर लेता था, पीछे उसका अर्थ समझता था। पुस्तकों की वृद्धि के साथ-साथ रटने की उपयोगिता जाती रही। जो बालक रटकर कविता याद करता है वह कभी-कभी शब्दों में ऐसा हेर-फेर कर देता है जिससे कविता का अर्थ ही उल्टा हो जाता है। एक बालक ने रटकर रहीम का यह दोहा याद किया—

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
तोहि फूल को फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

इस दोहे को सुनाते समय उसने शब्दों की मात्रा में हेर-फेर कर दिया और उसे इस तरह सुनाया -

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
ताहि फूल को फूल हैं, तोकों हैं तिरशूल॥

बालक ने अपनी समझ में कोई विशेष गलती नहीं की, उसने पूरे दोहे को, तो याद ही कर लिया, यदि एक मात्रा की भूल हो गई तो नुकसान ही क्या? किसी विषय को रटकर याद करने में विचार से कोई काम नहीं लेना पड़ता, अतएव ऐसा याद किया विषय समय पर काम भी नहीं आता। कितने बालक इतिहास के पाठ के पाठ रट डालते हैं, पर जब प्रश्नों का उत्तर पूछा जाता है तो वे कुछ भी सार्थक उत्तर नहीं दे पाते। याद करने का सबसे योग्य साधन विषय की विशेषताओं को जानने की चेष्टा और उसके विषय में विचार करना है। सीखने का एक परम सिद्धान्त यह है कि जो जितना मस्तिष्क तथा दूसरे अवयवों से काम लेता है वह उतना ही अधिक सीखता है। जो व्यक्ति किसी कविता को याद करने के लिए उसकी विशेषताओं की खोज करता है वह अवश्य ही रटनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा अपने मस्तिष्क से अधिक काम लेता है।

1. Rote Learning.

रटकर पाठ याद करना दूषित प्रणाली अवश्य है, किन्तु इसका सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता है। पाठ्य-क्रम की कुछ बातें अवश्य ऐसी होती हैं, जिन्हें रटकर ही याद किया जा सकता है अथवा जिनका रटकर याद कर लेना लाभकारी होता है। उदाहरणार्थ, शब्दों के हिज्जे, अङ्कों के पहाड़े और शहरों के नाम। कविता को याद करने के लिए भी अर्थ समझने के साथ-साथ उसका रटना आवश्यक होता है।

मानसिक प्रयत्न का महत्त्व—जब हम किसी विषय को याद करें तो उसके अर्थ को ढूँढ़ने की चेष्टा करना उत्तम है। उसकी तुलना दूसरे किसी विषय से करने से बहुत ही लाभ होगा। जहाँ कोई अर्थ न मिले तो कुछ काल्पनिक अर्थ उसमें जोड़ देना चाहिए। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में जब लोगों को निरर्थक शब्द याद करने को दिये जाते थे तो जो व्यक्ति उन शब्दों को सार्थक बनाने में समर्थ होता था, अथवा जो किसी प्रकार की ध्वनि के अनुसार उन्हें याद करता था, वह ऐसा न करनेवालों की अपेक्षा अधिक सफल होता था। मान लीजिए, एक व्यक्ति को निम्नलिखित अंक याद करना है—७२३६१४६२५८। यदि वह इन अङ्कों को रटकर याद करे तो बड़े परिश्रम के बाद ही इस कार्य में सफलता पावेगा। फिर एक बार अङ्क याद होने पर भी वह कुछ काल के बाद भूल जायगा। निरर्थक बातों को हमारी स्मृति धारण नहीं करना चाहती।

अब मान लीजिए, वह इन्हीं अङ्कों को तीन-तीन के हिस्से में बाँटकर याद करता है तो वह ऊपर दिये अङ्कों की ७२३, ६१४, ६२५ और ८ के हिस्सों में विभाजित हो जाने पर शीघ्रता से याद कर सकता है। इतने पर भी एक बार याद होने पर वह व्यक्ति शीघ्र उन अङ्कों को भूल जायगा। अब मान लीजिए वही व्यक्ति अपनी बुद्धि से काम लेता है और इन अङ्कों में अर्थ खोजने की अथवा उन्हें सार्थक बनाने की चेष्टा करता है। वह पाता है कि ७२ का आधा ३६ है और १४६२ कोलम्बस के अमेरिका पहुँचने की तिथि है, अब रह गये ५ और ८। यहाँ भी हम देखते हैं कि १४६२ के २ में यदि ३ जोड़ दें तो ५ हो जाता है; और फिर तीन जोड़ें तो ८ हो जाता है। अब सारे अङ्कों को याद करने की अपेक्षा, पहले दो अंकों को याद करना, फिर उनके आधे कर देना, फिर कोलम्बस के अमेरिका पहुँचने की तिथि जोड़ देना और पीछे ३ दो बार जोड़ने से सारी संख्या याद रह सकती है। अब यही निरर्थक संख्या सार्थक हो जाने के कारण अनेक दिनों तक याद रह सकती है।

मान लीजिये, हम किसी दिये हुए विषय का अर्थ न लगा पावें तो भी रटने की अपेक्षा वह तब अधिक अच्छी तरह याद होगा जब हम उसका अर्थ खोजने की चेष्टा करते हैं। देखा गया है कि कितने ही बालकों को सरल पुस्तक की अपेक्षा कठिन पुस्तक का विषय अधिक देर तक याद रहता है। इसका मुख्य कारण है कि सरल पुस्तक में मानसिक परिश्रम ही नहीं करना पड़ता, बुद्धि उद्योग-शील नहीं होती। अतएव उस पुस्तक के विषय का स्मरण भी ठीक नहीं रहता। जहाँ मन को समझने की चेष्टा करनी पड़ती है वहीं फल भी अच्छा मिलता है।

किसी विषय का अर्थ सूझ जाने पर वह कैसे शीघ्र याद हो जाता है इसका एक सुन्दर उदाहरण मारगन और गिलीलैण्ड महाशयों ने अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक में दिया है। एक लड़का ९ का पहाड़ा भूल-भूल जाता था। वह उसे कई बार रटता था फिर भी कुछ गलती हो ही जाती थी। इस बालक को यह समझाया गया कि यदि ९ का किसी भी अंक से गुणा किया तो गुणनफल के जो अंक होंगे उनका पहला अंक गुणा करनेवाले अंक से १ कम होगा और दूसरा अंक ९ में से पहले अंक को घटा देने से आ जायगा। यह बात ९ के पहाड़े से इस तरह बता दी गई—

९×१=९	
९×२=१८	१+८=९
९×३=२७	२+७=९
९×४=३६	३+६=९
९×५=४५	४+५=९
९×६=५४	५+४=९
९×७=६३	६+३=९
९×८=७२	७+२=९
९×९=८१	८+१=९
९×१०=९०	९+०=९

कृत्रिम सुगमताएँ—साधारणतः किसी भी विषय का याद रहना याद करने के परिश्रम पर निर्भर रहता है। जिस विषय को जितनी देर तक और लगन के साथ याद किया जाता है वह उतनी देर तक याद रहता है, किन्तु उपयोगी विषयों के याद करने के कुछ सुगम उपाय भी सोचे गए हैं। इन्हें जानना स्मृति की शक्ति को संचित करने के लिए आवश्यक होता है। कभी-कभी कई शहरों के नाम स्मारण रखने के लिए, उनके नाम के पहले

अक्षरों को लेकर एक नया शब्द बना लिया जा सकता है। रङ्गों के नाम इस प्रकार याद किये जाते हैं।

धारणा[1]

धारणा शक्ति के आधार—जब एक विषय भलीभाँति स्मरण हो जाता है तो उसे धारणा-शक्ति जब तक आवश्यकता होती है, धारण किये रहती है। अब प्रश्न यह है कि यह धारणा-शक्ति किन बातों पर निर्भर रहती है। इस प्रश्न के उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है—संस्कारों की दृढ़ता। जो संस्कार जितने गहरे हैं वे उतनी देर तक मस्तिष्क में ठहरते हैं। संस्कारों की दृढ़ता निम्नलिखित बातों पर निर्भर है—

(१) मस्तिष्क की बनावट

(२) स्वास्थ्य

(३) रुचि

(४) चिन्तन

मस्तिष्क की बनावट—भिन्न-भिन्न मनुष्यों की धारणा-शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। धारणा-शक्ति के ये भेद जन्म से ही रहते हैं। किसी मनुष्य का मस्तिष्क इतना अच्छा होता है कि वह किसी बात को एक बार सुनकर भी कई दिनों तक याद रख सकता है और किसी का मस्तिष्क इतना निर्बल होता है कि उसमें कोई संस्कार अधिक काल तक स्थिर ही नहीं रहता। मनुष्य की विचार-शक्ति का आधार उसकी धारणा-शक्ति ही है, अतएव यदि किसी मनुष्य की धारणा-शक्ति बहुत दुर्बल हुई तो वह अवश्य मन्दबुद्धि होगा।

हम अपने मस्तिष्क की बनावट में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। यह हमारी पैतृक सम्पत्ति तथा वंशानुक्रम के अनुसार हमें प्राप्त होती है। जिन माता-पिताओं के मस्तिष्क अच्छे हैं, उनकी संतानों के भी मस्तिष्क अच्छे होते हैं।

मनुष्य अपने मस्तिष्क की बनावट में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। अतएव उसकी धारणा-शक्ति में परिवर्तन होना असम्भव है। किन्तु वह अपनी धारणा-शक्ति का सदुपयोग करके उसे साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक कीमती बना सकता है। कितने ही लोगों में धारणा-शक्ति अच्छी होती है पर उसके दुरुपयोग के कारण वे उससे जीवन-कार्यों में अधिक सहायता प्राप्त नहीं करते।

---

1. Retention.

स्वास्थ्य - धारणा-शक्ति मनुष्य के स्वास्थ्य पर निर्भर है। स्वस्थ अवस्था में धारणा-शक्ति जितनी प्रबल होती है उतनी अस्वस्थ अवस्था में नहीं रहती। किसी-किसी बीमारी से धारणा-शक्ति को भारी क्षति हो जाती है। मस्तिष्क में किसी प्रकार की खराबी होने से धारणा-शक्ति की हानि होती है।

रुचि[1] और चिन्तन[2]—किसी विषय का स्मृति में ठहरना रुचि और चिन्तन पर निर्भर है। रुचि और चिन्तन एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। जिस विषय पर हमारी रुचि होती है उसका चिन्तन हम बार-बार करते हैं तथा उसकी पुनरावृत्ति हमारे मन में बार-बार होती रहती है। इसी तरह जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसमें भी रुचि उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में किसी बात का मन में बैठ जाना अथवा स्थिर रहना उसके "मनन" पर निर्भर है और हम मनन उसी विषय पर करते हैं जो रुचिकर होता है, अथवा जिसमें हम अपना लाभ देखते हैं। चिन्तन मन की वह क्रिया है जिससे मनुष्य एक विषय के अनेक अर्थ तथा एक बात का दूसरे से क्या सम्बन्ध है, इसे जानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह एक बात का अनेक दूसरी बातों से सम्बन्ध जोड़ देता है। फिर वह बात हमारे मन में इस प्रकार घर कर लेती है कि पुनः मस्तिष्क के बाहर नहीं जाती। जिस बात का जितना अधिक चिन्तन किया जाता है वह उतनी ही अधिक देर तक हमारी स्मृति में रहती है।

संस्कारों का दृढ़ होना आवृत्ति पर भी निर्भर होता है। आवृत्ति से संस्कार गहरे हो जाते हैं और बार-बार सजीव होने के कारण समय पर स्मृति के रूप में काम में आते हैं। चिन्तन करने से पिछले संस्कार निर्बल रहते हैं। जब हम जानी हुई बातों का अतीत की बातों से सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करते हैं तो पुरानी बातें फिर मन में दुहराई जाती हैं। इसी प्रकार जब उन पुरानी बातों के सोचने का अवसर पड़ता है तो नई सीखी हुई बात भी स्मरण होती है और इस तरह उसके संस्कार भी दृढ़ हो जाते हैं।

धारणा-शक्ति की सीमा - कितने मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जिस बात के संस्कार एक बार मन में बैठ जाते हैं वे मस्तिष्क से फिर नहीं जाते। वे अचेत अवस्था में हमारे अव्यक्त मन में पड़े रहते हैं और आवश्यकता होने पर वे चेतन मन में आ जाते हैं। आधुनिक चित्त-विश्लेषण[3] विज्ञान से इस कथन की सत्यता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। चित्त-विश्लेषक इन गुप्त संस्कारों को सम्मोहन क्रिया से संजीवित करते हैं। देखा गया है कि कोई

---

1. Interest 2. Thinking. 3. Psycho-analysis.

व्यक्ति सम्मोहन की अवस्था में अपनी बाल्यावस्था में हुई घटनाओं को इस प्रकार याद कर लेते हैं जैसे वे अभी घटित हुई हैं। कितनी दुःखद स्मृतियाँ जिन्हें चेतना अपने समक्ष आने नहीं देती, इस प्रकार सम्मोहन द्वारा चेतन मन में लाई जाती हैं। चित्त-विश्लेषण उपचार की सफलता इन विस्मृत अनुभवों को चेतना के समक्ष लाने में है।

वास्तव में हमारे मन में अनेक ऐसे संस्कार वर्तमान हैं जिनकी उपस्थिति के विषय में हमें मन की साधारण अवस्था में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, पर वे असाधारण अवस्था में मानसपटल पर आ जाते हैं। ड्रुप्रियल महाशय ने अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक में एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति का वर्णन किया है जो पानी में डूबकर मरने से बचा लिया गया था। यह व्यक्ति दो मिनट तक अचेत रहा। जब वह चेतन अवस्था में आया तो उसने कहा कि मैंने अपने सारे जीवन की घटनाओं को अपनी अचेत अवस्था में घटित होते फिर देख लिया। उसे जान पड़ा मानों उन दो मिनटों में वर्षों बीत गये हों।

कभी-कभी हम अपनी स्वप्नावस्था में अपने बाल्यकाल की ऐसी घटनाओं को देखते हैं जिनके विषय में हमने वर्षों कभी नहीं सोचा था और यदि कोई व्यक्ति उनके विषय में हमसे पूछता तो हम कुछ भी स्मरण नहीं कर पाते। इस प्रकार के अनुभवों से अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक अनुभव हमारे मस्तिष्क पर अमिट संस्कार छोड़ जाता है। ऐसे संस्कारों का चेतन मन में न रहना यह प्रमाणित नहीं करता कि वे मन से मिट गये हैं।

इस सिद्धान्त के विरोधी अनेक मनोवैज्ञानिक हैं। वुडवर्थ, स्टाउट, मेकडूगल आदि महाशयों का कथन है कि हमारे जीवन की सभी बातों के संस्कार हमारे मन में इस समय स्थित नहीं हैं। जिस प्रकार काल दूसरी बातों को मिटा देता है उसी तरह वह मानसिक संस्कारों को भी मिटा देता है। भलीभाँति पड़े संस्कार भी कालान्तर में मिट जाते हैं। अतएव जब तक किसी बात को बार-बार न दुहराया जाय, उसकी स्मृति सम्भव नहीं। इस कथन की सत्यता प्रयोगों द्वारा प्रमाणित की गई है। इन प्रयोगों का उल्लेख हम आगे चलकर 'भूल के कारण' बताते समय करेंगे।

स्मरण[1] (पुनरावर्तन)

मन में स्थित पुराने अनुभव को फिर से चेतना में आने को स्मरण कहते हैं। किसी अनुभव की स्मृति अदृश्य मन में रहती है। यदि हमारी चेतना में वर्तमान अनुभव ही सदा उपस्थित रहें तो हम कुछ भी सांसारिक कार्य न

1. Recall.

कर सकेंगे। इन अनुभवों का स्मरण समय-समय पर किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि जिन अनुभवों के संस्कार हमारे मन में हैं वे चेतना में फिर कैसे आते हैं अर्थात् हमारे संस्कार फिर कैसे होते हैं?

विचारों के सम्बन्ध[1] :—पुराने अनुभवों का मानस-पटल पर आना उनके संस्कारों के उत्तेजित होने पर निर्भर रहता है। इस उत्तेजना का मुख्य कारण संस्कारों का आपस का सम्बन्ध है। यदि किन्हीं दो अनुभवों के संस्कारों में आपस में सम्बन्ध है तो वे एक दूसरे को स्मरण करावेंगे। मान लीजिए, हम राम और श्याम दो मित्रों को एक साथ कई दिनों तक देखते रहे। जब हमें राम अकेला मिलता है तो हमें श्याम की याद अपने आप आ जाती है। यदि किसी व्यक्ति ने हमारी बड़ी सेवा की है तो जब हम उस व्यक्ति को देखते हैं तो हमें उनकी सेवा का स्मरण हो जाता है।

मनोवैज्ञानिकों ने विचारों के आपस के तीन प्रकार के सम्बन्ध माने हैं। ये सम्बन्ध विचारों को मन में स्थिर करते हैं और इन्हीं के कारण वे समय पर स्मरण होते हैं। इनके सम्बन्धों के नाम हैं—सहचारिता, समानता और विरोध।

सहचारिता[2] :—जब हम दो किन्हीं वस्तुओं का ज्ञान एक साथ करते हैं, तो उनके अनुभवों में सहचारिता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जब एक वस्तु का ज्ञान हमें फिर से होता है तो दूसरी का ज्ञान अपने आप हो जाता है। ऊपर दिये उदाहरणों में यह बात स्पष्ट कर दी गई है। जब हमारी कोई वस्तु खो जाती है तो उसको ढूँढ़ते समय हम अपने दिन भर के सब अनुभवों को दुहराते हैं। कुल अनुभव एक के बाद एक मन में इसी तरह के संबंध के कारण उसी प्रकार आते हैं जिस प्रकार उनका संस्कार मन में पड़ा हो।

समानता[3] :—दो समधर्मी वस्तुएँ एक दूसरी का स्मरण कराती हैं। एक सज्जन दूसरे सज्जन को याद कराते हैं। खिला हुआ फूल प्रेमी को अपने प्रेमी का स्मरण कराता है, टिमटिमाता दीपक जीवन की वृद्धावस्था का स्मरण कराता है; एक कवि दूसरे कवि का, एक वैज्ञानिक अन्य वैज्ञानिकों का स्मरण कराता है। इस प्रकार के स्मरण का कारण यह नहीं है कि हमने समधर्मी वस्तुओं को पहले कभी एक साथ सोचा है, किन्तु वस्तुओं के समधर्म ही उन वस्तुओं के स्मरण कराने में सहायक होते हैं। जो व्यक्ति जितना बुद्धिमान तथा कल्पना में प्रवीण होता है, उसके मनमें उतनी शीघ्रता से अनेक समधर्मी वस्तुओं का विचार किसी वस्तु को देखने पर आ जाता है। समधर्मी

1. Association of ideas. 2. Contiguity. 3. Similarity.

की पहचान भी मनुष्य की मानसिक बनावट तथा उसके दूसरे भावों पर निर्भर रहती है। एक वैज्ञानिक चन्द्रमा और महिला के मुख में कोई समानता नहीं देखेगा, पर कवि की दृष्टि में उन दोनों वस्तुओं में इतनी समानता है कि एक को देखकर दूसरे का स्मरण आये बिना नहीं रहता। इस प्रकार की समानता की पहचान कवि के भावों पर निर्भर रहती है। अभ्यास के द्वारा समधर्मों को पहचानने की शक्ति बढ़ाई भी जा सकती है। कवि उपमा और रूपकों का प्रयोग करते-करते इस प्रकार के प्रयोगों में कुशल हो जाता है। इसी तरह वैज्ञानिक भी समधर्मी वस्तुओं को पहचानने और उनको अपने विचारों में एकत्र करने में प्रवीण हो जाता है।

विरोध[1]—जिस प्रकार समधर्मी वस्तु एक दूसरी का स्मरण कराती है इसी तरह विरोधी धर्मवाली वस्तुएँ भी एक दूसरे का स्मरण कराती हैं। यदि हम किसी विशेष बुरे आदमी से मिलें तो वह हमें भले आदमी का भी स्मरण करा देता है। अपने दुर्दिन के समय अपने अच्छे दिन भी याद आते हैं। औरङ्गजेब के अत्याचार अकबर की राज्यकुशलनीति का स्मरण कराते हैं। मानसिंह के नाम से राणा प्रताप का स्मरण हो जाता है। देशभक्त देशद्रोहियों की याद करा देता है।

इस प्रकार का स्मरण क्यों कर होता है? किसी वस्तु के देखने पर समधर्मी अथवा विरोधी धर्मवाली वस्तुओं के मन में आने का क्या कारण है? कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि विचारों को गूँथनेवाला मौलिक सम्बन्ध एक ही है; वह है, उनकी पुराने अनुभव में सहचारिता। अर्थात् जिन दो बातों का चिंतन हमने एक साथ नहीं किया है वे कदापि एक दूसरी का स्मरण नहीं करातीं। यदि यह कथन सत्य हो तो समधर्मी अथवा विरुद्धधर्मी वस्तुओं का एक साथ स्मरण होना असम्भव होगा?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार दिया है। जब हमें किसी वस्तु का पहले-पहल ज्ञान होता है, तो उस नवीन वस्तु का सम्बन्ध उसी समय अनेक समधर्मी व विरुद्धधर्मी वस्तुओं के ज्ञान संस्कार से हो जाता है। ऐसा हुए बिना उस वस्तु का पूर्णतः ज्ञान ही हमें नहीं होता। किसी भी बात के समझने की प्रक्रिया ही यही है, हम उस बात का विश्लेषण करते हैं और उसके अनेक धर्मों को पहचानने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टा में हम उस वस्तु को अनेक समधर्मी वस्तुओं के ज्ञान से सम्बन्धित कर देते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक का कथन है कि 'विरोध' कोई स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं है।

---

[1]. Contrast.

किन्हीं दो वस्तुओं में आपस के विरोध का ज्ञान उनकी समानता के ज्ञान के कारण ही होता है। कोयल और कौवे में विरोध का ज्ञान इसलिए ही होता है कि वे अनेक बातों में एक दूसरे के समान हैं; कोयल कौवे का स्मरण कराती है, हाथी का नहीं। कोयल का ज्ञान प्राप्त करते समय पक्षियों के ज्ञान की आवश्यकता होती है। कौआ भी रंग में उसी प्रकार का पक्षी है, पर उसकी बोली कर्कश है; अतएव दोनों पक्षी एक दूसरे का स्मरण कराते हैं। कोयल का ज्ञान करते समय पशुवर्ग के प्राणियों पर ध्यान जाने की आवश्यकता नहीं होती। अतएव कोयल का विचार करते समय हाथी का विचार मन में नहीं आता।

पहचान[1]

चेतना में आई हुई बात के विषय में यह जानना कि इस बात का अनुभव हमें पहले कभी हुआ है पहचान कहलाता है। हम किसी व्यक्ति को देखते हैं और सोचने लगते हैं कि हमने इसे पहले कभी देखा है; यह परिचित व्यक्ति है। इस प्रकार की भावना को पहचान कहते हैं।

पूर्ण पहचान के लिए यह भी आवश्यक है कि चेतना में आये अनुभव का पुराने अनुभवों में स्थान जाना जाय। कितने मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस प्रकार के ज्ञान के बिना वास्तविक पहचान नहीं कही जा सकती। पर इस प्रकार का विवाद निरर्थक है। हमारे जीवन के कितने ही कार्य अपूर्ण पहचान से भी चलते हैं; मनुष्य के ज्ञान की बृद्धि के लिए अपूर्ण पहचान भी उतनी ही आवश्यक है जितनी पूर्ण। कहीं-कहीं चेतना में आये पुराने अनुभवों का दूसरे स्मृति-स्थित अनुभवों से सम्बन्ध जानना निरर्थक होता है।

किसी मनुष्य की पहिचानने की शक्ति उसकी स्मरण-शक्ति से कहीं अधिक होती है। हम कितने ही लोगों को देखकर पहचान सकते हैं पर यदि उनके विषय में हम चिंतन करने लग जायँ तो उनका स्मरण नहीं कर पायेंगे। हम अपने कितने ही पुराने परिचितों का नाम भूल जाते हैं, पर जब वे कहीं हमें मिलते हैं तो हम उन्हें पहचान लेते हैं। यदि इन्हीं मित्रों के नाम दूसरों के नामों के साथ किसी फेहरिस्त में निकलें तो हम उनके नामों को अवश्य पहचान लेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की बोध-शब्दावली[2] प्रयोग-शब्दावली[3] से कहीं अधिक होती है, अर्थात् जितने शब्दों को हम समझ सकते हैं वे उनसे, जिनका हम प्रयोग करते हैं बहुत ही थोड़े होते हैं।

---

1. Recognition. 2. Recognition Vocabulary. 3. Application Vocabulary.

मनुष्यों की पहचानने और स्मरण शक्ति के भेद जानने के लिए निम्न-लिखित प्रयोग किया जा सकता है :—

बीस कार्ड ऐसे लो जिनमें संसार के कुछ प्रसिद्ध और कुछ अप्रसिद्ध शहरों के नाम लिखे हों। इन्हें एक मिनट तक किसी व्यक्ति को देखने को दे दो। पाँच मिनट के बाद उस व्यक्ति से पूछो कि किन-किन शहरों के नाम उन कार्डों पर लिखे थे। सही और गलत उत्तरों को लिख लो। अब इन कार्डों को दूसरे ऐसे ही सौ कार्डों में मिला दो, फिर उस व्यक्ति से कहो कि अपने पहले के देखे कार्डों को पहचान कर उठा लो।

इस प्रकार के प्रयोग से देखा गया है कि पिछले कार्य में भूलों की संख्या बहुत कम होती है और पहचान किये जानेवाले नामों की संख्या बिना देखे कहनेवाले नामों से तिगुनी-चौगुनी होती है।

याद करने के उपयोग

जिन लोगों को अध्ययन और अध्यापन का कार्य करना पड़ता है उन्हें कई विषय ठीक-ठीक याद करने पड़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि किसी दी हुई कविता अथवा किसी गद्य के खंड के अध्ययन करने का सबसे सुगम उपाय क्या है? इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। वे किस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसका यहाँ उद्धरण देना आवश्यक है।

पूरी और विभाग रीति[1]—कविता या गद्यपाठ याद करने की दो प्रधान रीतियाँ मानी गई हैं। एक पूरी कविता को कई बार दुहराकर याद करना और दूसरे उसको कई भागों में विभाजित करके याद करना। मान लो, एक कविता १०० पंक्तियों की है तो १० ही पंक्तियाँ एक बार पढ़ी जा सकती हैं, अथवा बीस-बीस पंक्तियों को याद करके सारी कविता याद की जा सकती है। साधारण विद्यार्थी कविता को कई भागों में बाँटकर याद करते हैं। ऊपरी दृष्टि से ऐसा भी जान पड़ता है कि इसी प्रकार का तरीका अच्छा है। इस तरीके से जब विद्यार्थी कुछ थोड़ा काम करने में सफल होता है तो उसका उत्साह चढ़ता जाता है। इस तरह उसको पूरा काम शीघ्रता से कर सकने की आशा रहती है। पर प्रयोग द्वारा देखा गया है कि भागों की रीति पूरी कविता याद करने की रीति से अच्छी नहीं है। पाइन और सिन्डर महाशयों के प्रयोगों से पता चलता है कि २४० पंक्तियों तक की कविता पूरी रीति से ही शीघ्रता से याद होती है। पूरी रीति से १।४ समय की बचत होती है।

---

1. **The Whole and the Part Method.**

इस प्रकार की बचत का कारण वाञ्छनीय संबन्धों की स्थापना और अर्थ की सहायता है। जब कविता कई भागों में बाँटकर याद की जाती है तो एक छन्द का लगातार दूसरे छन्द से संबन्ध स्थापित नहीं होने पाता जो कि उसके स्मरण करने के समय अत्यन्त आवश्यक होता है। पहले ही छन्द के अन्तिम पद का सम्बन्ध उसी छन्द के प्रथम पद से हो जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध पूरी कविता के स्मरण में बाधक होता है।

लगातार अध्ययन और समय विभाग[1]—समय विभाजित करके कविता का याद करना लगातार उसके याद करने से अच्छा होता है। मान लीजिए, हमें किसी कविता को याद करना है, तो लगातार उस कविता को बीस बार पढ़ने की अपेक्षा उसे ४ बार प्रतिदिन पाँच दिन तक पढ़ने से वह अधिक अच्छी तरह से याद होगी। यदि दो बार प्रतिदिन १० दिन तक पढ़ें तो और भी अच्छा परिणाम होगा। जोस्ट महाशय ने इस प्रकार का प्रयोग निरर्थक शब्दों के याद करने का किया था। उनका फल निम्नलिखित है—

लगातार और समय विभाग द्वारा याद करना

२४ बार पढ़ना बाँटा जाना।	अ के नम्बर	ब के नम्बर
३ दिन तक प्रतिदिन ८ बार पढ़ना।	१८	७
४ ,, ,, ६ ,,	३९	३१
२ ,, ,, १२ ,,	५३	५५

इस प्रयोग में हम देखते हैं कि अधिक समय-विभाग की रीति से कार्य अच्छा हुआ।

समय-विभाग की रीति से अधिक याद होने का कारण यह है कि इस रीति से काम में थकान नहीं आती, लगातार एक ही चीज को बार-बार दुहराने से मन ऊब जाता है, काम में रुचि नहीं रहती और थकावट शीघ्रता से आ जाती है। इस तरह मनुष्य मशीन के समान काम करता रहता है, वह अर्थ की सहायता नहीं लेता। दूसरे जब हम किसी विषय का पाठ थोड़ी देर तक करने के बाद उसे छोड़ देते हैं तो अवकाश के समय उस विषय के संस्कार मन में दृढ़ होते हैं। यह एक प्रकार की अदृश्य मानसिक क्रिया है जिसके कारण स्मरण में भारी सहायता मिलती है।

1. Unspaced and Spaced Learning.

मानसिक परीक्षा की रीति[1]—किसी पाठ को लगातार याद करने की अपेक्षा उसके विषय में अपनी मानसिक परीक्षा लेते रहने से वह अधिक शीघ्रता से याद हो जाता है। मान लीजिए, हमें एक कविता याद करनी है तो लगातार उसे १० या १५ बार न पढ़कर उसे तीन-चार बार पढ़कर मन में बिना देखे दुहराने से वह अधिक शीघ्रता से याद हो जायेगी। कितने विद्यार्थी अपनी पुस्तकों का पारायण कई बार कर जाते हैं, पर परीक्षा के समय वे भलीभाँति उत्तीर्ण नहीं होते। यदि इन विद्यार्थियों ने अपनी मानसिक परीक्षा द्वारा पाठ याद किया होता तो वे अच्छी तरह उत्तीर्ण होते।

इस प्रकार की सफलता का एक कारण आत्मविश्वास की वृद्धि है। जो विद्यार्थी पढ़े हुए विषय में आत्म-परीक्षा लिया करता है, उसे अपने आप पर भरोसा हो जाता है; अपने आप में भरोसा रखना जिस प्रकार संसार के सभी कामों में सफलता लाने में हेतु होता है, उसी तरह वह स्मरण में भी हेतु होता है। दूसरा कारण इस प्रकार की सफलता का यह है कि जब हम अपनी मानसिक परीक्षा लेते हैं तो अपने आपको उसी प्रकार के कार्य में अभ्यस्त कर लेते हैं जिस प्रकार का कार्य हमें पीछे करना है। अर्थात् याद करने के पश्चात् हमें कविता को किसी समय स्मरण ही तो करना होगा। यदि लगातार कविता को पढ़ा ही जाय और उसको अपने आप कहने का हम अभ्यास न करें तो समय पड़ने पर हम कैसे स्मरण करने में समर्थ होंगे?

विस्मृति[2]

विस्मृति के कारण—यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है कि हम किसी बात को भूलते क्यों हैं। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो कारण स्मृति में हेतु होते हैं उनके विपरीत कारण विस्मृति में हेतु होते हैं। किसी अतीत अनुभव का स्मरण होना उसके संस्कारों की दृढ़ता और उनके आपस के सम्बन्धों की स्थिरता पर निर्भर है। जिस विषय को बार-बार नहीं दुहराया जाता वह विस्मृत हो जाता है। किसी अनुभव के संस्कार काल की गति द्वारा नष्ट हो जाते हैं। जिस बात को हम आज पूरी पूरी तरह याद कर सकते हैं उसी बात को एक साल बाद याद नहीं कर पावेंगे। यदि ऐसा न हो तो हम जीवन की अनेक निरर्थक बातों को सदा ही स्मरण रखें। हम उन्हीं बातों को स्मरण रखते हैं, जिनमें हमारी रुचि है और जिन्हें हम समय-समय पर दुहराया करते हैं। इस प्रकार एक बात अनेक बातों से गुँथ जाती है। और फिर

---

1. Recitation method. 2 Forgetting.

उससे सम्बन्धित बातें उसे याद करने में सहायक होती हैं। अतएव विस्मृति के कारण को कई तरह से कहा जा सकता है—रुचि की कमी, संस्कारों की अदृढ़ता, उनकी आपस के सम्बन्धों की कमी, पाठ्य-विषय का दुहराया न जाना। पर ये सब बातें एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। अतएव एक पर विचार करने से दूसरों का बोध अपने आप हो जाता है।

भूल सम्बन्धी प्रयोग—जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इबिंघास महाशय ने विस्मृति के विषय में कुछ प्रयोग किये हैं। उनके निष्कर्ष उल्लेखनीय हैं।

इबिंघास महाशय के प्रयोगों का फल दर्शाता है कि भूलना पहले-पहल तेजी से होता है फिर धीरे-धीरे होने लगता है। कुछ समय के बाद फिर अधिक भूलना नहीं होता। इस फल को एक ग्राफ के द्वारा दिखाया जा सकता है।

स्मरण और विस्मरण को तीन रीतियों से नापा जा सकता है। पहली रीति याद करने और बचत की रीति है, दूसरी स्मरणों की और तीसरी पहचान की रीति।

याद करने और बचत की रीति में प्रयोग-पात्र को कुछ निरर्थक शब्द भली-भाँति याद करने को दिये जाते हैं। कुछ काल के बाद उससे यदि पूछा जाय कि वे उसे कहाँ तक याद हैं तो वह उनको बिल्कुल ही स्मरण न कर पायेगा। पर इसी पात्र को फिर से उन्हीं शब्दों को याद करने दिया जाय तो वह पहली बार की अपेक्षा कम समय में उन्हें याद कर डालेगा। इस प्रकार के प्रयोगों में देखा गया कि कितना अधिक समय पहली बार और दूसरी बार के याद करने में लगता है। स्मरण की रीति में कोई पाठ याद करने को दे दिया जाता है और भिन्न-भिन्न समय के अन्तर पर पात्र को उसे अपने आप बिना किसी सहायता के सुनाने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार के प्रयोगों में भी देखा गया है कि समय के अनुसार विस्मृति कम हो जाती है।

तीसरी रीति पहचान की है। इस रीति में पुराने ज्ञात शब्दों को नये शब्दों में मिला दिया जाता है और पहचानने के लिए कहा जाता है। मान लो किसी व्यक्ति ने २० शब्द याद किये। उन्हें भिन्न-भिन्न समय का अन्तर डालकर दूसरे ५० शब्दों में मिला दिया जाय और फिर जाने हुए शब्द पहचानने को कहा जाय, तो यह पहचान की रीति होगी।

असाधारण भूल[1]

असाधारण भूल के कारण—कुछ भूलें असाधारण होती हैं। इनका कारण संस्कारों की निर्बलता नहीं होती और न रुचि की कमी ही होती है

1. Abnormal Forgetting.

वरन् स्मरण की प्रक्रिया में रुकावट है। इस प्रकार की रुकावटों में तीन का उल्लेख करना आवश्यक है—

(१) संवेग[1] की उत्तेजना।

(२) संशय[2] की उत्पत्ति।

(३) अदृश्य मन में किसी भावना-ग्रन्थि[3] की उपस्थिति।

संवेग की उत्तेजना—किसी बात को स्मरण करते समय यदि भय अथवा और किसी दूसरे प्रकार का मनोविकार जाग उठे तो हम स्मरण करनेवाली बात को भूल जायेंगे। इस तरह कितने ही विद्यार्थी परीक्षा के समय परीक्षा-भवन में प्रश्नों का ठीक उत्तर भूल जाते हैं, किन्तु परीक्षा-भवन के बाहर आने पर उन्हें ठीक उत्तर याद आ जाते हैं। इसी तरह नवसिखुआ वक्ता जब किसी मंच पर वक्तृता देने जाता है तो कभी-कभी याद की हुई बातें भूल जाता है। एक बात का दूसरी से सम्बन्ध और आपस का क्रम भूल जाना तो साधारण-सी बात है।

संशय का आना—संशय का आना जिस प्रकार मनुष्य को और कामों में असफल कर देता है, स्मरण के कार्य में भी असफल कर देता है। संशय एक प्रकार का मानसिक विक्षेप है जिसके कारण अनेक अवाञ्छनीय मानसिक संस्कार उत्तेजित हो उठते हैं। इन संस्कारों के उत्तेजित हो जाने से स्मरण भली-भाँति नहीं हो पाता। जब कोई बालक अपना पाठ सुना रहा हो तो उन्हें अपने कथन पर संदेह न डालने देना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रबल हो जाने से मानसिक शक्ति की भारी क्षति होती है। इस सम्बन्ध में आत्मनिर्देश की महत्ता का स्मरण कराना आवश्यक है। जो व्यक्ति एक बार भी किसी पाठ को पढ़कर अपने मन में कहता है कि वह उसे भूलेगा नहीं तो सम्भव यह है कि वह उसे नहीं भूलेगा और जो सदा अपनी शक्ति पर संदेह करता रहता है उसका सबक को भूल जाना स्वाभाविक है। कितने मनुष्य आत्म-विश्वास की कमी के कारण अपनी बहुत-सी मानसिक शक्ति का व्यर्थ व्यय करते हैं। यदि किसी बात का चिन्तन करते समय हमें संदेह आ जाय तो हमें उस समय चिन्तन करना छोड़ देना चाहिए, पीछे फिर चिन्तन करने से वही बात ठीक याद आ जाती है।

मानसिक ग्रन्थि—जब किसी बात के विषय में हमारे अदृश्य मन में कोई गाँठ बन जाती है तो वह हमारी स्मरण शक्ति में अनेक प्रकार से बाधा डालती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति ने हमें बचपन में दुख दिया है। यह

---

1. Emotion 2. Doubt. 3. Complex.

हमारी मानसिक वेदना हमारे अदृश्य मन में स्थित है। इस वेदना के कारण हम न केवल इस व्यक्ति का स्मरण ही कर पाते वरन् उससे सम्बन्धित दूसरी बातों का भी स्मरण नहीं कर सकते। हमारी चेतना इस प्रकार की स्मृति को दबाती है। अपनी लज्जा व ग्लानि की सभी घटनाओं को हम भूल जाते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उन घटनाओं के संस्कार प्रबल नहीं हैं, वरन् ऐसी घटनाओं के भूल जानें में हमारी चेतना प्रयत्नशील होती है। इस प्रकार की भूल प्रत्येक दिन का अनुभव है। हम अपने स्वप्नों में पशुवत् व्यवहार करते हैं; पर ज्योंही जागते हैं अपने स्वप्न के अनुभव को तुरन्त भूल जाते हैं। यदि वे अनुभव याद रहें तो हमारा सारा दिन ग्लानियुक्त हो जाय। यदि हमने कोई पाप किया है और हमारी आत्मा उसके लिए हमें कोसती है तो हम ऐसी घटना को भूल जाते हैं। यदि कोई उसके विषय में याद दिलाने का यत्न भी करे तो हम उसे याद नहीं कर पाते। मनोविश्लेषण-विज्ञान से इस प्रकार की अनेक मानसिक क्रियाओं का पता चला है। ये घटनाएँ सम्मोहन की अवस्था में याद आ जाती हैं।

विस्मरण के उपाय—कभी-कभी हम किसी बात को मन से निकाल देना चाहते हैं पर वह निकलती नहीं। उस बात के स्मरण से हमें बहुत कष्ट होता है। पर हमारे भुलाने के प्रयत्न होते हुए भी वह मन में बनी रहती है। ऐसी अवस्था में हमें भूलने के लिए क्या उपाय करना चाहिए। कितने ही लोगों को अपने कुछ पुराने अनुभव विस्मृत न कर सकने के कारण नींद न आने (इनसोमनियाँ) की बीमारी हो जाती है। इनसोमनियाँ की बीमारी से ग्रस्त पुरुष यह चाहता है कि वह सब कुछ भूल जाय पर वह नहीं भूलता। पीछे उसकी यह धारणा, कि उसे नींद नहीं आती, उसे सोने नहीं देती। वह इस विचार को भी मन से अलग नहीं कर सकता कि उसे नींद नहीं आती है। कितने लोग सोने के समय आहट न होने के अनेक प्रबन्ध करते हैं जिससे उनकी नींद में बाधा न पड़े। ऐसे लोगों का यह विचार कि उनकी नींद जल्दी से भंग हो जाती है, उन्हें सोने नहीं देता। वे सोते समय किसी आहट के बारे में ही सोचते रहते हैं। इस प्रकार कुछ न कुछ शब्द उनको त्रास दिया करते हैं।

ऐसी मनोवृत्ति को मिटाने का एक उपाय है कि भुलाने का प्रयत्न ही न किया जाय। जो अवाञ्छनीय बात मन में बार-बार आती है उसे आने दिया जाय, उसकी स्मृति को दबाने की चेष्टा न की जाय तो वह हमारे मन को अपने आप छोड़ जायगी। जिन लोगों को इनसोमनियाँ की बीमारी है उन्हें किसी प्रकार इस विचार से मुक्त किया जाता है कि उन्हें नींद न आने की बीमारी

है। उन्हें सोते समय किसी दूसरे विचार पर लगाया जाता है। जब उनमें इस धारणा को स्थिर किया जाता है कि उनकी बीमारी छूट रही है तब बीमारी छूट जाती है। जिन्हें नींद में बाधा पड़ने का भय हो उन्हें जान-बूझकर जहाँ खूब आवाज हो रही हो वहीं सोना चाहिए। नींद तो मनुष्य हर जगह ले सकता है। गाड़ी के ड्राइवर और गार्ड रेल की गड़गड़ाहट की आवाज होते हुए भी सो लेते हैं। नैपोलियन तोपों की आवाजों में घोड़ों पर सो लेता था। यदि हम इस विचार को अपने मन से हटा दें कि हमें आवाज की जगह नींद नहीं आती तो जहाँ चाहें वहाँ नींद आ जायेगी। नींद भंग करनेवाली वस्तु आवाज नहीं है, वरन् हमारा विचार ही है। यह विचार शांत से शांत स्थान में मनुष्य को वैसा ही बेचैन बना सकता है, जैसा कि कोलाहल होनेवाले स्थान में। जिस विचार से हम डरते हैं वही हमें तंग करता है। यदि किसी विचार से हम भय खाना छोड़ दें तो वह विचार अपने आप मन से दूर हो जायगा।

प्रश्न

१—स्मृति क्या है? मनुष्य के जीवन में उसकी उपयोगिता दर्शाइए।

२—अच्छी स्मृति के लक्षण क्या हैं? भूलना किस अर्थ में अच्छी स्मृति का लक्षण माना जाता है? उदाहरण देकर समझाइये कि अच्छी स्मृति के लिए कुछ बातों का भूल जाना उतना ही आवश्यक है जितना कि किन्हीं बातों का याद रखना।

३—स्मृति के अंग कौन-कौन से हैं? पुनरावर्तन की क्रिया को समझाइए।

४—रटकर पाठ याद करने की उपयोगिता पर आप के विचार क्या हैं? कौन-सी स्थिति में रटना आवश्यक और अनिवार्य होता है?

५—किसी विषय को ठीक से याद करने के लिए हमें क्या करना आवश्यक है? किसी बड़ी संख्या को हम कैसे याद रख सकते हैं? उदाहरण देकर समझाइये।

६—कोई व्यक्ति बाजार जाते समय किसी सामान के खरीदने के लिए किसी रूमाल में गाँठ बाँध लेता है। यह याद रखने के लिए कहाँ तक योग्य उपाय है?

७—याद की हुई बात का मन में स्थिर रहना किन-किन बातों पर निर्भर है? रुचि और चिन्तन किस तरह संस्कारों को दृढ़ करने में काम करते हैं?

८—स्मरण का स्वरूप समझाइए। किसी बात को स्मरण करने में विचारों का संबंध किस प्रकार काम करता है? उदाहरण देकर समझाइये।

९—विचारों के विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध एक ही प्रकार के संबंध के अनेक रूप हैं, इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

१०—उदाहरण देकर समझाइए कि हम समानता और विरोध के नियम को किस प्रकार पाठ याद करने में काम में ला सकते हैं।

११—स्मरण क्षेत्र की अपेक्षा पहचान का क्षेत्र कहीं विस्तृत होता है—इस कथन की सत्यता को उदाहरण देकर दर्शाइए।

१२—किसी कविता को याद करने की कौन-कौन सी रीतियाँ हैं? इनमें से कौन सी रीति सबसे अधिक उपयोगी है? उदाहरण देकर समझाइये।

१३—मानसिक परीक्षा की रीति से याद करने से पाठ क्यों देर तक याद रहता है? दूसरे प्रकार की रीति कब लाभकारी होती है?

१४—विस्मृति के कारण क्या हैं? हम इनको कैसे हटा सकते हैं?

१५—असाधारण भूल क्या है? असाधारण भूल के कारणों को भली-भाँति समझाइए।

१६—यदि हम किसी बात को भूलना चाहते हैं तो हमें क्या उपाय काम में लाना चाहिए?

———

तेरहवाँ प्रकरण

कल्पना[1]

कल्पना का स्वरूप

कल्पनाशक्ति मनुष्य के प्रत्येक अनुभव में काम करती है। कल्पना शब्द का एक विस्तीर्ण अर्थ है और दूसरा साधारण व्यावहारिक अर्थ। उसके विस्तीर्ण अर्थ के अनुसार कल्पना हमारे प्रत्येक जाग्रत अवस्था के अनुभव में कार्य करती है। कल्पना के बिना किसी प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सम्भव नहीं। इस विस्तीर्ण अर्थ के अनुसार पदार्थ की अनुपस्थिति में उसके विषय में किसी प्रकार का विचार आना कल्पना माना जाता है, अर्थात् जिस ज्ञान का आधार इन्द्रिय-संवेदना न हो वह कल्पना ही है। इस प्रकार कल्पना के अन्तर्गत स्मृति का भी समावेश हो जाता है। प्रोफेसर ड्रीभर के अनुसार कल्पना का यही वास्तविक अर्थ है। इस प्रकार की कल्पना प्रत्येक क्षण हमारे साथ रहती है। जो कुछ हमने बचपन से लेकर आज तक कभी सोचा हो अथवा अनुभव किया हो वह हमारे वर्तमान अनुभव को सार्थक बनाने में सहायता देती है। यह पुराना अनुभव कल्पना रूप में ही चेतना के समक्ष आता है।

कल्पना का उपर्युक्त अर्थ व्यावहारिक अर्थ नहीं। मनोवैज्ञानिक तथा जनसाधारण कल्पना का प्रयोग एक विशेष तथा संकुचित अर्थ में करते हैं। इस अर्थ के अनुसार कल्पना मन की उस रचनात्मक क्रिया का नाम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने पुराने अनुभवों के आधार पर नई विचार-सृष्टि का निर्माण करता है। कल्पना की क्रिया एक स्वतन्त्र मानसिक क्रिया है। यह क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति के समान बाह्य पदार्थ के अनुभव से बँधी नहीं रहती। हमारे कल्पित पदार्थ का भौतिक जगत् में रहना आवश्यक नहीं। कल्पना सदा अनुभव में स्वतन्त्र नये पदार्थ का निर्माण करती है।

कल्पना और स्मृति—कल्पना तथा स्मृति का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों ही का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त की गई अनुभूति को जैसा का तैसा चेतना के समक्ष लाती है। इसके विपरीत कल्पना उस अनुभूति के आधार पर नई सृष्टि का निर्माण करती है। हमारी कल्पना किसी भी संपूर्ण नये जगत् का निर्माण नहीं करती। हमारा काल्पनिक पदार्थ चाहे कितना

1. Imagination

ही विचित्र तथा नया क्यों न हो, प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए पदार्थ के समान ही रहता है। हमारे मन में कोई ऐसी बात कदापि नहीं आती जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा न हुआ हो। जन्म से अन्धे व्यक्ति को रंग की कल्पना करना असम्भव है। इसी प्रकार जन्म से बहरा व्यक्ति शब्द की कल्पना नहीं कर सकता। इसी तरह एक सामान्य व्यक्ति के लिए ऐसे किसी रंग की कल्पना करना असम्भव है जिसके समान रंग उसने कभी न देखा हो। जिन पदार्थों की सुगन्ध तथा दूसरे प्रकार के गुणों का ज्ञान नहीं है उन पदार्थों की कल्पना करना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। निरामिष भोजन करनेवाले व्यक्ति को मांस के स्वाद की कल्पना नहीं होती। वह स्वप्न में भी मांस से बने पदार्थों का आस्वादन नहीं पाता। इसी प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना का आधार सदा पुराना अनुभव रहता है। किन्तु तिस पर भी कल्पना स्मृति के समान पुराने अनुभव पर निर्भर नहीं रहती। काल्पनिक पदार्थ एक विशेष अर्थ में नया पदार्थ अवश्य है। जब हम किसी प्रकार की कल्पना करते हैं तब हम अज्ञात रूप से उस पदार्थ के निर्माण के लिए पुराने अनुभव की सहायता भले ही लें, किन्तु हमारा कल्पित पदार्थ पुराने अनुभव का दुहराना नहीं होता। यदि किसी कल्पना के पदार्थ के विषय में हमें यह ज्ञात हो जाय कि इस प्रकार के पदार्थ का अनुभव हमें पहले हुआ है तब हमारी कल्पना नहीं रहती, बल्कि स्मृति हो जाती है।

कल्पना और स्मृति में यह एक भेद और है कि जहाँ स्मृति चेतना को अतीत काल की ओर ले जाती है, कल्पना उसे भविष्य की ओर ले जाती है। कल्पना का लक्ष्य या तो मनोराज्य का निर्माण करना मात्र होता है अथवा उसका लक्ष्य भविष्य में ऐसी वस्तुओं तथा परिस्थितियों का निर्माण करना होता है जो कि हमारे सुख के साधक हों। कलामयी कल्पना और व्यावहारिक कल्पना, दोनों अतीत काल से स्वतन्त्र रहती हैं। एक में मन की रचनात्मक क्रिया स्वयं लक्ष्य बन जाती है और दूसरी में यह रचनात्मक क्रिया भावी सुख का साधन बनती है।

निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना में पुराना अनुभव किसी प्रकार कार्य करता ही है। हमारे गणेश देवता की पौराणिक कल्पना को देखिए। जिस प्रकार गणेश जी की कल्पना है, ऐसा पदार्थ किसी भी व्यक्ति के अनुभव का पदार्थ नहीं हो सकता। मनुष्य का शरीर, हाथी का सिर और चूहे की सवारी इन तीनों बातों का संयोग कहीं भी नहीं

देखा जाता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य ने लम्बे पेटवाले मनुष्य को तथा हाथी के सिर को और चूहे को विभिन्न स्थानों पर देखा है। यह उसके अनुभव का विषय है। कल्पना द्वारा विभिन्न स्थान पर किये गये अनुभव को एकत्र करके पदार्थ बनाया गया। अतएव यह पदार्थ एक दृष्टि में अनुभव से स्वतन्त्र नया पदार्थ है और दूसरी दृष्टि से पुराने अनुभव पर आधारित है।

कल्पना और प्रत्यक्ष पदार्थ में भेद—संसार के साधारण व्यक्तियों के लिए कल्पना और दृष्टिगोचर पदार्थ में कोई भ्रम का कारण नहीं दिखाई देता। वे दोनों को एक दूसरे से इतना विषम देखते हैं कि काल्पनिक पदार्थ कभी प्रत्यक्ष पदार्थ के समान नहीं समझा जा सकता। किन्तु दार्शनिक लोगों को यह कठिनाई पड़ती है कि काल्पनिक पदार्थ से प्रत्यक्ष पदार्थ को किस प्रकार भिन्न समझा जाय। यहाँ कुछ इस प्रकार के भेद दर्शाये जाते हैं जो काल्पनिक पदार्थ और प्रत्यक्ष पदार्थ में अवश्य पाये जाते हैं।

(१) प्रत्यक्ष पदार्थ का अनुभव अधिक सजीव रहता है। यदि हम किसी व्यक्ति के चेहरे की कल्पना को और उसी चेहरे को प्रत्यक्ष देखें तो पायेंगे कि कल्पित चेहरा उतना सजीव नहीं जितना प्रत्यक्ष ज्ञान का।

(२) कल्पना का चित्र अधूरा रहता है। जितनी बात हम प्रत्यक्ष पदार्थ के अनुभव के विषय में जान लेते हैं, उतनी कल्पना में आये हुए पदार्थ के विषय में नहीं जानते।

(३) प्रत्यक्ष पदार्थ स्थिर रहता है। काल्पनिक पदार्थ चंचल रहता है।

(४) कल्पना की वस्तु हमारे शरीर की क्रियाओं से स्वतंत्र रहती हैं किन्तु यह प्रत्यक्ष अनुभव के विषय में नहीं कहा जा सकता। हम आँख खोलकर और आँख बन्द करके एक सुन्दर कुंज की कल्पना कर लेते हैं किन्तु प्रत्यक्ष का अनुभव हमारे देखने पर निर्भर रहता है। यदि हम जिस कुंज को देख रहे हैं, उससे अपनी आँख अलग कर लें अथवा आँख मूँद लें तो वह गायब हो जायगा।

(५) प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना का दूसरे ज्ञानों के साथ संबन्ध विभिन्न प्रकार का होता है। कल्पना का देश तथा काल प्रत्यक्ष ज्ञान के देश तथा काल से भिन्न होता है।

कल्पना-शक्ति में वैयक्तिक भेद[1]—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी विशेष व्यक्ति की एक प्रकार की कल्पना दूसरे

---

1. Individual differences in imagery,

प्रकार की कल्पना से अधिक सजीव होती है। बालकों की सभी प्रकार की कल्पनाएँ प्रौढ़ लोगों की सभी प्रकार की कल्पनाओं से अधिक सजीव होती हैं। विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं के भेद निम्नांकित प्रकार से किये गये हैं—

(१) **दृष्टि-प्रतिमा**[1]—जो व्यक्ति दृष्टि-कल्पना (मानसिक प्रतिमा) में प्रवीण होते हैं वे आँख से देखे गये पदार्थ को भली-भाँति स्मरण कर सकते हैं—जब वे किसी अनुभव के विषय में चिंतन करते हैं तब वे दृष्टि-प्रतिमा का ही अधिकतर उपयोग करते हैं। जब लोग दृष्टि-प्रतिमा पर ही अधिकतर अपने पुराने अनुभव को याद करने के लिए निर्भर रहते हैं तब वे दृष्टि-कल्पना-प्रधान व्यक्ति कहे जाते हैं।

(२) **ध्वनि-प्रतिमा**[2]—कान से सुने हुए अनुभव का मन में दुहराया जाना ध्वनि-कल्पना (प्रतिमा) के सहारे पर होता है। जब हम किसी गाने को सुनते हैं तो उस गाने के पूरे होने पर उसके विषय में फिर चिंतन करते हैं तो हम अपनी ध्वनि-कल्पना को काम में लाते हैं। ध्वनि-कल्पना के द्वारा किसी व्यक्ति के कहे वाक्य को स्मरण करते हैं – किसी व्याख्यानदाता का प्रवचन शब्द-कल्पना के द्वारा स्मरण किया जाता है। कितने ही लोग दृष्टि-कल्पना म कमजोर होते हैं किन्तु शब्द-कल्पना में प्रवीण होते हैं। ऐसे लोगों को ध्वनि-कल्पना प्रधान कहा जाता है।

दृष्टि-कल्पना और ध्वनि-कल्पना ही हमारे अनुभव को संचित करने के प्रधान साधन हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की कल्पनाएँ भी हैं, किन्तु उनकी जीवन में इतनी अधिक महत्ता नहीं रहती।

(३) **स्पर्श कल्पना**[3]—इस कल्पना के द्वारा स्पर्श अनुभव को याद किया जाता है। कितने ही लोग इसी प्रकार की कल्पना में प्रवीण होते हैं। कपड़े के व्यापारियों की स्पर्श-कल्पना अन्य लोगों की स्पर्श-कल्पना से अधिक तीव्र होती है।

(४) **क्रिया कल्पना**[4]—हम अपने शरीर से जब कोई कार्य करते हैं तो इस कार्य का विशेष प्रकार का अनुभव हमारे मन में संचित होता रहता है। यही क्रिया कल्पना का आधार है। किसी भाषा के कठिन शब्दों के हिज्जे क्रिया-कल्पना द्वारा ही स्मरण किये जाते हैं, अर्थात् हिज्जों को याद करने में इतना कार्य आँख तथा कान का नहीं जितना हाथ का, जो कि किसी शब्द के हिज्जे लिखता है।

---

1 Visual imagery. 2 Auditory imagery. 3. Tectile imagery. 4. Motile imagery.

(५) घ्राण-कल्पना[1]—इस कल्पना के आधार पर सूँघी हुई वस्तुओं के अनुभव मन में आते हैं। हम अनेक पदार्थों को उनकी गंध से पहचानते हैं। उस गंध की कल्पना हमारे मन में रहती है।

(६) रस-कल्पना[2]—यह पदार्थों के स्वाद की कल्पना है। इस कल्पना के द्वारा हम विभिन्न प्रकार के स्वाद उन पदार्थों की अनुपस्थिति में मन में लाते हैं। नीबू खट्टा है, यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। पर नीबू के प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में भी हम उसकी खटाई की कल्पना कर लेते हैं। हम अपने अनुभव में अनेक प्रकार के भोजन का आस्वादन करते हैं। यह रस-कल्पना के द्वारा ही सम्भव होता है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं में व्यक्तिगत भेद होते हैं। कोई एक प्रकार की कल्पना में प्रवीण होता है तो कोई दूसरे प्रकार की कल्पना में। ये भेद जन्मजात होते हैं। परन्तु साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति में सभी प्रकार की कल्पना को मन में लाने की शक्ति कुछ न कुछ अवश्य रहती है। यदि हम किसी पदार्थ के अनुभव को भली-भाँति मन में स्थिर करना चाहें तो हमें चाहिए कि उस पदार्थ के अनुभव को अपनी अनेक इंद्रियों के अनुभव द्वारा दृढ़ करें। यदि किसी शब्द के वर्णक्रम (हिज्जे) को हम याद करना चाहते हैं तो हमें उस शब्द को लिखा हुआ ही नहीं रटना चाहिए वरन् उसको स्वयं लिखना चाहिए, जोर-जोर से उच्चारित करना चाहिए और एक-एक अक्षर को बार-बार जोर से दुहराना चाहिये। इस प्रकार वर्णक्रम के स्मरण करने में हमारी दृष्टि-कल्पना, ध्वनि-कल्पना और क्रिया-कल्पना सभी काम करती हैं।

कभी-कभी किसी विशेष प्रकार की बीमारी के कारण मनुष्य की एक प्रकार की कल्पना-शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में यदि उस व्यक्ति ने अपने अनुभव को संचित करने के लिए अनेक इन्द्रियों का उपयोग किया हो तो वह एक प्रकार की कल्पना के अभाव में दूसरे प्रकार की कल्पना से काम ले सकता है।

इस विषय में विलियम जेम्स ने वेनिस के एक व्यापारी का एक सुन्दर उदाहरण दिया है। यह व्यापारी दृष्टि-कल्पना में प्रवीण था। इसकी सहायता से उसने सैकड़ों पुस्तकें याद कर ली थीं तथा अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अपने व्यवसाय में किसी भारी चिंता के कारण उसकी मानसिक शक्ति में भारी गड़बड़ी हो गई। उसकी दृष्टि-कल्पना जाती रही। अब वह अपने सब पढ़े-लिखे ज्ञान को भूल गया।

---

1. Olfactory imagery. 2. Gastitutary imagery.

वह अपने सम्बन्धियों के चेहरे को भी स्मरण नहीं कर सकता था। वह बिल्कुल पागल-सा असहाय बन गया। किन्तु धीरे धीरे उसकी दूसरे प्रकार की कल्पनाओं की वृद्धि हुई और वह फिर ध्वनि-कल्पना तथा स्पर्श तथा क्रिया-कल्पनाओं के द्वारा अपना व्यवसाय चलाने लगा। बालकों में सभी प्रकार की कल्पनाएँ प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा अधिक सजीव होती हैं। यह उनकी दृष्टि-कल्पना के विषय में विशेष कर सत्य है। इसी प्रकार स्त्रियों की कल्पना पुरुषों की कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक सजीव होती है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक की कल्पना की अपेक्षा साधारण लोगों की कल्पना अधिक सजीव होती है। प्रो० गाल्टन महोदय ने अनेक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक लोगों के ऊपर प्रयोग करके यह निश्चित किया कि उनकी कल्पना-शक्ति बहुत परिमित होती है। इस प्रकार की स्थिति का कारण कल्पना-शक्ति की वृद्धि करने के लिए अवसर न मिलना ही है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की कल्पना को बार-बार काम में लाता है वह उस प्रकार की कल्पना को सबल बना देता है। जो कल्पना काम में नहीं आती वह निर्बल होती है। वैज्ञानिक लोग अपनी विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं से इतना काम लेते हैं कि उनकी उन कल्पना-शक्तियों का ह्रास हो जाता है। डार्विन महाशय के विषय में कहा जाता है कि वे किसी कविता में रस का आस्वादन कर ही नहीं सकते थे।

कल्पना और जीवन के व्यवसाय—प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार अपने जीवन में व्यवसाय चुनता है। जब उसके जीवन के व्यवसाय उसके जीवन की रुचि के अनुसार होते हैं तब वह उनमें उन्नति करता है और स्वयं सुखी रहता है। रुचि के विरुद्ध व्यवसायों को लेने से न तो अच्छी सफलता प्राप्त होती है और न चित्त प्रसन्न रहता है। मनुष्य की रुचि उसकी योग्यता पर निर्भर रहती है। विभिन्न प्रकार की कल्पना-शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की योग्यताओं को मनुष्य में बढ़ाती हैं। जो व्यक्ति दृष्टि-कल्पना में पटु है वह अच्छा चित्रकार बन सकता है, जो ध्वनि-कल्पना में प्रवीण है वह अच्छा गवैया बन सकता है। जिसकी न तो दृष्टि-कल्पना बढ़ी हुई है, न ध्वनि-कल्पना, किन्तु जो शब्दों को भली भाँति स्मरण कर सकता है वह एक अच्छा वैज्ञानिक और दार्शनिक बन सकता है। जब मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार व्यवसाय पा जाता है तो उस व्यवसाय में विशेष प्रतिभा का प्रदर्शन करता है, अन्यथा वह बे-मन से अपने व्यवसाय को करता है।

शब्द-कल्पना की महत्ता तथा उसका विकास—विचारों के शीघ्रता

से चलने के लिए शब्द-कल्पना का होना अति आवश्यक है। जैसे-जैसे मनुष्य का विचार-शक्ति में विकास होता है, वह किसी भी वस्तु के बोध के लिए शब्द का प्रयोग करने लगता है। वह फिर शब्द के द्वारा ही उस वस्तु के विषय में सोचता है—शीघ्रता से विचार करते समय शब्द अथवा वस्तु का नाम मात्र ही हमारे मानस-पटल पर आता है। साधारण विचार करते समय हमारा मन एक सिनेमा-फिल्म जैसी वस्तुओं के चित्र का स्थान नहीं बन जाता। सिनेमा-फिल्म के चित्रों को देखकर कोई भी व्यक्ति फिल्म द्वारा प्रदर्शित घटनाओं का अर्थ समझ सकता है; क्योंकि फिल्म पर घटनाएँ उसी प्रकार घटित होती हैं जैसी कि वास्तव में हुई थीं। घटनाएँ संकेत द्वारा नहीं प्रदर्शित की जातीं, यदि घटनाओं को संकेत के द्वारा दर्शाया जाता तो वे ही लोग उन घटनाओं को समझ पाते जो उन संकेतों का अर्थ जानते होते।

विचार की क्रिया होते समय जो फिल्म हमारे मानस-पटल पर प्रदर्शित होती है, उसकी स्थिति सिनेमा-फिल्म से विपरीत होती है। विचारों की फिल्म के चित्रों को वही समझ सकता है जिसे उसके संकेतों का बोध हो। यदि कोई दूसरा मनुष्य एक गणितज्ञ के दिमाग में विचार करते समय घुस भी जाय तो वह उसके विचारों को जानकर भी अनजाना रह जायगा। गणितज्ञ के विचार विशेष प्रकार के संकेतों द्वारा चलते हैं। हमारे प्रायः सभी प्रकार के विचार किसी न किसी प्रकार के संकेतों द्वारा चला करते हैं। ये संकेत अधिकतर शब्द ही होते हैं। शब्द हमारे विस्तीर्ण अनुभव को एक छोटे सकेत द्वारा हमारे मानस-पटल पर ले आता है। मनुष्य और पशु के विचार करने में यही विशेष भेद है कि यदि पशु किसी वस्तु के बारे में सोचे तो उसे उस वस्तु का ठीक चित्र अपने दिमाग पर खड़ा करना पड़ता है। मनुष्य उस वस्तु का चित्र अपने दिमाग में खड़ा करके उसे किसी संकेत द्वारा सोच सकता है। इन संकेतों के प्रयोग के कारण मनुष्य अपने विचारों को सुसंगठित कर सकता है और अपने विस्तीर्ण अनुभव को थोड़े-से विचारों में बाँध लेता है। जिस प्रकार एक संकेत एक वस्तु के ज्ञान को लक्ष्य करता है उसी प्रकार एक संकेत अनेक संकेतों को लक्षित करता है। इस प्रकार कोई-कोई संकेत हजारों संकेतों के स्थान पर काम में आता है; अर्थात् वह हजारों वस्तुओं का बोध कराता है। यह संकेत 'शब्द' के नाम से प्रसिद्ध है। मनुष्य की जटिल समस्याओं पर विचार करने की शक्ति ऐसे ही संकेतों अर्थात् शब्दों पर निर्भर है। जब एक ही शब्द एक वस्तु का नहीं वरन् अनेक वस्तुओं का बोध कराता है

अथवा एक विस्तीर्ण वस्तु का बोधक हो जाता है तो इस प्रकार के शब्द को प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय द्वारा विचार कर सकना, यह मनुष्य की विशेषता है।

प्रत्ययन की शक्ति का विकास मनुष्य में धीरे-धीरे होता है। प्रत्यय और शब्द में तादात्म्य का सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति में जितने शब्दों द्वारा विचार करने की शक्ति होती है उसमें प्रत्ययन करने की उतनी अधिक शक्ति रहती है। बालक में प्रत्ययन-शक्ति की कमी होती है। उसका शब्द-ज्ञान परिमित होता है। जब वह किसी विषय को सोचता है तब वह शब्द तथा संकेतों द्वारा न सोचकर उसे अपनी दृष्टि-कल्पना अथवा ध्वनि-कल्पना द्वारा सोचता है। एक प्रौढ़ व्यक्ति दृष्टि-कल्पना तथा ध्वनि-कल्पना को शब्दों के स्मरणार्थ ही काम में लाता है, पदार्थ के स्मरण के लिए नहीं। चिंतन के समय स्वयं पदार्थ की कल्पना का मन में आना विचार के शीघ्रता से चलने में बाधक होता है। अतएव गम्भीर विषय पर विचार करनेवालों के लिए इस प्रकार की कल्पनाएँ उपयोगी न होकर हानिकारक ही होती हैं। उन्हें शब्द-कल्पना मात्र में प्रवीण होना आवश्यक है। बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ अपना चिंतन शब्द-कल्पना द्वारा ही करते हैं। यदि उनमें शब्द-कल्पना के द्वारा चिंतन की शक्ति न हो तो वे बच्चों के समान ही अपने विचारों में अविकसित बने रहें।

जिस प्रकार बच्चों की ध्वनि-कल्पना की शक्ति परिमित होती है उसी प्रकार अशिक्षित अथवा बर्बर जाति के प्रौढ़ लोगों की शब्द-कल्पना की शक्ति भी परिमित रहती है। उनकी कल्पनाएँ बड़ी सजीव होती हैं; अर्थात् वे जब किसी वस्तु के बारे में सोचते हैं तब उनके मन के सामने उस वस्तु का ठीक चित्र खड़ा हो जाता है। एक प्रकार से देखा जाय तो वह अच्छा है, परन्तु दूसरी ओर से देखा जाय तो यह विचार की प्रतिक्रिया के लिए बड़ा बाधक है। जब मनुष्य की कल्पनाएँ बड़ी सजीव होती हैं; अर्थात् जब उसके मानस-पटल पर वस्तुओं की आकृति उनके विषय में विचार करते समय चित्रित हो जाती है तो वह शीघ्रता से विचार कैसे कर सकता है? भाववाची संज्ञाओं का प्रयोग शीघ्रता से विचार करने के लिए आवश्यक है। जिस जाति के लोगों में जितना ही भाववाची संज्ञाओं का प्रयोग होता है वह जाति उतनी ही उन्नतिशील होती है। उसी प्रकार जो व्यक्ति जितने भाववाची शब्दों का सार्थक प्रयोग कर सकता है, वह उतना ही विचार में दक्ष होता है।

शब्द-प्रतिमा शब्द के सुने हुए अनुभव अथवा उसके रूप के देखे हुए अनुभव से ही प्रायः की जाती है। शब्द-कल्पना की योग्यता में व्यक्तिगत भेद होते हैं। अधिकतर मनुष्य शब्द-कल्पना में दोनों प्रकार के अनुभवों को काम

में लाते हैं पर कितने लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी शब्द-कल्पना ध्वनि-अनुभव पर अधिक आश्रित होती है और कितने ऐसे होते हैं जिनकी शब्द-कल्पना शब्द के रूप पर अधिक निर्भर रहती है। संसार का साधारण जन-समुदाय रूप और ध्वनि दोनों से ही शब्द-कल्पना में सहायता लेता है, किन्तु कोई विशेष व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है जिसमें रूप और ध्वनि दोनों प्रकार से ज्ञात करने की शक्ति ही न हो। इस प्रकार के व्यक्ति शब्दों का स्मरण क्रिया-कल्पना के द्वारा करते हैं; अर्थात् वे क्रिया-कल्पना द्वारा ही पुराने अनुभव का संचय करते हैं। हैलिन कलर, जो कि मनोविज्ञान की एक प्रसिद्ध विदुषी हो गई हैं अन्धी और बहरी थीं। उनके लिए शब्दों का ही नहीं वरन् वस्तुओं के रूप का ज्ञान भी सम्भव नहीं था। इसी प्रकार वह उनके नाम को सुनकर भी उन्हें नहीं जान सकती थीं। इस महिला को छुटपन में मिस सेलेवेन ने क्रिया तथा स्पर्श अनुभव के द्वारा शिक्षित बनाया। उन्होंने संसार की अनेक वस्तुओं के नाम इस प्रकार से उनके स्पर्श-संवेदना के द्वारा उन्हें सिखाये। पीछे यही विदुषी, जो स्वयं आजन्म अन्धी तथा बहरी रहीं, संसार के उपकारार्थ अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिख सकीं।

विलियम जेम्स ने 'अपनी प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलाजी' नामक पुस्तक में एक प्रोफेसर का विचित्र अनुभव उद्धृत किया है। यह प्रोफेसर अपने श्रोताओं के समक्ष एक विशेष विषय पर व्याख्यान दे रहा था। व्याख्यान देते-देते उसका मन अपने मित्र के परिवार में चला गया तो उसकी दृष्टि-कल्पना के समक्ष परिवार के लोग आ गये और मित्र का घर खड़ा हो गया। उसने उन लोगों के साथ अनेक प्रकार की बातचीत की और उनके सम्मिलन में साथ रहा। वह व्याख्यान देते समय तनिक देर के लिए अपने-आपको भूल गया। जब तनिक अवसर के बाद उसकी चेतना फिर अपने व्याख्यान के कार्य पर सजग हुई तब उसने अपने-आपको क्रमबद्ध ठीक व्याख्यान देते हुए पाया। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य की दृष्टि-कल्पना किसी दूसरी ओर रहकर भी अभ्यास के आधार पर क्रिया-कल्पना के द्वारा दूसरा काम कर सकती है। एक ही साथ दो काम कर सकना हमारी चेतना के लिए कोई असाधारण बात नहीं। यहाँ केवल इतना ही दर्शाने का प्रयोजन है कि जब एक प्रकार की कल्पना किसी दूसरे प्रकार के पदार्थ को मन में ला सकती है, तब दूसरे प्रकार की कल्पना किसी तीसरे प्रकार के पदार्थ को मन में ला सकती है। उक्त प्रोफेसर की दृष्टि-कल्पना अपने मित्र के परिवार में व्यस्त रही जब कि उसकी क्रिया-कल्पना शब्दों के उचित प्रयोगों में काम करती रही।

किसी भी व्याख्यानदाता के लिए यह आवश्यक है कि वह उसमें दृष्टि-कल्पना और ध्वनि-कल्पना ही को प्रबल न होने दे, किन्तु भाषण की सफलता के लिए उसमें क्रिया-कल्पना की भी शक्ति प्रबल होने दे, अर्थात् वह शब्दों का उचित व्यवहार ध्वनि-कल्पना, रूप-कल्पना और क्रिया-कल्पना सभी की सहायता से करता रहे। व्याख्यानदाताओं के शब्दों की ध्वनि-कल्पना और क्रिया-कल्पना प्रबल होनी आवश्यक है। कितने ही व्याख्यानदाता व्याख्यान आरम्भ करने के पूर्व व्याख्यान देने में अपने को असमर्थ पाते हैं, पर जब एक बार उनका व्याख्यान आरम्भ हो जाता है तब वे भलीभाँति अपने विषय का प्रतिपादन कर लेते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि किसी विषय का भलीभाँति ज्ञान होते हुए भी मनुष्य उस विषय पर व्याख्यान देने में असमर्थ रहता है, जब कि वही मनुष्य उस विषय पर लिखकर भलीभाँति विचार व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार की स्थिति व्यक्ति की ध्वनि-कल्पना और क्रिया-कल्पना की निर्बलता के कारण होती है।

कल्पना के प्रकार—मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ आती हैं। ऊपर हमने इन कल्पनाओं का वर्गीकरण बाह्य रूप के अनुसार किया है। इन कल्पनाओं का वर्गीकरण कल्पित पदार्थ की दृष्टि से भी किया गया है—कोई कल्पना वास्तविक जगत् से कम सम्बन्ध रखती है तो कोई अधिक। कल्पना को वास्तविकता से सम्बन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित भागों में विभाजित करते हैं—
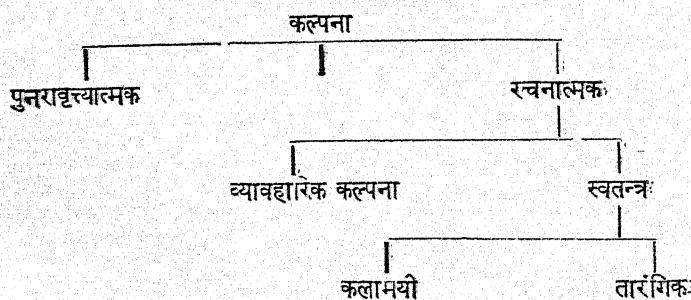
पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना[1]—पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना के द्वारा अनुभव की हुई घटना जैसी की तैसी मानस-पटल पर चित्रित होती है। इस प्रकार की कल्पना स्मरण की क्रिया का प्रधान अंग है, और इसका स्मृति से भेद

1. Reproductive.

करना कठिन है। पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना तथा स्मृति में इतना ही भेद है कि जहाँ पहले प्रकार के ज्ञान में अनुभूत पदार्थ के देश और काल का स्मरण होना आवश्यक नहीं, दूसरे प्रकार के ज्ञान में ये आवश्यक हैं। किन्तु प्रत्येक स्मरण के कार्य में उक्त प्रकार की कल्पना अनिवार्य है। इस प्रकार की कल्पना के विभिन्न प्रकारों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। हम अपने पुराने अनुभव का लाभ अपनी पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना के द्वारा ही उठाते हैं।

रचनात्मक कल्पना[1]—रचनात्मक कल्पना नई सृष्टि का निर्माण करती है। वास्तव में इसी प्रकार की कल्पना को सच्ची कल्पना कहा जाता है। यह अतीत काल के अनुभव पर आश्रित अवश्य रहती है, किन्तु अतीत अनुभव से स्वतंत्र भी होती है। अतीत अनुभव इस कल्पना का ईंट और गारा है, किन्तु यह अपनी स्वतन्त्र शक्ति से नये प्रासाद का निर्माण करती है। यह कल्पना सदा भविष्य से सम्बन्ध रखती है। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य करने के पहले इस प्रकार की कल्पना का कार्य आवश्यक होता है। यह दो प्रकार की होती है—एक व्यवहार जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली अर्थात् व्यवहार में काम आनेवाली होती है और दूसरी स्वतन्त्र। व्यावहारिक कल्पना का वास्तविकता से घनिष्ट संबंध होता है, इतना घनिष्ट सम्बन्ध स्वतन्त्र कल्पना का वास्तविकता से नहीं होता।

जब कोई इंजीनियर एक नये काम का नकशा बनाता है तो वह व्यवहारात्मक कल्पना से काम लेता है। कोई व्यापारी अपने व्यापार के विषय में जब सोचता है और भविष्य के कार्यक्रम को निश्चित करता है तो वह व्यवहारात्मक कल्पना से काम लेता है। जब हम कहीं एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं और मार्ग की कठिनाइयों को पार करने के उपाय सोचते हैं तो व्यवहारात्मक कल्पना से काम लेते हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं से हमारा जीवन भरा पड़ा है। जिसकी व्यवहारात्मक कल्पना जितनी युक्तिसंगत होती है उसका जीवन भी उतना ही सफल होता है। व्यवहारात्मक कल्पना के बिना संसार का कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं किया जा सकता। वास्तविक जगत् में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए व्यवहारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। इस कल्पना का आधार वास्तविकता का अनुभव होता है और वास्तविकता की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही यह कल्पना की जाती है। जब एक जनरल अपनी सेना को विशेष प्रकार की आज्ञा देता है तो वह ध्यान रखता है कि उसका शत्रु क्या करनेवाला है। यदि शत्रु की चाल के विषय में

---

1. Constructive.

उसकी कल्पना गलत हुई तो उसकी सेना का नष्ट होना निश्चित है। इस तरह हम देखते हैं कि जीवन की सफलता व्यवहारात्मक कल्पना के ठीक होने पर निर्भर है।

स्वतन्त्र कल्पना वास्तविकता से उतनी नियन्त्रित नहीं होती जितनी कि व्यवहारात्मक कल्पना। इस कल्पना का प्रदर्शन हम कवि की सृष्टि में देखते हैं। कवि की कल्पना वास्तविकता को ध्यान में अवश्य रखती है, किन्तु उसी से पूर्णतः नियन्त्रित नहीं होती। कवि ऐसी अनेक रचनाएँ करता है जिनका अस्तित्व उसी कल्पना में ही होता है। कवि की कल्पना का हेतु उसके हृदय के उद्‌गारमात्र निकालना होता है। वह किसी वस्तुस्थिति में तुरन्त परिवर्तन नहीं करना चाहता। संभव है कि उसकी कल्पना के कारण वास्तविक जगत् में कुछ मौलिक परिवर्तन हो, किन्तु उसकी कविता का यही लक्ष्य नहीं होता, जहाँ व्यवहारात्मक कल्पना वास्तविक जगत् पर आश्रित होकर चलती है वहाँ कलामयी कल्पना इस जगत् के अनुभव से सहायता अवश्य लेती है किन्तु उसी पर निर्भर नहीं होती। कवि के पात्र कल्पित होते हैं और उनकी क्रियाएँ भी कल्पित होती हैं।

कलामयी कल्पना वास्तविक जगत् के नियमों से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होती है, किन्तु तरंगमयी कल्पना वास्तविक जगत् के नियमों से पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। कलामयी कल्पना वास्तविक जगत् में क्या सम्भव है, इसका ध्यान रखती है; तरंगमयी कल्पना इसका ध्यान नहीं रखती। मनोराज्य के समय वास्तविकता के नियम काम नहीं करते। जिस प्रकार स्वप्न अनुभवों में वास्तविक जगत् के नियमों का उलंघन होता है उसी प्रकार मनोराज्य में भी वास्तविक जगत् के नियमों का उलंघन होता है। वास्तविक जगत् में मनुष्य का अपने पंखों में उड़ना असम्भव है, किन्तु स्वप्न और मनोराज्य में हम अपने आपको पानी पर पैदल चलते और उपवन में पंखों से उड़ते देखते हैं।

तरंगमयी कल्पना का भी जीवन में भारी उपयोग होता है। इसी प्रकार की कल्पना बालकों के खेल का प्रधान अंग होती है और जो कार्य खेल मनुष्य के जीवन-विकास में काम करते हैं वही कार्य तारंगिक कल्पना मनुष्य के विचार-विकास में काम करती है। तारंगिक कल्पना एक प्रकार का मानसिक खेल है। इस प्रकार की कल्पना के द्वारा वास्तविकता से परिचय बढ़ता है, और वह परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने आपको तैयार करता है। बालकों में इस प्रकार की कल्पना का होना उनके जीवन को रसमय बनाने के लिए आवश्यक है। उन्हें वास्तविक जगत् दुःखद होता है। शक्ति परिमित होने के कारण वे अपनी इच्छाओं को तृप्त नहीं कर पाते, अतएव वे अपने जीवन

को सुखी बनाने के लिए कल्पना का सहारा लेते हैं। यही उनके खेलों को रोचक बनाती है और उनके वास्तविक संसार के अनुभवों को स्थायी बनाती और वास्तविकता से उनका परिचय बढ़ाती है।

कल्पना और कला

कल्पना का स्वरूप—कल्पना और कला का घनिष्ट सम्बन्ध है। कला की वृद्धि, कल्पना की वृद्धि और उसके परिष्कृत होने पर निर्भर है। कला किसी आदर्श का चित्रण करती है। जब मनुष्यों की कल्पना आदर्शमयी होती है तो सुन्दर कला की सृष्टि होती है। कल्पना जब किसी प्रकार की कला का प्रकाशन करती है तो वह स्वयं ही आदर्शमयी बन जाती है। इस तरह कला मनुष्य की कल्पना को उच्च बनाने का उत्तम साधन है। जब मनुष्यों के आदर्श नीचे गिर जाते हैं और उनकी कल्पना पूर्णतः वास्तविकता से नियन्त्रित होने लगती है; अर्थात् जब मनुष्य व्यावहारिक सफलता को ही जीवन का सर्वोच्च आदर्श बना लेता है तो कला की सृष्टि का होना बन्द हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक पदार्थविज्ञानवाद और सुखवाद कला की वृद्धि का विरोधी है। जैसे-जैसे मनुष्य जड़वाद की ओर जाता और इन्द्रियसुख की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लेता है वैसे-वैसे वह कला से विमुख होता जाता है। कला का प्राण आदर्शवादी कल्पना है। कला के द्वारा मनुष्य उन आदर्शों का चित्रण करता है जो वास्तविक जीवन में उसकी पहुँच के बाहर हैं। पर इस प्रकार अपने आदर्शों का चित्रण करना उन आदर्शों को सुगम बनाना है। कविता कलामयी कल्पना की सबसे सुन्दर रचना है।

कविता का प्राण कवि का वास्तविक अनुभव है। कवि अपनी कल्पना के सहारे दूसरे लोगों के अनुभवों को अपना लेता है। कल्पना के द्वारा वह उनके हृदयों के साथ अपने आपको आत्मसात् करता है। फिर इस अनुभूति के द्वारा वह एक नये जगत् की सृष्टि करता है। कविता के दो अंग हैं—वास्तविक अनुभव और आदर्श की उपस्थिति। यह कवि की हर प्रकार की रचना के विषय में सत्य है।

कभी-कभी इन दोनों अंगों में से किसी एक अङ्ग की उपस्थिति प्रत्यक्ष नहीं होती। कभी किसी कविता में अनुभूति का प्रभाव दिखाई देता है तो किसी में आदर्श का। पर यदि हम किसी भी रचना का विश्लेषण करके देखें तो उसके पीछे कवि के मानसिक संस्कारों को ही पावेंगे। ये संस्कार पुरानी अनुभूति के परिणाम हैं। जब कोई कवि किसी ऐसे विषय पर

कविता करता है जिसका किञ्चिन्मात्र अनुभव उसे नहीं हो तो उसकी कविता में प्राण नहीं रहता। उसकी कविता कोरा शब्दजाल रहती है। कितने ही छायावादी कवियों की रचनाएँ इसी प्रकार की होती हैं। छायावादी कविता रहस्यमय अनुभूति का चित्रण करती है। इस अनुभूति के अभाव से छायावादी कविता भ्रमात्मक छायामात्र हो जाती है।

जिस प्रकार वास्तविक अनुभव कविता का प्राण है, उसी प्रकार कवि का आदर्श तथा उसके उच्च विचार उसकी आत्मा है। कभी-कभी यह आदर्श प्रत्यक्ष रहता है; उसका ज्ञान कवि को रहता है और पाठकगण भी इसका पता चला लेते हैं। पर कभी इसका ज्ञान न तो कवि को रहता है और न पाठकगण इसका पता चला पाते हैं। देखा जाता है कि कितने ही कवि किसी दुःखद घटना का चित्रण मात्र करते हैं। उनका इस प्रकार के चित्रण का कोई प्रत्यक्ष हेतु दिखाई नहीं देता। पर यदि हम कवि के अन्तस्तल को जानने की चेष्टा करें तो उसमें हम कवि की रचना का हेतु उस दुःखद घटना से अपने आप को और दूसरों को बचाने की चेष्टा पावेंगे। कविता के द्वारा कवि अपने विचारों को प्रकाशित करके अपनी वैयक्तिक अनुभूति को सबकी अनुभूति बनाता है। इस प्रकार वह अपने व्यक्तित्व के प्रतिबन्ध को पार करके सर्वात्मा में लीन होने की चेष्टा करता है।

कविता मनुष्य को देहात्मवाद से मुक्त करने का सर्वोच्च साधन है। कविता से मनुष्य का हृदय परिष्कृत होता है। वह अपने व्यक्तिगत दुःखों को भूल जाता है और अपने आपको समष्टि का एक अङ्ग मात्र जानने लगता है। जिस व्यक्ति का सुख दुःख अपने भाव पर बीती घटनाओं तक सीमित रहता है, वह उस आनन्द की अनुभूति नहीं करता जो कि दूसरों के साथ आत्मसात् करने से उत्पन्न होता है। जब हम कल्पना के द्वारा दूसरों के दुःख और सुख में भाग लेने लगते हैं तो हम देहात्मवाद से मुक्त हो जाते हैं। स्थायी आनन्द को प्राप्त करने के लिये इस प्रकार की मुक्ति परमावश्यक है। अतएव कविता की रचना और उसके रस का आस्वादन मानव-जीवन के विकास के लिए उपयोगी है।

प्रश्न

१—कल्पना और स्मृति में क्या भेद है? उदाहरण देकर समझाइए।

२—प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना में क्या सम्बन्ध है? क्या हम स्वप्न-अनुभव को कल्पना कह सकते हैं?

३—कल्पना कितने प्रकार की होती है ? बाह्य रूप के अनुसार कल्पनाओं का वर्गीकरण कीजिए।

४—बालकों और प्रौढ़ों की कल्पना-शक्ति में क्या भेद होते हैं ? बालकों की कल्पना-शक्ति कैसे बढ़ाई जा सकती है ?

५—शब्द-कल्पना की वृद्धि कैसे होती है ? शब्द-कल्पना की उपयोगिता क्या है ?

६—कल्पना-शक्ति और मनुष्य की कार्य-शक्ति में क्या सम्बन्ध है ? विभिन्न प्रकार की कल्पना के अनुसार मनुष्यों के व्यवसाय कैसे भिन्न-भिन्न होते हैं ?

७—रचनात्मक कल्पना क्या है ? जीवन में इसकी उपयोगिता क्या है ?

८—कल्पना और विचार में क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण देकर समझाइए।

९—कला और कल्पना का क्या सम्बन्ध है ? कलामयी कल्पना की वृद्धि कैसे की जा सकती है ?

१०—कल्पना और खेल की तुलना कीजिए। जीवन में दोनों की उपयोगिता क्या है ?

———

चौदहवाँ प्रकरण

विचार[1]

हमारे मन की सर्वश्रेष्ठ क्रिया विचार है। हमारे चेतन मन की क्रियाओं की पूर्णता विचार में होती है। संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण और कल्पना इन सबका अन्त विचार में होता है, अर्थात् इनका लक्षण विचार में सहायता पहुँचाता है। वास्तव में प्रत्येक विचार उसके नीचे की मानसिक क्रिया के साथ कार्य करता रहता है। हीगल महाशय का यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि हमारी सम्पूर्ण चेतना विचार में ही है। जिन मानसिक क्रियाओं को हम विचार कही जानेवाली प्रक्रिया में स्पष्टतः होते देखते हैं वे ही मानसिक क्रियाएँ अस्पष्ट रूप से उससे नीचे स्तर की चेतना के कार्य में होती हैं। विचार के बिना कोई मानसिक क्रिया सार्थक नहीं होती।

मनुष्य की पशुओं से श्रेष्ठता उसकी विचार शक्ति के कारण ही है। मनुष्य को यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने विवेकशील प्राणी कहा है। हमारे महर्षियों ने भी पशुता और मनुष्यता का भेद विवेक बताया है। विचार की पराकाष्ठा का नाम ही विवेक है। मनुष्य अपनी विचार करने की शक्ति के कारण संसार के सभी दूसरे प्राणियों पर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है। मनुष्य अपने पुराने अनुभव से जितना लाभ उठा सकता है उतना पशु नहीं उठा सकते। यह विचार के कारण ही होता है। मनुष्य किसी भी काम के करने के पूर्व अपने पुराने अनुभव को स्मरण करता है। उस अनुभव की ओर वर्तमान अनुभव को समानता और विषमता को देखकर इसके आधार पर क्रिया के भावी परिणामों की कल्पना करता है। उसे अपने किसी विशेष कार्य में कहाँ तक सफलता मिलेगी, इसे प्रत्येक मनुष्य पहले सोच लेता है, तब वह किसी काम में अपना हाथ डालता है। जो मनुष्य जितना ही अपने कार्य के भावी परिणाम पर भलीभाँति विचार करता है वह उतना ही सफल होता है। यह सत्य है कि हम अपनी सभी क्रियाओं को करने के पूर्व उन पर विचार नहीं करते, किन्तु जहाँ तक हम ऐसा नहीं करते हैं वहाँ तक हम मनुष्य कहे जाने के अधिकारी नहीं होते। आवेश में आकर किये गये कार्य पशुओं के कार्य के समान हैं। विचार ही मनुष्यत्व की कसौटी है।

विचार की प्रक्रिया

विचार मन की वह प्रक्रिया है जिसमें हम पुराने अनुभव को वर्तमान

---

1. Thinking.

समस्याओं के हल करने के काम में लाते हैं। जब हमें किसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो हम भलीभाँति इस पर ध्यान देते हैं और हमें उस परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसका निश्चय करते हैं। इस तरह प्रत्येक विचार की क्रिया में किसी विशेष लक्ष्य की उपस्थिति रहती है और हम मन ही मन उस लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं है। अतएव जब वे किसी परिस्थिति का सामना करते हैं, तो वे बिना विचारे ही क्रियाएँ करने लगते हैं। उनके सभी कार्य, प्रयत्न और भूल-सुधार के रूप में होते हैं। मनुष्य किसी प्रकार का प्रयत्न करने के पूर्व भूलों की सम्भावना को पहले से ही कल्पना में चित्रित करता है। वह अपनी बाधाओं को कल्पना के द्वारा निवारण करने की चेष्टा करता है, पीछे किसी क्रिया को करता है। मनुष्य की शारीरिक क्रियाएँ उसकी मानसिक क्रियाओं की अनुगामी होती हैं।

वर्डस्वर्थ महाशय के अनुसार विचार की क्रिया के निम्नलिखित प्रमुख अंग अथवा अवस्थाएँ हैं—

विचार की क्रिया के अंग

(१) किसी लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा का उदय,
(२) उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक चेष्टा,
(३) पुराने अनुभव का स्मरण,
(४) उस अनुभव का नई परिस्थिति में उपयोग करना,
(५) आन्तरिक भाषण।

उपर्युक्त विचार की क्रिया के अङ्ग निम्नांकित उदाहरण से भलीभाँति समझे जा सकते हैं—

मान लीजिए, आप अपने कमरे को बिना ताला लगाये कहीं बाहर चले गये। जब वापस आते हैं तो देखते हैं कि आपके कमरे की मेज पर पड़ी एक किताब गायब है। अब आपके सामने समस्या उपस्थित हुई कि उस पुस्तक को कौन ले गया। समस्या के आने पर विचार की उपस्थिति होती है। आप विचार द्वारा उस समस्या को हल करने की चेष्टा करते हैं। यह विचार की प्रक्रिया की पहली अवस्था है। अब आप सोचते हैं कि आपकी पुस्तक कौन ले गया होगा। आपके मन में विचार आता है कि अपने आस-पास के लोगों से पूछें कि हमारे कमरे में कौन आया था, किन्तु इस विचार के आते ही आपको विचार आता है कि जब हम बाहर गये थे तो वे अपने कमरों में न थे। अतएव उनसे आगन्तुक के विषय में पूछना व्यर्थ है। इसलिए आप अपने पड़ोसियों

से कुछ नहीं पूछते और आगे विचार करते हैं। यह विचार की प्रक्रिया की दूसरी अवस्था है। विचार की तीसरी अवस्था में आप उन सभी अनुभवों को स्मरण करते हैं। जब आपकी पुस्तक इसी प्रकार आपके अनजाने कमरे से गायब हो गयी थी। आप अपने मित्रों के अनुभव को जिसको आपने सुना है स्मरण करते हैं। इस प्रकार के अनुभव आप अपनी चेतना के समक्ष लाते हैं। आपके बिना पूछे आपका मित्र भी पुस्तक ले जाता है। एक छोटा बालक जो पहले आपके कमरे में आया करता था, पुस्तक को ले लेता है। कभी आपका नौकर भी पुस्तक को ले जाता था। पुस्तक को चोर भी इसी प्रकार उठा ले जाते हैं। ये सभी बातें स्मृति-पटल पर आती हैं।

अपने अनेक पुराने अनुभवों में से किसी विशेष अनुभव को चुन लेना जो कि वर्तमान समस्या को हल करने में काम करे और उसके आधार पर मानसिक समस्या को हल करना, विचार की चौथी अवस्था है। मान लीजिए, आप अपनी पुस्तक के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर आये कि कोई चालाक विद्यार्थी ही आपकी पुस्तक को उठा ले गया तो आप विचार की चौथी अवस्था पर पहुँचेंगे। फिर आपकी अन्य चेष्टाएँ इसी विचार के अनुसार होंगी।

जब हमारे मन में उपर्युक्त हलचल मची रहती है तो उसके साथ ही आन्तरिक भाषण भी होता रहता है। इसी भाषण के सहारे विचार चलता रहता है। जैसे-जैसे हम विचार की अन्तिम अवस्था पर पहुँचते हैं, हमारा आन्तरिक भाषण अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है। अतएव यह विचार की विशेष अवस्था नहीं है, किन्तु विचार की प्रक्रिया का मुख्य अंग है।

विचार का लक्ष्य किसी व्यावहारिक समस्या अथवा किसी ज्ञान-समस्या को हल करना होता है। व्यावहारिक समस्या का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। जब हम किसी नये विषय को समझने की चेष्टा करते हैं तो हमारे सामने ज्ञान-समस्या आती है। इस समस्या के हल करने में भी विचार की वे ही प्रक्रियाएँ होती हैं जो व्यावहारिक समस्या के हल करने में काम में आती हैं।

विचार करने में पुराने अनुभव को नई समस्या के हल करने में काम में लाया जाता है। जब कोई नई परिस्थिति हमारे सामने आती है तो हम परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग करके निरीक्षण करते हैं। हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि हमारे इस अनुभव और पुराने अनुभव में क्या समानता है। इस समानता के आधार पर अनुमान किया जाता है। जिस अनुमान से हमें सन्तोष हो जाता है वही हमारी समस्या को हल करता

है। बौद्धिक समस्या को हल करने का अर्थ यही है कि हम किसी एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं जिससे हमें सन्तोष होता है।

मान लीजिए, हमें दूर से एक बिगुल की आवाज सुनाई दे रही है, हम उस आवाज की ओर आकर्षित होते हैं और हमारी उत्सुकता बिगुल की आवाज का कारण जानने की होती है। बिगुल की आवाज का कारण जानना यह हमारे सामने समस्या है, अर्थात् यह विचार का विषय है। हम बिगुल के साथ होनेवाली दूसरी आवाजों के पहचानने की भी कोशिश करते हैं। किस दिशा से आवाज आ रही है इसे जानने की चेष्टा करते हैं। फिर हम अपने पुराने अनुभवों को स्मरण करते हैं जब हमने बिगुल की आवाज सुनी थी। यदि हमने पुस्तक में इस आवाज के विषय में पढ़ा हो तो इस अनुभव को भी स्मरण करते हैं। इन पुराने अनुभवों में से जो अनुभव वर्तमान अनुभव से मिलता-जुलता है, उसकी खोज करते हैं। मान लीजिए, हमने फौज की कसरत के समय बिगुल की आवाज सुनी थी, फायरब्रिग्रेड के जाते समय बिगुल की आवाज सुनी थी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोगों को कसरत करते समय बिगुल बजाते देखा था। इसी प्रकार के और अन्य अनुभवों का हमें स्मरण होता है। हम इनमें से प्रत्येक अनुभव की वर्तमान अनुभव से समानता ढूँढ़ते हैं। हम बिगुल बजने के समय और दिशा पर विचार करते हैं और वर्तमान बिगुल बजने के अनुभव को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बिगुल बजाने के पुराने अनुभव के समान पाते हैं। जब हम यह समानता देख लेते हैं तो एकाएक इस निष्कर्ष पर आ जाते हैं कि यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ही बिगुल है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद दूसरे प्रकार की संभावनाओं पर विचार नहीं किया जाता। धीरे-धीरे ये सब शांत हो जाती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि अपनी किसी बौद्धिक समस्या को हल करने के लिए हमारे विचार की वही प्रक्रिया होती है जो किसी व्यावहारिक समस्या को हल करने में होती है। विचार मन की एक विश्लेषणात्मक संकलन की प्रक्रिया है।

विचार के विभिन्न स्तर

विचार साधारणतः मानस प्रत्ययों के द्वारा चलनेवाली मानसिक क्रिया को कहते हैं; अर्थात् प्रत्ययनशक्ति के अभाव में विचार होना सम्भव नहीं। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चेतना के नीचे स्तरों पर भी विचार की सम्भावना

मानी है। उनके मत से विचार के स्तरों के विचार तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्षात्मक विचार[1], कल्पनात्मक विचार[2] और प्रत्ययात्मक विचार[3]। हम इन विभिन्न प्रकार के विचारों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

प्रत्यक्षात्मक विचार—प्रत्यक्षात्मक विचार का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार के विचार में कल्पना और प्रत्ययों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। इस प्रकार का विचार पशुओं और बालकों में पाया जाता है। मान लीजिए, एक कुत्ता किसी मनुष्य को हाथ में लाठी लिये अपनी ओर आते देखता है। वह उसे इस प्रकार आते देखकर डरता और भागता है। उसकी भागने की क्रिया उसके एक प्रकार के विचार का ही परिणाम है। जब कुत्ता उस मनुष्य को लाठी लिये हुए देखता है, तब उसे उसका पुराना अनुभव याद हो जाता है। अपने पुराने अनुभव के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि लाठी हाथ में लिये हुए उसकी ओर आनेवाला मनुष्य उसे मारेगा। अतएव वह नई परिस्थिति का सामना करने की तैयारी कर लेता है। कुत्ते के इस प्रकार के विचार में वही प्रक्रियाएँ होती हैं जो प्रौढ़ों के विचार में होती हैं। किन्तु ये प्रक्रियाएँ अस्पष्ट होती हैं। पशु में प्रत्यक्षात्मक विचार के अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार के विचार की शक्ति नहीं होती। प्रत्यक्षात्मक विचार दृश्य पदार्थ के अनुभव के आधार पर चलता है। इस प्रकार के विचार में शब्दों की अर्थात् पदार्थों के नाम की आवश्यकता नहीं होती। जब कोई विचार अनुपस्थित पदार्थों अथवा घटनाओं के आधार पर चलता है तो नाम की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपने व्यवहार में नामों का प्रयोग करता है। अतएव वह अपने पुराने अनुभव को सरलता से स्मरण कर लेता है। पुराने अनुभूत पदार्थों का हम नाम के द्वारा ही याद करते हैं और जब हमें आवश्यकता होती है अपने स्मृति-पटल पर उन्हें नामों की सहायता से ही ले आते हैं। पशुओं में नामों के प्रयोग की शक्ति न होने के कारण उनकी विश्लेषणात्मक शक्ति और विचार करने की शक्ति परिमित होती है, अर्थात् जिस तरह हम विचार कर सकते हैं, पशु नहीं कर सकते।

कल्पनात्मक विचार—कल्पनात्मक विचार मानसिक प्रतिमाओं के सहारे किया जाता है। बालक में पुराने अनुभव की प्रतिमाएँ मानस-पटल पर लाने की शक्ति होती है। ये प्रतिमाएँ नाम के कारण कुछ देर तक मन में ठह-

---

1. Perceptual thinking. 2. Imaginative thinking 3. Conceptual thinking.

राई जा सकती हैं। बालक जब बाजार गये हुए अपने पिता के विषय में सोचता है तो अपनी कल्पना में यह भी चित्रित करता है कि उसका पिता उसके लिए खिलौना और मिठाई लायेगा। इस प्रकार का उसका निष्कर्ष कल्पना के आधार पर होता है। उसका पिता जब-जब बाजार से आया है खिलौना और मिठाई लाया है, अतएव पिता का बाजार से आना तथा खिलौना और मिठाई का लाना उसके अनुभव में एक साथ जुड़ गये हैं। जब वह एक विचार को मन में लाता है तो दूसरा विचार अपने आप आ जाता है। इस प्रकार के विचार में मानसिक प्रतिमाएँ काम करती हैं। एक प्रतिमा दूसरे की उत्तेजक होती है। पिता का बाजार से आने की प्रतिमा खिलौना और मिठाई की प्रतिमा की उत्तेजक होती है। कल्पनात्मक विचार में प्रत्यक्ष अनुभव का अभाव रहता है। यह स्मृति के आधार पर चलता है। दूसरे प्रत्ययों का भी उनमें अभाव रहता है। इस प्रकार का विचार साधारणतः नाम के सहारे नहीं चलता, वरन् कल्पनाओं अर्थात् मानसिक प्रतिमाओं के सहारे चलता है।

प्रत्ययात्मक विचार—प्रत्ययात्मक विचार प्रयत्नों के सहारे चलता है। इस प्रकार के विचार में कल्पनाओं का स्थान प्रत्यय ग्रहण करते हैं। प्रत्ययों के बनने और उनके मन में ठहरने के लिए शब्दों की आवश्यकता होती है। शब्द और प्रत्यय का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से अलग करके समझना भी कठिन है। प्रत्यय से शब्द को, जो प्रत्यय का नाम मात्र है, अलग कर देने पर प्रत्यय का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है।

प्रत्यय-ज्ञान का स्वरूप[1]

एक ही प्रकार की अनेक वस्तुओं अथवा उनके विशेष गुणों के बोध करने वाले शब्द को प्रत्यय कहते हैं। जातिवाचक अथवा भाववाचक जितनी संज्ञाएँ हैं, प्रत्यय हैं। जब हम "कुत्ता" अथवा "बिल्ली" शब्द का उच्चारण करते हैं तो इन शब्दों से किसी विशेष कुत्ते अथवा बिल्ली का ज्ञान नहीं होता, वरन् एक वर्ग का ज्ञान होता है। इसी तरह जब "कपट" या "वीरता" शब्द सुनते हैं तो किसी विशेष व्यक्ति के कपट-व्यवहार अथवा वीरता का स्मरण नहीं होता, वरन् इन गुणों के बोध करनेवाले सभी अनुभवों का ज्ञानोदय होता है।

प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं; एक इन्द्रियगोचर पदार्थों के बोधक और दूसरे बौद्धिक पदार्थों अर्थात् वस्तुओं के गुणों के बोधक। इन्द्रियगोचर पदार्थों के बोधक प्रत्ययों की वृद्धि पहले होती है, पीछे मनुष्य में भाववाची प्रत्ययों का उदय होता है। शिशु में भाववाची प्रत्ययों को समझने की शक्ति

1. Conception.

नहीं होती, पर उसमें बहुत से इन्द्रियगोचर पदार्थों का संकेत करनेवाले पदार्थों के प्रत्ययों को समझने की शक्ति होती है।

प्रत्यय-ज्ञान की उत्पत्ति

प्रत्यय-ज्ञान की उत्पत्ति के निम्नलिखित चार अङ्ग माने गये हैं:—

(१) पदार्थों की अनुभूति,

(२) पदार्थों के गुणों का विश्लेषण,

(३) पदार्थों का वर्गीकरण,

(४) पदार्थों का नामकरण।

प्रत्यय ज्ञान की उत्पत्ति के विभिन्न अंगों पर एक-एक करके विचार करना प्रत्ययात्मक विचार को भलीभाँति समझने के लिए आवश्यक है।

पदार्थों की अनुभूति—प्रत्ययज्ञान शब्द-ज्ञान मात्र नहीं है। वरन् शब्द के अर्थ का ज्ञान है। कितने ही लोग अपनी भाषा में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं जिनके अर्थ का उन्हें बोध नहीं रहता। किसी शब्द के अर्थ के बोध के लिए उस अनुभूति की आवश्यकता है जिसको संकेत करने के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है। जब तक बालक ने शेर नहीं देखा वह शेर शब्द का ठीक अर्थ नहीं जानता। इसी तरह जिस बालक ने 'दरयाई घोड़े' का चित्र भी नहीं देखा उसे 'दरयाई घोड़े' की कल्पना क्या हो सकती है। बहुत से बालकों के मन में 'दरयाई घोड़ा' शब्द सुनते ही एक ऐसे घोड़े का चित्र आ जाता है जो पानी में रहता है। पर वास्तव में 'दरयाई घोड़े' में घोड़े की समता रखनेवाली कोई बात नहीं है। न तो वह देखने में घोड़े जैसा है और न कामों में। इसी तरह जब बालक से संख्याबोधक शब्द कहे जाते हैं और उसको वस्तुएँ गिनकर संख्याज्ञान नहीं कराया जाता तो उसका संख्याज्ञान शब्दज्ञान मात्र रहता है। जिन बालकों को दिशा का ज्ञान नक्शे से कराया जाता है और क्लास से बाहर जाकर वास्तविक दिशाओं की पहचान नहीं कराई जाती वे 'उत्तर' का अर्थ नक्शे के ऊपर की ओर और 'दक्षिण' का अर्थ नक्शे के नीचे की ओर ही जानते हैं। शब्दों के सार्थक प्रयोग के लिए पदार्थों की अनुभूति का होना आवश्यक है।

जैसे-जैसे व्यक्ति का अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे नये शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। उसे एक ही प्रकार के अनेक अनुभवों का बोध करनेवाले शब्दों की फिर खोज करनी पड़ती है। प्रत्ययज्ञान की उत्पत्ति का प्रारम्भ इसी प्रकार होता है।

गुणों का विश्लेषण—प्रत्ययज्ञान की उत्पत्ति की दूसरी सीढ़ी अनुभूत

पदार्थ के गुणों का विश्लेषण है। प्रत्येक पदार्थ के अनेक गुण होते हैं। पदार्थ के पहले अनुभव में हमें सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान होता है। पीछे हम उस पदार्थ के विभिन्न अङ्गों पर तथा उसके गुणों पर विचार करते हैं। जब तक बालक एक ही कुत्ता देखता है, उसे कुत्ते की विशेषताओं को समझने की आवश्यकता नहीं होती। जब बालक अनेक 'कुत्तों' को देखता है तो उसका ध्यान कुत्तों के विशेष गुणों के ऊपर जाता है। जब बालक बछड़े को भी देखता है तो उसे कुत्ते के विशेष गुणों के जानने की आवश्यकता और भी पड़ जाती है। पहले-पहल बालक कुत्ते के उन्हीं गुणों को जानता है जो उसके अपने हेतु अथवा रुचि से सम्बन्ध रखते हैं। कुत्ता बालक के पास छोड़ दिया जाता है। वह पूँछ हिलाता है, बालक से प्यार करता है अथवा भूँकता है—ऐसी ही बातों को बालक कुत्ते की विशेषताएँ मान लेता है। इस तरह बालक 'कुत्ते' के अस्पष्ट ज्ञान को स्पष्ट विश्लेषण करके स्पष्ट बनाता है।

वर्गीकरण—विचार की विश्लेषणात्मक क्रिया का अन्त सृजनात्मक कार्य में होता है। पदार्थ के गुणों को अलग-अलग करना विचारों की विश्लेषणात्मक क्रिया है और पदार्थ का अथवा उसके गुणों का वर्गीकरण विचार की सृजनात्मक क्रिया है। जिन पदार्थों के एक से गुण होते हैं उनको बालक एक दूसरे से सम्बन्धित करता है। वे विचार में एक साथ लाये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न गुणों को रखनेवाले पदार्थ अलग-अलग किये जाते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक पदार्थों के गुणों पर चिन्तन करता है उसका पदार्थों का वर्गीकरण उतना ही अच्छा होता है। वर्गीकरण के होने पर कोई भी पदार्थ एक वर्ग का अङ्ग बन जाता है। पदार्थों का वर्गीकरण करना मन की वह क्रिया है जिसके बिना मनुष्य न तो अपने पुराने अनुभव को सञ्चित कर सकता है और न उससे कोई लाभ उठा सकता है। किसी भी नई घटना का समझना उसे किसी विशेष वर्ग में जानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस व्यक्ति की अनुभूत के पदार्थों के वर्गीकरण करने की शक्ति जितनी प्रबल होती है उसकी समझ भी उतनी ही उन्नत होती है।

नामकरण—प्रत्यय की क्रिया का अन्त नामकरण में होता है। जब हम अपने विभिन्न प्रकार के अनुभव का विश्लेषण करके उसका वर्गीकरण कर लेते हैं तो अपने ज्ञान को स्थिर बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थों अथवा गुणों या भावों के विभिन्न नाम देते हैं। प्रत्यय शब्द से लोग प्रायः इस नाम को ही समझते हैं। पर वास्तव में प्रत्यय नाम नहीं है। प्रत्यय शब्द वस्तु और इसके नाम दोनों ही का बोधक है। वास्तव में वस्तु और उसके नाम का भेद

करना बड़ा कठिन है। इसका वास्तविक सम्बन्ध जानने के लिए ज्ञान और भाषा के सम्बन्ध को जानना आवश्यक है।

भाषा और विचार

किसी प्रकार के ज्ञान और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे-जैसे मनुष्य के शब्द-भण्डार की वृद्धि होती है, उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। शब्दों के अभाव में बालक दृष्टिगोचर पदार्थों को ही जानता है। शब्द किसी पदार्थ की प्रतिमा को मन में स्थिर करता है। जब बालक किसी कुत्ते को देखता है और वह उसका नाम "टामी" सुनता है तो जब वह फिर से दूसरी बार "टामी" शब्द सुनता है तब उसके समक्ष अपने देखे हुए कुत्ते की प्रतिमा आ जाती है। इसी तरह जब बालक "कुत्ता" शब्द अनेक कुत्तों के लिए प्रयुक्त होते देखता है तो इसके शब्द के सुनते ही उसके मन में उस ज्ञान का उदय हो जाता है जिसका बोधक "कुत्ता" शब्द है। प्रत्येक शब्द किसी पदार्थ का बोधक होता है, चाहे यह पदार्थ इन्द्रियगोचर हो अथवा नहीं। हमारा साधारण विचार शब्दों के द्वारा ही चलता है। मन में किसी प्रकार का शब्द आते ही उसका बोध करनेवाला ज्ञान भी मन में आ जाता है। जिस व्यक्ति का भाषा-विकास पर्याप्त नहीं होता उसकी सोचने की शक्ति भी परिमित रहती है। किसी भी व्यक्ति के ज्ञान की सीमा उसके शब्द-ज्ञान से जानी जा सकती है। बुद्धिमान् व्यक्तियों का शब्द-ज्ञान साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होता है। उनकी शब्दावली में जटिल भावों के बोधक शब्द पाये जाते हैं और वे बोलने में प्रायः इन शब्दों का प्रयोग उन्हें समझकर ठीक से जल्दी-जल्दी कर सकते हैं। शब्दों की संख्या और भाववाची शब्दों का प्रयोग मनुष्य की बुद्धि की वृद्धि के मापक हैं।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति की बुद्धि का विकास उसकी शब्दावली पर निर्भर रहता है और उसकी शब्दावली को जानकर उसकी बुद्धि के विकास का पता चला सकते हैं, इसी तरह किसी राष्ट्र की बुद्धि के विकास का सूचक उसके सामान्य लोगों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली है। जिस देश की भाषा में किसी जटिल भाव के बोधक शब्द नहीं हैं, उस देश के लोगों में इस भाव के ज्ञान का अभाव रहता है।* भारतवर्ष की भाषाओं में पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी शब्दों

* विलियम जेम्स महाशय का कथन है कि जिस देश के लोगों में किसी विशेष प्रकार के सद्गुणों के बोध करनेवाले शब्दों का अभाव रहता है, उन लोगों में उन गुणों का अभाव रहता है। अतएव किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र में किसी भी प्रकार के चरित्र के गुणों के विकास करने के लिए भाषा-ज्ञान की वृद्धि की आवश्यकता है।

की न्यूनता है। यह न्यूनता जनसाधारण में पदार्थ-विज्ञान के ज्ञान के अभाव की बोधक है।

शब्द एक ओर मनुष्य को अपने-आप विषय के चिन्तन में सहायता करता है और दूसरी ओर अपने विचार दूसरे व्यक्ति से प्रकाशित करने में सहायता करता है। हम अपने विचार शब्दों के द्वारा ही दूसरों पर प्रकट करते हैं। किसी भी विचार को प्रकाशित करने के लिए किसी संकेत की आवश्यकता होती है। इस तरह मनुष्य हाथ हिलाकर, सिर हिलाकर अपने विचार प्रकाशित करता है, किन्तु वह जितना शब्दों के द्वारा अपने विचार प्रकाशित कर सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं कर सकता।

विचार प्रकाशित करने से स्पष्ट और परिपक्व होते हैं। इससे चिन्तन करने की शक्ति बढ़ती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने विचार दूसरों के समक्ष प्रकाशित करता है उसकी चिन्तन करने की शक्ति उतनी ही अधिक प्रबल होती है। इस तरह हम देखते हैं कि भाषा का प्रयोग हमारी सोचने की शक्ति बढ़ाने के लिए परमावश्यक है। हम देखते हैं कि बालक सदा कुछ न कुछ शारीरिक चेष्टाएँ अथवा बातचीत करता रहता है। वह शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है और बातचीत करने से अपनी चिन्तन शक्ति को बढ़ाता है। जो बालक शिशुकाल में जितना ही बकवाद करने वाला होता है वह आगे चलकर उतना ही प्रवीण चिन्तक बन जाता है। धीरे-धीरे शब्दों के ऊपर उसका अधिकार हो जाता है और जिस समय जैसे शब्द का प्रयोग करना चाहिये, उसे वह प्रयुक्त करने लगता है। इससे उसका चिन्तन करना भी स्पष्ट हो जाता है।

विचार और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध उन लोगों को विचार की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है, जिन्हें बोलकर विचार करने की आदत है। कुछ मनोवैज्ञानिक विचार को अप्रकाशित वार्तालाप कहते हैं।* बोलने और लिखने से विचार स्पष्ट होते हैं। इससे एक ओर हमारा भाषा पर अधिकार होता है और दूसरी ओर अपने विचार स्पष्ट क्रम-बद्ध और सुगठित हो जाते हैं। जिन लोगों को जितने ही अधिक अपने विचार दूसरों के सामने प्रकाशित करने पड़ते हैं, उनका भाषा पर उतना ही अधिक अधिकार हो जाता है और उनका बौद्धिक विकास भी उतना ही अधिक होता है। लुहार, बढ़ई, चित्रकार आदि की अपेक्षा शिक्षक, वकील, लेखक और धर्म-प्रचारक इस कारण बुद्धि में अधिक प्रवीण होते हैं। हाथ के धन्धे करनेवाले लोग

*"Thought is suppressed speech"

को अपने विचारों को दूसरों को समझाने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी बुद्धि-जीवी लोगों को होती है। अतएव वे भाषा और विचार दोनों में ही पिछड़ जाते हैं।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक लोग अपनी बुद्धि-मापक परीक्षाओं में शब्दावली की माप को विशेष स्थान देते हैं। प्रत्येक बुद्धिमापक परीक्षा के प्रश्नों में शब्दावली के माप करने के प्रश्न रहते हैं। कितने ही बुद्धिमापक प्रश्न-पत्र व्यक्ति की शब्दावली का पता चलाने मात्र के लिए बनाये गये हैं। मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि यदि हम किसी व्यक्ति के शब्द-भण्डार का पता चला लें तो हम उसकी बुद्धि का अन्दाज लगा सकते हैं।

विचार विकास[1]

विचार की वृद्धि मनुष्य की सभी प्रकार की अन्य शक्तियों के विकसित होने के लिए आवश्यक है। विचार के द्वारा मनुष्य अपने भौतिक जीवन को ही सफल नहीं बनाता वरन् आध्यात्मिक उन्नति भी करता है। विचार के द्वारा हम भूत और वर्तमान के आधार पर भविष्य की कल्पना कर सकते हैं और अपने जीवन को इस प्रकार ढाल सकते हैं कि आनेवाली आपत्तियों से अपने आपको बचा सकें। जो कार्य इतर जाति के प्राणियों के लिए प्रकृति करती है वही कार्य मनुष्य की चेतना अपने आपके लिए करती है। जैसे मूल प्रवृत्तियों द्वारा अन्य प्राणियों का जीवन संचालित होता है, उसी तरह विचार के द्वारा मनुष्य का जीवन संचालित होता है।

विचार करने के ढंग[2]

विचार प्राप्त ज्ञान के आधार पर अप्राप्त ज्ञान की सृष्टि करने का साधन है। मान लीजिए, आज हम आकाश में बादल देख रहे हैं। इन बादलों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि आज पानी गिरेगा। पानी का गिरना हमारी कल्पना है। इस कल्पना की सृष्टि वास्तविक अनुभव के आधार पर हुई। हमें स्मरण है कि जब-जब आकाश में बादल होते हैं तब-तब पानी भी गिरता है। इसी पुराने अनुभव के आधार पर हम नई कल्पना की सृष्टि करते हैं।

जिस समय १९१४ का जर्मन युद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय हिन्दुस्तान के बहुत से व्यापारियों ने यूरोप से आनेवाला माल जहाँ कहीं हिन्दुस्तान के बाजारों में मिला एकाएक खरीद लिया। लड़ाई के समय इन लोगों ने

---

1. Evolution of Thought. 2. Kinds of Reasoning.

महँगे दाम पर बेचकर इस माल से बहुत से रुपयों का मुनाफा उठाया। यह मुनाफा उनके भविष्य के विषय में चिंतन करने की शक्ति पर निर्भर था।

विचार करने में तो हम किसी संचित अनुभव को किसी नई समस्या के हल करने के काम में लाते हैं अथवा नये सिद्धान्त का आविष्कार करते हैं। इस तरह विचार निम्नलिखित दो प्रकार का होता है—

(१) निगमनात्मक विचार[1]।

(२) आगमनात्मक विचार[2]।

निगमनात्मक विचार—निगमनात्मक विचार में हम किसी सिद्धान्त को अपने अनुभव की किसी भी घटना को समझने में काम में लाते हैं। हमारा जीवन अनेक सिद्धान्तों के द्वारा सञ्चालित होता है। ये सिद्धान्त हम अपने अनुभव पर ही बनाते हैं अथवा किसी दूसरे के अनुभव को ठीक मान लेते हैं। समाज में प्रचलित अनेक कहावतें समाज के अनेक लोगों के अनुभव को सुसङ्गठित करती हैं। ये कहावतें भी हमारे जीवन के अनेक निर्णयों में काम में आती हैं। बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्त भी हम दूसरे लोगों से सीख लेते हैं और फिर अपने जीवन में उनकी सत्यता परखते हैं।

हम किसी बालक को देखते हैं और कहते हैं कि यह बड़ा होनहार है। हम इस प्रकार का निर्णय करते हैं। इस निर्णय पर पहुँचने के लिए हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों को काम में लाते हैं जिन्हें हम सत्य जानते हैं। संभव है कि हमने बालक में चञ्चलता देखी और इसी के आधार पर इस निर्णय पर आये कि अमुक बालक होनहार है। यहाँ पर हमने एक व्याप्ति[3] का प्रयोग किया, "जो बालक चञ्चल होता है वह होनहार होता है।" यह व्याप्ति सिद्धान्त के रूप में हम मान लेते हैं और इसी के आधार पर निर्णय पर आते हैं। अब यदि हम अपने विचार की प्रक्रिया को स्पष्ट करें तो उसे इस प्रकार पावेंगे—

सभी चञ्चल बालक होनहार होते हैं,
यह बालक चञ्चल है,
अतएव यह होनहार है।

यहाँ बालक का एक गुण स्पष्ट है। इसके आधार पर हम दूसरे गुणों का अनुमान करते हैं। यह अनुमान व्याप्ति के आधार पर होता है। यह व्याप्ति उस ज्ञात और अज्ञात गुणों की सहचारिता के ज्ञान पर आधारित होती है।

---

1. Deductive reasoning. 2. Inductive reasoning.
3. Generalization.

जब हम विचार की प्रक्रिया का न्याय-शास्त्र की दृष्टि से विवेचन करते हैं तो उसे एक प्रकार का पाते हैं और जब उसका विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया जाता है तो हम उसे दूसरे प्रकार का पाते हैं। न्यायशास्त्र के ढङ्ग से लिखे जाने पर निगमनात्मक विचार में सिद्धान्त अथवा व्याप्ति का स्थान प्रबल होता है; उसके बाद पक्ष[1] और लिंग[2] के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाता है; सबके पीछे पक्ष और साध्य[3] के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पहले-पहल हमारे सामने समस्या आती है। समस्या हल करने के लिए किसी कुञ्जी[4] की आवश्यकता होती है। इस कुञ्जी की खोज में हम अपने सामने की बातों को उलट-पलट करते हैं। कुञ्जी का अनुमान होने पर उसे समस्या को हल करने में काम में लाते हैं। जब समस्या हल हो जाती है तो हम सन्तुष्ट हो जाते हैं।

मान लीजिए, हम अपने कमरे को खुला छोड़कर चले जाते हैं और हमारी सोने की जेब-घड़ी टेबुल पर से खो जाती है। अब हम उसकी खोज में लग जाते हैं। यहाँ घड़ी का खो जाना हमारे सामने समस्या है। हम अनेक प्रकार की कल्पनाएँ मन में लाते हैं, इधर-उधर भी पूछते हैं। हमें कुछ देर बाद मालूम होता है कि कोई व्यापारी हमारे कमरे में आया था। अब हमें एक प्रकार का निश्चय-सा हो जाता है कि वही मनुष्य हमारी घड़ी ले गया, क्योंकि हमारी यह धारणा बनी हुई है कि अपरिचित व्यक्ति हमारा सामान ले जा सकता है।

व्यावहारिक विचार में कठिनाई वस्तु-स्थिति का ठीक निरीक्षण करने में होती है। भले प्रकार स्थिति का निरीक्षण करने पर समस्या शीघ्रता से हल हो जाती है। समस्या हल होने का अर्थ यह है कि किसी भी एक घटना का एक सामान्य नियम के अन्तर्गत समावेश हो गया। मान लीजिए, हम एक नवयुवक की अचानक मृत्यु का वृत्तान्त सुनते हैं। हम इसका कारण जानना चाहते हैं। जब हम यह जान लेते हैं कि उसे एक घातक बीमारी पहले से ही थी जिससे कि उसकी मृत्यु हुई तो हमें सन्तोष हो जाता है।

आगमनात्मक विचार—अन्वेषणात्मक विचार का लक्ष्य किसी नये सिद्धान्त की खोज होता है। जब हम एक ही प्रकार की घटनाओं को बार-बार होते देखते हैं तो हम एक ऐसे नियम की खोज करना चाहते हैं जो इस प्रकार की घटनाओं से हमें बुद्धिगम्य बना दे। हम देखते हैं कि जब हम किसी भारी वस्तु को पानी में डालते हैं तो वह हलकी हो जाती है। इस प्रकार का हमारा

---

1. Minor term. 2. Middle term 3. Mazor term. 4. Clue.

सामान्य अनुभव है। इस अनुभव के आधार पर हम एक प्रयोग करते हैं और देखते हैं कि वास्तव में पानी में और हवा में अनेक पदार्थों को तौलने से उनके वजन में अन्तर होता है। इस अन्तर का जब हम उन वस्तुओं के हवा के वजन से अनुपात स्थिर कर लेते हैं तो एक नियम पर पहुँच जाते हैं। आर्कमिडीज नामक वैज्ञानिक ने इसी तरह विभिन्न धातुओं को पानी में तौल करके वजन के कमी का नियम स्थिर किया।

किसी भी नये सिद्धान्त को स्थिर करना एक भारी मानसिक प्रयास है। पर इस प्रकार का प्रयत्न हम सदा करते रहते हैं। मनुष्य की बुद्धिमानी उसके सांसारिक पदार्थों के व्यवहारों के नियमों के ज्ञान पर निर्भर है। जिस मनुष्य को जितना ही अधिक इन नियमों का ज्ञान होता है, वह उतना ही बुद्धिमान है। नियमों का ज्ञान दूसरों से सुनकर अथवा स्वयं अनुभव करके प्राप्त किया जा सकता है। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान ठोस ज्ञान होता है। यह अपरोक्ष-ज्ञान है, दूसरे से सुना हुआ ज्ञान परोक्ष-ज्ञान है।

अच्छा तो यह होता कि हमारा सभी ज्ञान हमारे अनुभव के ऊपर आधारित होता। पर ऐसा होना असम्भव है, मनुष्य का जीवन-काल सीमित है, अतएव उसे जीवन को सफल बनाने के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है वह अपने जीवन-काल में प्राप्त नहीं कर सकता। उसे दूसरों के अनुभव पर निर्भर होना ही पड़ता है। वह अनुभव कुछ सिद्धान्तों, नियमों और कहावतों के रूप में मिलता है। हम इन सिद्धान्तों, नियमों और कहावतों की सत्यता पीछे अपने अनुभव में उन्हें काम में लाकर जानते हैं।

अन्वेषणात्मक विचार को कभी-कभी वैज्ञानिक विचार कहा जाता है। इस वैज्ञानिक विचार के निम्नलिखित पाँच अङ्ग माने गये हैं—

(१) प्रदत्तों[1] का इकट्ठा करना,
(२) उनका वर्गीकरण[2] करना,
(३) कल्पना[3] की सृष्टि,
(४) कल्पना की सत्यता घटनात्मक विधि द्वारा सिद्ध करना[4] और
(५) नियम[5] का स्थिर करना।

एक साधारण वैज्ञानिक नियम को लीजिए। सफेद किरण सात रंग की बनी हुई है। इसका आविष्कर कैसे हुआ? लोगों ने देखा है कि जब कभी डूबते हुए सूर्य की किरणें सामने के बादलों पर पड़ती हैं तो इन्द्रधनुष दिखाई

---

1. Data. 2. Classification. 3. Hypothesis. 4. verification. 5. Law.

देता है। इसी तरह तिकोने काँच से पार होकर आनेवाला प्रकाश सात रङ्ग का दिखाई देता है। इस प्रकार के अनेक अनुभव हुए। ये अनुभव वैज्ञानिक खोज के लिए प्रदत्त हैं। इन प्रदत्तों में से सम प्रदत्तों का संग्रह एक जगह किया गया और विषम प्रदत्तों को अलग रखा गया। यह प्रदत्तों का वर्गीकरण है।

इसके उपरान्त अनेक प्रकार की कल्पनाएँ मन में लाई गईं, जिससे कि विलक्षण अनुभव एक नियम के अन्तर्गत सूत्रीभूत किए जा सकें। उनमें से एक कल्पना यह हुई कि सफेद रङ्ग सात रङ्गों का बना हुआ है। इस कल्पना के आने पर अनेक प्रयोग किये गये। ये प्रयोग दो प्रकार के थे, एक सफेद रङ्ग का विश्लेषण करने के लिए और दूसरे सात रङ्गों को मिलाकर सफेद रङ्ग को बनानेवाले। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप यह स्थिर हुआ कि सफेद रङ्ग सचमुच में सात रङ्गों का बना हुआ है।

अब जब हम स्पेक्ट्रम की तख्ती को घूमते हुए देखते हैं और उसके सातों रङ्गों के स्थान पर जब हमें एक सफेद रङ्ग ही दिखाई देता है तो आश्चर्य नहीं होता। हम इस अनुभव को रङ्गों की बनावट के नियम के द्वारा समझ लेते हैं। इस नियम की खोज आगमनात्मक विचार अर्थात् वैज्ञानिक विचार का परिणाम है।

प्रत्येक प्रकार का विचार एक प्रश्न के रूप में हमारे समक्ष आता है। बुद्धि का यह स्वभाव है कि वह सभी घटनाओं में एकता ढूँढ़ती है। जब हम किसी विशेष घटना को एक नियम का दृष्टान्त मात्र जान लेते हैं तो हमें सन्तोष हो जाता है। इस सन्तोष के होने पर विचार की खोज बन्द हो जाती है। घटना को सार्थक बनानेवाला नियम या तो हमें पहले से ही ज्ञात रहता है अथवा हम उस नियम की खोज करते हैं। निगमनात्मक विचार का ध्येय किसी घटना को जाने हुए नियम के अन्दर समावेश करना होता है, आगमनात्मक विचार का ध्येय नये नियम की खोज रहती है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य के प्रश्न उसकी हल करने की योग्यता पर निर्भर रहते हैं। जिस मनुष्य की बुद्धि प्रखर नहीं होती उसे जटिल प्रश्न नहीं सूझते। बालकों के प्रश्न सरल होते हैं, प्रौढ़ व्यक्तियों के प्रश्न जटिल होते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य के विचार करने की शक्ति विकसित होती जाती है, उसके प्रश्न भी अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं। जो मनुष्य जितना ही अधिक जीवन की अनेक घटनाओं पर विचार करता है उसका विचार उतना ही विकसित हो जाता है। एक ही घटना दो व्यक्तियों के

मन में दो प्रकार का भाव डाल सकती है। एक घटना के विषय में कुछ भी परवाह नहीं करता और दूसरा उसके विषय में इतना चिन्तित हो जाता है कि उसको वह अपनी अनेक समस्याओं को हल कर लेने की कुञ्जी मान लेता है।

विचार और अन्य मानसिक शक्तियाँ

मनुष्य की प्रकृति में तीन प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण है—क्रिया, भाव और ज्ञान। दूसरे प्राणियों के भी यही तीन तत्त्व रहते हैं। प्राणियों की क्रियात्मक प्रवृत्ति उनकी इच्छाओं में निहित रहती है और उनकी भावात्मक प्रवृत्ति उनके राग और द्वेषात्मक मनोविकारों में। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य सभी प्राणियों में ज्ञान, क्रिया और भाव का दास होता है। उसका विकास भी इन्हीं की गति पर निर्भर रहता है। जो प्राणी जितना ही क्रियाशील होता है उसका ज्ञान उतना ही बढ़ा-चढ़ा रहता है। मानव-जीवन के निचले स्तरों में भी यही नियम कार्य करता है, पर आगे चलकर ज्ञान, क्रिया का स्वामी बन जाता है। शोपनहावर महाशय का इच्छा और ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त यहाँ उल्लेखनीय है। शोपनहावर महाशय के कथनानुसार मनुष्य के जीवन में दो तत्त्व काम करते हैं—एक इच्छा और दूसरा ज्ञान। इच्छा मनुष्य की क्रियात्मक और भावात्मक मनोवृत्ति है। यह ज्ञान को अपना दास बनाकर रखती है, अर्थात् हमारा ज्ञान उसी ओर वृद्धि करता है जिस ओर कि हमारी इच्छाओं की तृप्ति होती है। इच्छा सदा अपना रूप बदलती रहती है और उसकी माँगों को पूरा करना मनुष्य को कभी भी सम्भव नहीं होता। हमारा सांसारिक ज्ञान इसी इच्छा की पूर्ति पर निर्भर रहता है। हम उन्हीं बातों पर विचार करते हैं जिन्हें हम अपने लिए किसी न किसी प्रकार उपयोगी समझते हैं। विचार में काम में आनेवाली हमारी युक्तियाँ भी इच्छापूर्ति करने की ओर होती हैं। ये इच्छाएँ सांसारिक जीवन में सुखी रहने और सन्तति-वृद्धि से सम्बन्ध रखती हैं। इच्छाओं के प्रतिकूल यदि कोई युक्ति हमें सुझाई जाय तो उसे हमारा मन स्वीकार नहीं करता। इस तरह हमारा तर्कयुक्त विचार भी सदा स्वार्थमय और एकाङ्गी होता है। जब कभी प्रबल इच्छाओं के प्रतिकूल विचार जाता है और वह इन इच्छाओं की अवहेलना करने की चेष्टा करता है तो विचार में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है, जिसका परिणाम पागलपन होता है।

उपर्युक्त कथन विचार के निचले स्तरों के लिए सत्य है। इच्छा की दासता करते-करते जब विचार थक जाता है तो वह स्तब्ध हो जाता है। ऐसी

अवस्था के पश्चात् विचार का रुख बदल जाता है। वह अब इच्छा से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करता है और इच्छा का स्वामी बन जाता है। बालकों और साधारण मनुष्यों में विचार इच्छा का दास होता है। सच्चे दार्शनिकों और विवेकी पुरुषों में विचार इच्छा का स्वामी होता है। बालकों में विचार का विकास उनकी क्रियाशीलता पर निर्भर रहता है, प्रौढ़ व्यक्तियों में विचार-विकास मन की चञ्चलता पर विजय करने पर निर्भर रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अपनी इच्छाओं को अपने वश में करने में समर्थ होता है उसका विचार उतना ही उच्च कोटि का होता है। वास्तव में मनुष्य के मानसिक जीवन के विकास का ध्येय मनुष्य को विचार-स्वातन्त्र्य प्रदान करना है। यह स्वतन्त्रता कोई बाहरी स्वतन्त्रता नहीं, यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। इसी स्वतन्त्रता में मानव-जीवन का सुख और पूर्णता है।*

पश्चिम के कुछ विद्वानों ने कुछ विचार की उपयोगिता प्राकृतिक जीवन में सहायता करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानी है। जो विचार हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में नहीं आता वह व्यर्थ विचार है। इस मत के लोग तत्त्व का चिन्तन एक व्यर्थ मानसिक क्रिया मानते हैं। अमेरिका में इस मत को माननेवाले अनेक लोग हैं। विलियम जेम्स और ड्यूई महाशयों ने इसी मत का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त को प्रगमेटिज्म कहते हैं।

संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक इस मत का प्रतिवाद करते हैं। यदि हम इस मत को मान लें तो आध्यात्मिक उन्नति जो विचार-स्वातन्त्र्य में है कोरी कल्पना मात्र हो जाय। मनुष्य के व्यक्तित्व में अनेक तत्त्व हैं, पर उनमें प्रधान विचार को माना जाता है। जब तक हम अपने जीवन को विवेक के द्वारा सञ्चालित करते हैं हम अपने आपको धन्य मानते हैं, जब हम विवेक के प्रतिकूल कुछ कर बैठते हैं तो अपने आपको कोसते हैं। यदि विचार का लक्ष्य इच्छाओं को तृप्त करना मात्र होता तो इस प्रकार की अनुभूति असम्भव होती। ज्ञान को स्वतः लक्ष्य माने बिना नैतिकता सार्थक नहीं होती। नैतिक जीवन तभी सम्भव है जब विचार में स्वार्थभाव के परे जाने अर्थात् इच्छा के प्रतिकूल काम करने की शक्ति रहे।

---

* यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता का निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ अध्याय ५, श्लोक २३

जो मनुष्य शरीर के नाश होने के पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है, वह इस लोक में योगी है और वही सुखी है।

वास्तव में सबसे ऊँचे विचार का उदय तभी होता है जब हम अपने स्वार्थ के प्रतिकूल आचरण करने की चेष्टा करते हैं अथवा अपने स्वार्थमय आचरण की विवेचना करने लगते हैं। जो विचार कर्तव्य के विषय में चिन्तन करने से होता है वह अन्यथा नहीं होता, पर कर्तव्यप्रिय मार्ग का नाम नहीं है। कर्तव्य-पथ पर चलकर मनुष्य अपने जीवन की आहुति भी दे डालता है। इससे यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक जीवन का पोषण करना विचार के विकास का लक्ष्य नहीं है।

प्रश्न

१—विचार का मनुष्य के जीवन में क्या महत्त्व है ? विचार और चरित्र का सम्बन्ध क्या है ?

२—विचार की प्रक्रिया का विश्लेषण करके उसके विभिन्न अंगों को उदाहरण देकर समझाइए।

३—प्रत्ययात्मक विचार का स्वरूप क्या है ? इसका भेद दूसरे प्रकार के विचार से उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

४—प्रत्यय-ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है ? उदाहरण देकर समझाइए।

५—भाषा और विचार का क्या सम्बन्ध है ? विचारों को भाषा में प्रकाशित करने से क्या लाभ होता है ?

६—विचार करने के ढङ्ग कौन-कौन से हैं, उदाहरण देकर समझाइए।

७—आगमनात्मक विचार के मुख्य अंग कौन से हैं ? इस प्रकार के विचार की प्रक्रिया को उदाहरण देकर समझाइए।

८—विचार और क्रिया का सम्बन्ध क्या है ? विचार में क्रिया के द्वारा क्या विशेषता आती है ?

९—विचार-स्वातन्त्र्य का मनोवैज्ञानिक अर्थ क्या है ? क्या मनुष्य को इस प्रकार की स्वतन्त्रता सम्भव है ?

———

पन्द्रहवाँ प्रकरण

इच्छाशक्ति और चरित्र[1]

इच्छाशक्ति का स्वरूप

इच्छाशक्ति मनुष्य की वह मानसिक शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी प्रकार के निश्चय पर पहुँचता है और उस निश्चय पर दृढ़ रहकर उसे कार्यान्वित करता है। किसी वस्तु की चाह को हम इच्छा कहते हैं। चाह मनुष्य के वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। उसका लक्ष्य किसी भोग की प्राप्ति होता है।

हमारा मन अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करना चाहता है; अर्थात् हमारे मन में अनेक प्रकार की भूखें[2] हैं। इन भूखों को चाह कहते हैं। भूखे मनुष्यों और पशुओं में समानता होती है। मनुष्य की भूखों की संख्या पशुओं की भूखों से कहीं अधिक होती है। उनके प्रकार में भेद नहीं होता। भूख का कारण किसी भी प्रकार की वेदना की निवृत्ति की आन्तरिक प्रेरणा होती है। जब किसी प्रकार की भूखों को विचार के द्वारा सोचकर वास्तविक जगत् के विभिन्न विषयों की चाह में परिणत कर दिया जाता है तो वह इच्छा कही जाती है। भूख का वास्तविकता की वस्तुस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं। भूख जीने और जीवन-विकास की चाह मात्र होती है। इच्छा वास्तविकता के ज्ञान तथा पदार्थ-ज्ञान दोनों के उपरान्त होती है। जब भूख की दृष्टि से वास्तविक पदार्थों की ओर देखा जाता है तो ये अनेक प्रकार की इच्छाओं के कारण बन जाते हैं; अर्थात् भूख, चाही हुई वस्तु का ज्ञान होने पर और विचार द्वारा नियन्त्रित होने पर इच्छा रूप धारण कर लेती है।

इच्छा क्रियात्मक मनोवृत्ति का नाम है। हमारे मन में ऐसी अनेक क्रियात्मक मनोवृत्तियाँ हैं। कुछ क्रियात्मक मनोवृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं; अर्थात् चेतना को उनका ज्ञान रहता है और कुछ अप्रकाशित होती हैं। अप्रकाशित इच्छाओं को वासना कहा जाता है और प्रकाशित इच्छाओं को इच्छा[3] शब्द से ही सम्बोधित करते हैं। हमारी इच्छाएँ एक दूसरी के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होती हैं। अनुकूल इच्छाएँ एक दूसरे का बल बढ़ाती हैं। प्रतिकूल इच्छाएँ मन में द्वंद्व उत्पन्न करती हैं। जब मन में इच्छाओं के प्रतिकूल

---

1. Will and Character. 2. Appetites 3. Desire.

होने के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होता है तब इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है। इच्छाशक्ति ही दो विरोधी इच्छाओं का अन्त करती है, वही एक इच्छा को अपने निर्णय के द्वारा बलवान् अथवा विजयी बनाती है और दूसरे का दमन कर देती है। किसी प्रकार का निर्णय करना इच्छाशक्ति का सर्व-प्रथम कार्य है।

मान लीजिए, एक बालक अपने जन्म-दिवस के दिन दस रुपया अपने पिता से पाता है। वह इन रुपयों से अपनी कुछ इच्छाओं को तृप्त करना चाहता है। उन इच्छाओं में से दो इच्छाएँ प्रबल हैं। एक नया जूता खरीदने की इच्छा और दूसरी एक नयी किताब खरीदने की इच्छा। किसी को नये जूते पहने देखते ही उसके मन में नये जूते खरीदने की इच्छा उठती है। कुछ देर बाद उसे अपनी पढ़ाई की याद आती है और वह एक आवश्यक पुस्तक के न होने के कारण अनेक प्रकार की असुविधा का स्मरण करता है। अतएव उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि वह उस नवीन पुस्तक को खरीदे, किन्तु जो रुपये उसके पास हैं उनसे वह दोनों कार्य नहीं कर सकता। नये जूते खरीदने पर उसे नई पुस्तक नहीं मिलेगी और नई पुस्तक खरीदने पर उसे नया जूता नहीं मिलेगा। वह अपनी एक ही इच्छा को तृप्त कर सकता है, दोनों को नहीं। ऐसी स्थिति में इन दोनों परस्परविरोधी इच्छाओं में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व कुछ समय के लिए बाहरी क्रिया करने से बालक को रोक देता है। बालक इस अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था में न तो जूता खरीदने के लिए सचेष्ट होता है और न पुस्तक खरीदने के लिए। वह पहले अपने प्रत्येक संकल्प के भावी परिणाम की कल्पना करता और उनकी तुलना करता है। वह अपनी कल्पना में यह निश्चित करता है कि वह नया जूता पहनकर कैसा दिखाई देगा और फिर वह यह चित्रित करता है कि नई पुस्तक को पाकर उसकी परिस्थिति कैसी बदल जायगी। जो मानसिक चित्र उसे अधिक रमणीय लगता है उसके अनुसार उसका कार्य होने लगता है। यदि उसका जूता खरीदने का निर्णय हुआ तो जूता खरीदता है और यदि पुस्तक खरीदने का हुआ तो पुस्तक खरीदता है। एक बालक इस स्थिति में जूता खरीदने का निर्णय कर सकता है और दूसरा पुस्तक खरीदने का। किसी प्रकार के निर्णय पर पहुँचना बालक की इच्छाशक्ति और चरित्र पर निर्भर रहता है। निर्णय का कार्य अपने आप नहीं होगा।

कौन-सा कार्य करना भला है और कौन-सा कार्य करना बुरा है, इस

निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मनुष्य किसी विशेष सिद्धान्त का प्रयोग करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ही विभिन्न प्रकार की इच्छा की तुलना की जाती है। तुलना के उपरान्त निर्णय होता है। इस निश्चय पर पहुँचने पर इच्छाशक्ति काम करती है। इच्छाशक्ति इच्छा से अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति है। कोई इच्छा कितनी ही प्रबल क्यों न हो, इच्छाशक्ति में उस इच्छा को कार्यान्वित होने से रोक देने की शक्ति है। इसी तरह निर्बल इच्छा को भी सबल बनाकर क्रियमाण करने की शक्ति इसी इच्छा-शक्ति में है।

निर्णय का स्वरूप[1]

इच्छाशक्ति को निश्चयात्मक कार्य करने की शक्ति कहा गया है। यहाँ यह प्रदर्शित करना आवश्यक है कि निश्चय की विभिन्न स्थितियाँ क्या हैं, जिससे हम उसके वास्तविक रूप को समझ सकें। गाल्ट और हावर्ड महाशयों ने निश्चयात्मक क्रिया की निम्नलिखित पाँच स्थितियाँ मानी हैं —

(१) दो प्रकार की प्रवृत्तियों का चेतना के समक्ष आना।

(२) इन प्रवृत्तियों की पूर्ति की कल्पना उठना और उस पर विवेचना होना।

(३) उनके सम्भावी परिणामों का कल्पना में आना और उनकी कीमत आँका जाना।

(४) इनकी कीमत की तुलना होना और निर्णय पर पहुँचना।

(५) निर्णय का कार्यान्वित होना।

उपर्युक्त उदाहरण में हम निश्चयात्मक कार्य की इन पाँचों स्थितियों को देखते हैं। बालक के मन में पुस्तक खरीदने और नया जूता खरीदने की दो इच्छाएँ उठती हैं। पहले एक इच्छा उठती है, उसके बाद ही उसकी विरोधी दूसरी इच्छा।

चेतना में दो प्रकार की प्रवृत्तियों का सामने आना निश्चय की पहली स्थिति है। अनेक बार बालक कल्पना करता है कि वह नया जूता पहनकर कैसा दिखाई देगा और पुस्तक को प्राप्त करके उसे क्या सुविधा मिलेगी। यह निश्चय की दूसरी स्थिति है। फिर वह बालक विचार करता है कि नया जूता पहनना अच्छा है अथवा पुस्तक खरीदना। यह निश्चय की तीसरी स्थिति है। इसके उपरान्त वह दोनों बातों की तुलना कर एक निर्णय पर

1. Decision.

आता है, यह निश्चय की चौथी स्थिति है। मान लीजिए, वह बालक निर्णय करता है कि उसे पुस्तक ही खरीदनी चाहिए। इस निर्णय के उपरान्त वह तदनुसार काम में लगता है। यह निश्चय की पाँचवीं स्थिति है; अर्थात् निणय का क्रियान्वित होना निश्चय की अन्तिम स्थिति है।

स्टाउट महाशय ने निश्चयात्मक क्रिया की निम्नलिखित छः स्थितियाँ बताईं जो उपर्युक्त गाल्ट और हावर्ड महाशय के अनुसार बताई हुई स्थितियों से मिलती जुलती हैं।

(१) एक चाह का मन में उठना,
(२) उसकी विरोधी चाह का मन में उठना,
(३) दोनों में द्वन्द्व उत्पन्न होना,
(४) मन में उथल-पुथल होना,
(५) निर्णय पर पहुँचना और
(६) निर्णय का कार्यान्वित होना।

उपर्युक्त बालक के निश्चयात्मक कार्य में हम इन छः स्थितियों को देखते हैं। जूता खरीदने की चाह उसकी पहली इच्छा है। पुस्तक खरीदने की चाह उसकी दूसरी इच्छा है। ये एक के बाद एक उठती हैं। तीसरी स्थिति में उनमें द्वन्द्व उठता है। इससे मन में उथल-पुथल होती है। यह स्थिति बड़े महत्व की है। मन की उथल-पुथल की अवस्था में बाह्य क्रिया का अवरोध हो जाता है। अनेक प्रकार की कल्पनाएँ मन में आतीं और विसर्जित होती हैं। यह स्थिति बड़ी क्लेशकर होती है। इस स्थिति का अन्त मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र चाहता है। कितने ही मनुष्यों के मन में किसी विशेष महत्व का काम करने के समय वह स्थिति कई दिनों तक रहती है। महत्त्व के कार्य करने के पूर्व इस स्थिति का होना आवश्यक है। विवेकी पुरुष उसी को कहते हैं जिसके प्रत्येक महत्वकारी निर्णय के पूर्व वह स्थिति मन में होती है, किन्तु मन का बार-बार इस स्थिति पर पहुँचना उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। मन की उथल-पुथल से उसकी शक्ति की हानि होती है और यदि प्रत्येक छोटे कार्य के पूर्व किसी व्यक्ति के मन में इस प्रकार की उथल-पुथल हो तो वह व्यक्ति विक्षिप्त-सा हो जाता है। वास्तव में मनुष्य की विक्षिप्त अवस्था में ही उसे अपने छोटे कार्य करने के लिए बड़ी देर तक चिंतन करना पड़ता है। उसकी स्वस्थ अवस्था में उसके साधारण जीवन के अनेक निर्णय उसके अभ्यास के द्वारा सञ्चालित होते हैं,

अर्थात् उसके निर्णय उसके अभ्यास के अनुकूल होते हैं। जिस मनुष्य ने अपने जीवन में विशेष प्रकार की मौलिक आदतें नहीं डाली हैं उसके मन में किसी भी निर्णय को करते समय बार-बार उथल-पुथल होती है। उसका जीवन सदा क्लेशमय होता है। सुन्दर आदतों के डालने तथा कुछ जीवन के विशेष सिद्धान्तों को मान लेने का मौलिक लाभ यह है कि मनुष्य को बार-बार मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का क्लेश नहीं उठाना पड़ता। जो शक्ति हमारे अन्तर्द्वन्द में खर्च हो जाती है, सुरक्षित रहती है। इस शक्ति का उपयोग हम अपने निश्चय को कार्यान्वित करने में लगा सकते हैं। जिन लोगों की मानसिक शक्ति का अपव्यय किसी निर्णय पर पहुँचने में ही हो जाता है, वे दृढ़ता के साथ अपने निश्चय को कार्यान्वित नहीं कर पाते और अक्सर असफल होते हैं। शेक्सपियर के हेमलेट नाटक में हेमलेट के जीवन की असफलता का यही प्रधान कारण है।

निर्णय के प्रकार

निर्णय प्रधानतः चार प्रकार के माने जा सकते हैं—

(१) विवेक-युक्त[1],

(२) आकस्मिक[2],

(३) संवेगात्मक[3] और

(४) बाध्य[4]।

इन निर्णयों की विशेषताएँ मनुष्य की इच्छाशक्ति का कार्य समझने के लिए परमावश्यक हैं।

विवेकयुक्त निर्णय—जब किसी कार्य को करने का निश्चय करने के पूर्व मनुष्य उसके सभी पहलुओं पर विचार करता है; जब वह उस काम से अपने आपकी होनेवाली सभी हानि-लाभ की कल्पना करके किसी काम को करने का निश्चय करता है तो उसके निर्णय को विवेकयुक्त निर्णय कहा जाता है। विवेकयुक्त निर्णय पर पहुँचने के लिए निर्णय की सभी मानसिक स्थितियों को पार करना पड़ता है।

जब कभी मनुष्य किसी एक निर्णय को करता है तो उसे अपने किसी एक इच्छा को ही तृप्त करना स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी दूसरी इच्छाएँ दलित होती हैं। विचार के द्वारा मनुष्य अपनी पारस्परिक विरोधी इच्छाओं में सामञ्जस्य स्थापित करने की कोशिश करता है तथा जिस

---

1. Reasonable. 2. Accidental. 3. Impulsive. 4. Forced.

इच्छा की तृप्ति से उसके जीवन की सबसे अधिक पूर्ति होती है, उसे खोजकर उसको दृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है।

हम सभी सोचते हैं कि हमारे अधिक निर्णय विवेक-युक्त होते हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। हमारा विरला ही निर्णय पूर्णतः विवेक-युक्त होता है। जिस व्यक्ति की सभी क्रियायें विवेक के द्वारा संचालित हों, ऐसा व्यक्ति विरला ही होता है। हमारे साधारण निर्णय विवेक के द्वारा संचालित न होकर हमारी सुप्त वासना और संस्कारों के द्वारा संचालित होते हैं। जब कि हम विवेक से ही कार्य करने का दावा रखते हैं, उस समय भी हम पूर्णतः विवेकशील नहीं रहते। इतना ही नहीं जो व्यक्ति जितना अपने आपको सत्य का अनुगामी और दूसरों को सत्य के प्रतिकूल जानेवाला बताता है वह उतना ही अधिक अपने आपको धोखा देता है।

जब मनुष्य अपने जीवन के कुछ सिद्धान्त बना लेता है तो उसे किसी विशेष परिस्थिति में निर्णय पर आने में सहूलियत होती है। सिद्धान्तों के अनुसार जीवन के संचालित होने पर किसी विशेष निश्चय पर आने में देरी भी नहीं लगती। सिद्धान्त पर चलने वाले व्यक्ति की इच्छाशक्ति दृढ़ होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने निश्चित शिद्धान्तों के अनुसार निर्णय करता है वह उतना ही अधिक मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में मुक्त रहता है। ऐसा ही व्यक्ति संसार में उपयोगी कार्य कर सकता है। जब मनुष्य के जीवन में कोई सिद्धान्त नहीं रहते तो उसकी मानसिक शक्ति अनेक प्रकार की चिन्ताओं में नष्ट हो जाती है। उसका कोई भी कार्य पूर्ण शक्ति के साथ नहीं होता। अतएव वह अधूरा ही रहता है।

आकस्मिक निर्णय—जब किसी निर्णय के पूर्व निश्चय की सभी मानसिक स्थितियाँ घटित होती हैं अर्थात् जब मनुष्य किसी कार्य के विषय में पूर्ण तर्क-वितर्क कर किसी निर्णय पर पहुँचता है तो उसे विवेकात्मक निर्णय कहते हैं। जिस निर्णय को पहुँचने में निश्चय की सभी अवस्थाओं को पार नहीं किया जाता, किन्तु किसी बाहरी घटना के कारण एकाएक निर्णय हो जाता है, ऐसे निर्णय को आकस्मिक निर्णय कहते हैं। मान लीजिए, हम विचार कर रहे हैं कि अपने मित्र की शादी में जायँ अथवा न जायँ। शादी में जाने के लिए हमें पढ़ाई का नुकसान करना पड़ता है। शादी कल ही होनेवाली है। हम बनारस में रहते हैं और मित्र का घर कानपुर में है। कानपुर जाने के लिए आखिरी गाड़ी के छूटने का समय आ गया। जब हम निर्णय कर ही रहे थे तो हमें मालूम होता है कि आखिरी गाड़ी तो चली ही गई। हमें फिर वही

निर्णय करना पड़ता है कि मित्र की शादी में न जायँ। यदि हमारी इच्छा अधिक प्रबल होती तो हम मोटर से जाने की बात सोचते, किन्तु जिस समय हमारा मन डाँवाडोल ही हो रहा था उसी समय हमें एक ऐसी घटना का ज्ञान होता है जो हमारे मित्र के घर पहुँचने में बाधा डालती है। अतएव हमारा आकस्मिक निर्णय यही होता है कि हम उनके घर न जायँ। कई बार इस प्रकार के आकस्मिक निर्णय कारणारोपण के विचार से युक्त होते हैं; अर्थात् हम झूठे ही किसी स्थिति को अपने निष्क्रिय होने अथवा विशेष प्रकार के कार्य का कारण मान लेते हैं। मान लीजिए, हमारी आंतरिक इच्छा मित्र के घर जाने की नहीं है, किन्तु लोकाचार-निर्वाह के लिए हम जाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में एक साधारण-सी घटना मित्र के घर से जाने में हमें रोक देती है।

संवेगात्मक निर्णय—वे हैं जिनमें हमारी कोई प्रबल इच्छा योग्य विचार को होने ही नहीं देती। जैसे आकस्मिक निर्णय में निश्चय की पाँचों स्थितियों को मन पार नहीं करता; इसी प्रकार संवेगात्मक निर्णय में भी मन निर्णय की पाँचों स्थितियों को पार नहीं करता। जैसे आकस्मिक निर्णय एकाएक होते हैं वैसे ही संवेगात्मक निर्णय भी एकाएक होते हैं। आकस्मिक और संवेगात्मक निर्णयों में भेद यह है कि एक का कारण बाह्य जगत् में होता है और दूसरे का कारण आन्तरिक होता है। जब किसी मनुष्य के मन में ऐसी प्रबल उत्तेजना होती है जो किसी प्रकार के बाधक विचार को मन में ठहरने ही नहीं देती और मनुष्य इस उत्तेजना के अनुसार कार्य करना निश्चय करता है तो इस प्रकार के निर्णय को संवेगात्मक निर्णय कहते हैं। मान लीजिए, हम किसी समाज में बैठे हुए हैं जहाँ हँसी-मजाक हो रहा है और हमारे साथियों में से एक हमसे भद्दा मजाक करता है। इस पर हम बिना आगा-पीछा सोचे ही गुस्से में आकर उसे एक तमाचा जड़ देते हैं। इस प्रकार का हमारा कार्य संवेगात्मक निर्णय का कार्य कहा जायगा। ऐसे कार्य के लिए अक्सर हमें पछताना पड़ता है। जिन मनुष्यों की इच्छाशक्ति कमजोर होती है अथवा जो अविवेकी हैं उनके जीवन में इस प्रकार के निर्णयों की अधिकता होती है। संवेगात्मक निर्णयों का परिणाम प्रायः दुखदाई होता है।

बाध्य निर्णय—वह है जिनमें हम किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए विचार करते-करते थक जाते हैं। हमारा मन अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हो उठता है। हम किसी प्रकार अपने मन की डाँवाडोल अवस्था का अन्त कर देना चाहते हैं, किन्तु हमें मार्ग नहीं सूझ पड़ता कि क्या करना चाहिए। जितना

हीं हम सोचते हैं हमारी बुद्धि और भी भ्रान्त होती जाती है। दोनों पक्षों में अनेक प्रकार के संशय उठते हैं और एक संशय को शान्त करने पर दस नये संशय उत्पन्न हो जाते हैं। तर्क-वितर्क करते-करते हम ऊब जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम किसी भी प्रकार के निर्णय का स्वागत करते हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी लोग पैसे को उछालकर उसके चित्त अथवा पट्ट होने पर किसी विशेष काम को करने अथवा न करने का निर्णय कर देते हैं। इन पहले दो प्रकार के निर्णयों में चरित्र-विकास की कमी रहती है। उनमें इच्छाशक्ति का निर्णयकारी कार्य नहीं देखा जाता। बाध्य-निर्णय चरित्र का दूषित होना दर्शाता है। सुविकसित तथा सुदृढ़ चरित्र के निर्णय विवेक-पूर्ण होते हैं। उसमें अन्य प्रकार के निर्णयों का सर्वथा अभाव नहीं तो कमी अवश्य रहती है।

पुनर्विचारात्मक निर्णय—वे हैं जिनमें मनुष्य एक निर्णय पर पहुँचने की पूर्ण तैयारी होने पर भी, किसी नई स्थिति का ज्ञान होने पर, उसके प्रतिकूल दूसरे निर्णय पर पहुँच जाता है। यह निर्णय ऊपरी दृष्टि से आकस्मिक निर्णय के समान होता है, किन्तु जहाँ पहले प्रकार का निर्णय विचार की कमी दर्शाता है, दूसरे प्रकार का निर्णय विचार की परिपक्वता दर्शाता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति यह निर्णय कर रहा है कि वह एक विशेष परीक्षा में बैठे अथवा न बैठे। उसकी परीक्षा की तैयारी कम है। इसलिए उसकी प्रवृत्ति अधिकतर न बैठने की है। उसके निर्णय करने के समय ही उसे ज्ञात होता है कि यदि वह परीक्षा में पास हो गया तो उसे एक अच्छी नौकरी मिल जायगी। यह विचार उसको अपनी पूर्व प्रवृत्ति के प्रतिकूल निर्णय करने के लिए विवश कर देता है। इस प्रकार का निर्णय पुनर्विचारात्मक निर्णय कहलाता है।

इच्छाशक्ति का विचार से सम्बन्ध

इच्छाशक्ति का विचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इच्छाशक्ति के कार्य मनुष्य के प्रबल विचार के अनुसार होते हैं। मनुष्य के निर्णय उसके भले और बुरे विचारों पर निर्भर करते हैं। जिस बात को वह भली समझता है उसे करने की उसकी इच्छा होती है। जिसे वह बुरी समझता है उसके नहीं करने की उसकी इच्छा होती है। जिस मनुष्य के विचार सुविकसित नहीं होते उसके निर्णय भी योग्य नहीं होते। जिस विषय के सम्बन्ध में हमारे कोई विचार ही नहीं उस विषय में हम कुछ निर्णय ही नहीं कर सकते। जिन लोगों को देशभक्ति क्या है, यह ज्ञात ही नहीं वे ऐसे कोई भी कार्य नहीं

कर सकते जो देशभक्ति का प्रदर्शन करें; अर्थात् देशभक्ति उनके कार्यों का हेतु नहीं बन सकती। इस तरह हमारे कार्यों के हेतु हमारे ज्ञान अथवा विचारों से सीमित रहते हैं। मनुष्य के मन में नये हेतुओं की उत्पत्ति के लिए उसकी ज्ञान-वृद्धि तथा विचार-वृद्धि की आवश्यकता है। विलियम जेम्स का कथन है कि जिस देश के निवासियों की भाषा में किसी विशेष सद्गुण का सूचक शब्द नहीं होता उन लोगों में वह सद्गुण भी नहीं रहता। जिस देश की भाषा में देशभक्ति के भावसूचक शब्द नहीं हैं उनमें देशभक्ति भी नहीं होती। भाषा में किसी विशेष शब्द की कमी उस शब्द के सूचक विचार की कमी को दर्शाता है और विचार की कमी होने पर चरित्र में उस गुण का आना असम्भव है। विचार ही क्रिया का कारण होता है, चाहे यह विचार विवेकपूर्ण हो अथवा विवेकरहित।

विलियम जेम्स का कथन है कि निर्णय का मुख्य अंग यह है कि कौन-सा विचार हमारी चेतना के समक्ष स्थिर रहे। जो विचार चेतना के समक्ष दृढ़ता से ठहरा रहता है, क्रिया अपने आप उसके अनुकूल होने लगती है। इच्छाशक्ति का मुख्य कार्य इसमें है कि विशेष प्रकार के विचार को चेतना के समक्ष दृढ़ता से ठहरावे और उसके प्रतिकूल विचारों का दमन कर दे।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य के जैसे विचार होते हैं उसकी इच्छा-शक्ति भी वैसे ही कार्य करती है और उसका चरित्र भी उसी प्रकार सुसंगठित होता है। विचारों का विकास इच्छाशक्ति के योग्य काम करने के लिए और चरित्र-विकास के लिए परमावश्यक है।

इच्छाशक्ति और ध्यान

इच्छाशक्ति का ध्यान की क्रिया से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऊपर बताया गया है कि मनुष्य जिस प्रकार के विचारों में अपना ध्यान केन्द्रित करता है उसकी क्रियाएँ भी उसी प्रकार की होने लगती हैं। कमजोर इच्छाशक्ति के व्यक्ति का ध्यान चञ्चल रहता है। बालकों में इच्छाशक्ति की कमी होती है और उनके ध्यान में चञ्चलता भी होती है। जैसे-जैसे बालक के किसी निश्चित विषय में ध्यान देने की शक्ति की वृद्धि होती है वैसे-वैसे उसकी इच्छाशक्ति में दृढ़ता भी आ जाती है। किसी पदार्थ पर ध्यान देने का अभ्यास करके इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाया जा सकता है।

कितने ही व्यक्ति एक बात का निश्चय करके समय पड़ने पर उसके अनुसार काम नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे अपने निर्णय को

ध्यान में नहीं रखते, उस पर बार-बार विचार नहीं करते। कोई काम कितना ही कठिन क्यों न हो यदि हम उसका चिन्तन हर समय करते रहें तो हम उसे सुगमता से कर सकते हैं। बहुत से काम कठिन इसलिए मालूम पड़ते हैं कि उनमें हमारी रुचि नहीं होती। जिस काम में रुचि होती है वह दूसरों को भले ही कठिन दिखाई दे, करनेवाले को कठिन नहीं दिखाई देता। किसी काम में रुचि का होना अथवा न होना उस काम पर ध्यान देने के ऊपर निर्भर रहता है। जिस बात के ऊपर ध्यान दिया जाता है वह रोचक बन जाती है और जब रोचक बन जाती है तब उसका करना सरल हो जाता है।

इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाने में ध्यान की महत्ता भारतीय दार्शनिकों ने मानी है। जो मनुष्य अपने मन को वश में कर लेता है; अर्थात् जो अपने ध्यान को जहाँ चाहे केन्द्रित कर सकता है वह अपनी अन्य क्रियाओं को भी अपने विवेक के अनुसार सञ्चालन कर लेता है। इसके प्रतिकूल जिसका ध्यान चञ्चल होता है उसके आचरण में भी कोई नियमबद्धता नहीं रहती। वह संसार में कोई भी महत्त्व का काम नहीं कर पाता। योग की अनेक प्रकार की साधनाएँ ध्यान को स्थिर करने के प्रयत्न मात्र हैं। ध्यान के चञ्चल रहने पर मनुष्य की इच्छाशक्ति बिखर जाती है और उसकी कर्यक्षमता नष्ट हो जाती है। ऐसे व्यक्ति में न तो किसी प्रकार की प्रतिभा का विकास होता है और न पराक्रम की सम्भावना होती है। अनेक वैज्ञानिकों ने प्रतिभा को किसी विषय पर देर तक ध्यान देने की शक्ति माना है। प्रतिभावान् व्यक्ति शुष्क विषय पर अपने ध्यान को देर तक केन्द्रित रख सकता है।

संसार के साधारण व्यक्ति उन्हीं पदार्थों पर ध्यान देते हैं जिनसे उनकी मूल-प्रवृत्तियों की तृप्ति होती है। ये वस्तुएँ अनेक रहती हैं, अतएव उनका ध्यान भी चञ्चल होता है। मूलप्रवृत्तिजन्य इच्छाओं के तृप्त करने में मनुष्य को आत्मसंयम की आवश्यकता ही नहीं होती। आत्मसंयम की आवश्यकता तभी पड़ती है जब उसे किसी ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने की आत्म-प्रेरणा हो जो मूल-प्रवृत्तियों की तृप्ति न कर उसके प्रतिकूल जाता है। मनुष्य जितना ही अधिक अपने आपको प्राकृतिक इच्छाओं के विषयों की ओर जाने से रोकता है अपनी इच्छाशक्ति को उतना ही दृढ़ बनाता है। अतएव शारीरिक सुख देनेवाले विषयों का सदा चिंतन करते रहना अपनी इच्छाशक्ति को निर्बल बनाना है। इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाने के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाले विषय का सदा चिंतन करते रहना आवश्यक है। हम जैसे सोचते हैं वैसा

ही करते हैं और जैसा हम आचरण करते हैं उसी के अनुसार व्यक्तित्व का गठन होता है।

इच्छाशक्ति की निर्बलता

इच्छाशक्ति का बल, आत्म-नियन्त्रण पर निर्भर रहता है। हमने ऊपर कहा है कि यह शक्ति निश्चित पदार्थ पर ध्यान देने की शक्ति के साथ-साथ बढ़ती है। क्रिया के सस्कार भी इस शक्ति की वृद्धि करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अपने निश्चयों को कार्यान्वित कर सकता है; अर्थात् एक ही विषय पर देर तक ध्यान लगाये रह सकता है वह उतना ही दृढ़ इच्छाशक्ति का होता है, किन्तु कमजोर इच्छाशक्ति वाले लोगों में न तो ध्यान की एकाग्रता की क्षमता होती है और न सोच विचार कर किसी निर्णय पर पहुँचने की। इच्छाशक्ति की कमजोरियाँ कई प्रकार की होती हैं। उनमें प्रधान ये हैं—

(१) किसी आवेश में बह जाना,

(२) हठ करना, और

(३) सदा डाँवाडोल रहना।

आवेश में बहना—पहले प्रकार की इच्छाशक्ति की कमजोरी बालकों में अधिक पाई जाती है। बालकों में विचार करने की शक्ति नहीं होती, अतएव उनका आवेश में आकर काम करना स्वाभाविक है। मनुष्य में आत्म नियंत्रण की शक्ति विचार के विकास के साथ-साथ आती है। विचार का विकास अनुभव की वृद्धि के ऊपर निर्भर रहता है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही अधिक आवेश में आकर काम करता है वह उतना ही बालक की मानसिक स्थिति में है और जो जितना ही अधिक आगा-पीछा सोचकर काम करता है; अर्थात् अपने संवेगों के ऊपर नियन्त्रण रख सकता है, वह उतना ही प्रौढ़ कहा जा सकता है। प्रौढ़त्व मनुष्य की आयु के ऊपर निर्भर नहीं है, उसकी आत्म-नियन्त्रण की शक्ति के ऊपर निर्भर है। कितने ही लोग जीवन भर सदा बच्चे की सी मानसिक स्थिति में ही बने रहते हैं। ऐसे लोगों की इच्छाशक्ति निर्बल रहती है। वे सरलता से दूसरों के नियन्त्रण में आ जाते हैं। वे दूसरों के निर्देशों को चाहे वे भले हों अथवा बुरे, ग्रहण कर लेते हैं और आप उनके अनुसार काम करने लगते हैं। शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति में एक भेद यह है कि शिक्षित व्यक्ति सदा आत्म-निरीक्षण करता रहता है। वह किसी भी घटना के तुरन्त के परिणाम पर ही विचार नहीं करता वरन्, उसके भावी परिणाम पर भी विचार करता है। उसके विचार

करने की शक्ति उसमें आत्मनियन्त्रण की क्षमता लाती है। यह क्षमता अशिक्षित व्यक्ति में नहीं होती। वे आगे-पीछे का बिना सोचे ही, जो कुछ मन में आता है, कर बैठते हैं।

हठ करना—हठ करना यह इच्छाशक्ति की दूसरी कमजोरी है। इच्छाशक्ति की दृढ़ता और हठ एक ही बात नहीं है। इच्छाशक्ति की दृढ़ता विवेक के द्वारा क्रियाओं के संचालित होने में है। मनुष्य को सदा अपनी क्रियाओं को वातावरण की आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहना पड़ता है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता वह अपना विनाश कर डालता है। हठी मनुष्य अपने तथा दूसरों के लाभ-हानि की ओर ध्यान नहीं देता, वह हठ में आकर जिस बात का निर्णय कर लेता है उसे करके ही छोड़ता है। उसकी बुद्धि भी बालकों की बुद्धि के समान है। जब बालक किसी बात के लिए रूठ जाता है तो हम जितना ही उसे रोकने का प्रयत्न करते हैं वह उतना ही और हठ करता है। बालक विवेकहीन है, इसलिए उसका इस प्रकार का आचरण स्वाभाविक है, किन्तु प्रौढ़ व्यक्तियों में इसी प्रकार का आचरण होना अस्वाभाविक है। यह विचार के विकास का अभाव अर्थात् विवेकशून्यता को दर्शाता है। हठीले लोगों को बाल बुद्धि का ही मानना चाहिए। जिन लोगों में जितना अधिक शिक्षा का अभाव होता है उनमें हठ भी उतना ही अधिक होता है। शिक्षा आत्मनिरीक्षण की शक्ति प्रदान करती है जो हठीलेपन को नष्ट कर देती है।

कभी-कभी शिक्षित कहे जानेवाले व्यक्तियों में हठ करने की बड़ी प्रबल प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का कारण उनके मन में उपस्थित कोई मानसिक ग्रन्थि होती है जिसका उन्हें ज्ञान नहीं रहता। जिस प्रकार पतंगा जल-भुनकर भी दीपक के समीप जाने का हठ नहीं छोड़ता उसी प्रकार हठ के वश हुए लोग सब प्रकार की हानि सहकर भी जो मन में बात आ गई उसके करने में ही लगे रहते हैं। कितने ही योद्धा अपने हठ के कारण नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी हठीले लोगों का अनुकरण करके राष्ट्र का राष्ट्र नष्ट हो जाता है*।

---

*विगत जर्मन-युद्ध में जर्मनी की पराजय का प्रधान कारण हिटलर का हठ ही था। उसकी हठीली मनोवृत्ति ने जहाँ एक ओर उसे जर्मन राष्ट्र का नेता बना दिया वहाँ दूसरी ओर उसका तथा जर्मन राष्ट्र का विनाश कर दिया। हिटलर तथा दूसरे नाजी नेताओं के हठ का यदि कारण ढूँढ़ें तो

सदा डाँवाडोल रहना—सदा डाँवाडोल रहना यह इच्छाशक्ति की कमजोरी का तीसरा रूप है। जिस प्रकार अशिक्षित व्यक्तियों में एकाएक निर्णय करने की अथवा हठ करने की प्रवृत्ति रहती है उसी प्रकार बहुत से शिक्षित व्यक्तियों में किसी विषय पर अत्यधिक विचार करने की प्रवृत्ति रहती है। जो व्यक्ति अधिक देर तक किसी काम के करने के लिए सोच-विचार करते रहता है, अर्थात् जो शीघ्रता से यह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे प्रस्तुत काम करना चाहिए या नहीं, वह अपनी सारी शक्ति निर्णय करने में ही खर्च कर देता है और जब काम करने का समय आता है तो वह काम के करने में अपने-आप को अयोग्य पाता है। कभी-कभी कोई-कोई लोग निर्णय में इतनी देर कर देते हैं कि वे जिस काम को करने का निश्चय करते हैं उसे कर ही नहीं पाते।

मान लीजिए, किसी व्यक्ति को बनारस से इलाहाबाद जाना है। वह छोटी लाइन अथवा बड़ी लाइन से जा सकता है। दोनों गाड़ियाँ एक ही समय छूटती हैं। अब यदि वह टिकट लेते समय देर तक इसी उथल-पुथल में पड़ा रहे कि किस लाइन से जाना चाहिए तो सम्भव है कि जब वह किसी एक निर्णय पर पहुँचे तो एक भी लाइन की गाड़ी उसे न मिले।

देखा गया है कि जिन लोगों को काम करने का अभ्यास नहीं रहता, जो सदा विचारों और सिद्धान्तों के जगत् में विचरण किया करते हैं वे दीर्घ-सूत्री बन जाते हैं। उनकी व्यवसायात्मक बुद्धि नष्ट हो जाती है। वे न यथा समय किसी काम के करने का निश्चय कर सकते हैं और न किसी निश्चय पर आने पर कुशलता के साथ उस काम को कर सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी निर्णय-शक्ति तथा कार्यक्षमता को नहीं खोना चाहता उसे यह आवश्यक है कि वह अपने आपको पोथी-पण्डित न बनावे, वह व्यावहारिक जगत् में भी सदा भाग लेता रहे। जो व्यक्ति सदा विद्याध्ययन में ही अपना समय बिताते रहते हैं वे व्यावहारिक जीवन में अपने-आपको

उसे हम उनके मन में उपस्थित आत्महीनता की ग्रन्थि ही पावेंगे। यही ग्रन्थि उन्हें संसार में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए बाध्य कर रही थी।

भारतवर्ष के दुर्दिन का प्रधान कारण यहाँ के निवासियों की हठ करने की मनोवृत्ति है। भारतवर्ष के लोग मानों समयानुसार आचरण बनाने की बिल-कुल ही क्षमता नहीं रखते। वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति में भी हठ की मनो-वृत्ति ही हमारी प्रगति रोक रही है।

पंगु बना देते हैं। इस तरह कितने ही अध्ययनशील व्यक्तियों का जीवन दयनीय हो जाता है।

जब हम किसी निर्णय को करने लगते हैं तो उस निर्णय पर पहुँचने में हमारी चेतना के समक्ष उपस्थित हेतु ही काम नहीं करते हैं वरन् बहुत से अज्ञात संस्कार भी काम करते हैं। जो व्यक्ति जिस प्रकार के काम करते रहता है उसके वे संस्कार उसे उसी प्रकार के काम करने की ओर अग्रसर करते हैं। अतएव जब किसी व्यक्ति के मन में व्यावहारिक जगत् में क्रिया करने के संस्कारों का अभाव रहता है तो वह व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी निर्णयों को भी शीघ्रता से नहीं कर सकता। जब उसे जीवन की कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है तो वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है।

कभी-कभी मनुष्य के मन में किसी मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति भी उसके मन को डाँवाडोल बना देती है। वह जिस निर्णय को करता है उससे सन्तुष्ट न होकर असन्तुष्ट ही रहता है। इस प्रसङ्ग में मार्गन महाशय का "साइकॉलॉजी ऑफ दी अनएडजस्टेड स्कूल चाइल्ड" में दिया हुआ निम्न-लिखित उदाहरण उल्लेखनीय है:—

एक दिन एक युवक एक कपड़ेवाले की दूकान पर अपने लिए एक टोप खरीदने गया। उसने बहुत से टोप देखकर एक को चुन लिया। दूकानदार को उसका पैसा चुकाकर और उस टोप को सिर पर रखकर दूकान से उसने चल दिया। ज्योंही वह दरवाजे के बाहर आया त्योंही उसके मन में यह विचार उठा कि मुझे यह टोप खरीदना नहीं चाहिये था। इसी प्रकार का विचार उसे मूर्खतापूर्ण दिखाई देता था, किन्तु फिर भी वह अपनी इस मनोभावना से मुक्त नहीं होता था कि उसने कोई बुरा काम किया है। वह रास्ते में चलते चलते अपने आप यह तर्क करता जाता था कि टोप खरीदने में पाप करने की धारणा बे-सिर-पैर की है, किन्तु उसका अवांछनीय विचार उसे छोड़ता न था। अन्त में कुछ दूर जाने के पश्चात् उसने दूकान की ओर फिर मुँह मोड़ा, अब वह इसे बदलने के लिए दूकान की ओर चलने लगा।

उसकी धारणा ने अब एक नया रूप धारण कर लिया। वह मन ही मन कहने लगा कि टोप अच्छा है, यदि मैं वापस करूँगा तो दूकानदार मेरे विषय में क्या सोचेगा। इससे यही अच्छा है कि मैं टोप को वापस न दूँ, वापस देना गलती करना है। जब तक वह दूकान पर पहुँचता तब तक उसका निश्चय यह हो गया कि टोप को उसे पास ही रखना चाहिए। यह निश्चय

हो जाने पर वह घर की ओर फिर चल दिया, किन्तु अभी वह मार्ग पर थोड़ी ही दूर चला था कि पहले के विचार फिर आ गये। उसके मन में विचार आया कि टोप को घर नहीं ही ले जाना चाहिए। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था उसकी भावना उसे अधिक त्रास देती थी। वह दूकान की ओर फिर लौटा और दूकान पर पहुँच गया, पर उसके मन ने उसे टोप नहीं लौटाने दिया। वह उस टोप को आखिर घर ले ही आया।

इसी प्रकार बैंक से एक नई चेक-बुक लेते समय कल्पित पाप की भावना ने उसे त्रास दिया था। वह उसे नहीं लेना चाहता था, पर उसे वापस करना भी उसे वैसा ही बुरा लगता था। हर एक बात में उसे यही विचार आता था कि मैं कोई बुरा काम तो नहीं कर रहा हूँ।

इस व्यक्ति के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मन की इस प्रकार की अवस्था उसके एक पुराने अनुभव का परिणाम मात्र थी। यह पुराना अनुभव एक मानसिक ग्रन्थि के रूप में उसके अज्ञात मन में उपस्थित था। यही ग्रन्थि उसके मन को अव्यस्थित बनाये रहती थी।

यह व्यक्ति अविवाहित था। उसने एक बार विवाह करना चाहा था; पर जिस महिला को वह प्यार करता था, उसने उसे धोखा दिया। धोखा देने पर उसके मन में इस महिला के प्रति अनेक प्रकार के बुरे विचार आने लगे। वह उसे मार डालना चाहता था; पर उसकी नैतिक बुद्धि ने उसे ऐसा करने से रोका। पीछे वह इस प्रकार के विचार को मन में लाने के लिए अपने-आपको कोसने लगा। कई दिनों के पश्चात् वह इस घटना को तो भूल गया, किन्तु उसकी अपने-आपको कोसने की मनोवृत्ति का नाश न हुआ। यह मनोबृत्ति उसके प्रत्येक निर्णय के साथ उपस्थित हो जाती थी।

जो मनुष्य किसी भी कार्य को उत्साह के साथ नहीं कर सकता, जो अपने हर प्रकार के निर्णय में त्रुटि देखता है वह संसार में कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। अपने प्रत्येक निर्णय को सन्देह की दृष्टि से देखना अपने मन को कमजोर बनाना है। सन्देह की मनोवृत्ति इच्छाशक्ति की कमी को दर्शाती है। इस कमजोरी का अन्त सदा काम में लगे रहने से होता है। जो मनुष्य अधिक समय निर्णय में न लगाकर शीघ्र ही अपने-आपको किसी भले काम में लगा देता है वह अपनी सभी मानसिक ग्रन्थियों को नष्ट करने में समर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति का मन कुछ काल में ही निर्मल और स्वस्थ हो जाता है। उसकी इच्छाशक्ति दृढ़ हो जाती है।

स्वतन्त्रतावाद और नियतिवाद

इच्छाशक्ति के स्वरूप के विषय में दो प्रकार के मत हैं—एक स्वतन्त्रतावाद और दूसरा नियतिवाद। स्वतन्त्रतावाद के अनुसार इच्छाशक्ति मनुष्य की चाहों अथवा वासनाओं से भिन्न पदार्थ है। वह हमारी चाहों का नियन्त्रण करती है जिन्हें साधारण भाषा में इच्छा कहा जाता है। जब दो चाहों में पारस्परिक द्वन्द्व होता है तो जो चाह प्रबल होती है उसी के अनुसार निर्णय होता है। निर्बल चाह के अनुसार और प्रबल चाह के प्रतिकूल निर्णय होना असम्भव है। यह स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त है। नियतिवाद के अनुसार निर्णय कोई आध्यात्मिक शक्ति का कार्य नहीं है। जिसे इच्छाशक्ति कहा जाता है वह चाहों से स्वतन्त्र कोई शक्ति नहीं है जो मनुष्य की आत्मा कही जाय। नियतिवादी स्वतन्त्रतावाद को अवैज्ञानिक सिद्ध करते हैं। वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार कोई भी घटना, चाहे वह बाह्य जगत् की हो अथवा मानसिक, कार्य-कारणगत परम्परा का उल्लंघन नहीं कर सकती। कार्य कारणानुगत होता है; अर्थात् जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य भी होगा। गणित-विज्ञान का यह साधारण नियम है कि जब दो शक्तियाँ किसी पदार्थ को दो विरोधी दिशाओं में खींचती हैं तो पदार्थ उसी ओर खींचता है, जिस ओर प्रबल शक्ति काम करती है। इस प्रकार के द्वन्द्व में निर्बल शक्ति की विजय कभी नहीं होती। यह भौतिक जगत् का नियम है। नियतिवाद के अनुसार यही नियम मानसिक जगत् में भी काम करता है। जब दो चाहें हमारे निर्णय को दो विरोधी दिशाओं में खींचती हैं तो प्रबल चाह के अनुसार निर्णय होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना प्रकृति के कार्य-कारण के नियम को मानस-क्षेत्र में स्वीकार करना है।

स्वतन्त्रतावादी चैतन्यवादी होते हैं और नियतिवादी जड़वादी। आधुनिक मनोविज्ञान इस निर्णय पर पूर्णतः नहीं पहुँचा है कि चैतन्यवाद सत्य है अथवा जड़वाद। जहाँ तक मनोविज्ञान अपने विषय-प्रतिपादन में वैज्ञानिकता दर्शाता है, वह जड़वाद का ही अनुसरण करता है। लेकिन मनोविज्ञान चैतन्य सत्ता की अवहेलना नहीं कर सकता। यद्यपि वैज्ञानिक ढङ्ग से चैतन्य आत्मा की सिद्धि प्राप्त करना असम्भव कार्य है तो भी मनोवैज्ञानिक मन और उसकी क्रियाओं को सामान्य जड़ पदार्थवत् मानने को तैयार नहीं है।

वास्तव में इस विषय का निर्णय मनोविज्ञान की सीमा के बाहर है।

इसका निर्णय विज्ञान नहीं, दर्शन ही कर सकता है। जिस प्रकार दूसरे विद्वानों की अन्तिम समस्याओं को दर्शन हल करने की चेष्टा करता है, इसी तरह स्वतन्त्रतावाद और नियतिवाद के झगड़े का निपटारा दर्शन ही कर सकता है।

यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि स्वतन्त्रतावाद का यह कथन भ्रमात्मक है कि हमारी इच्छाशक्ति कोई निर्णय के करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। हमारी इच्छा यद्यपि एक प्रकार से स्वतन्त्र है तो भी दूसरे प्रकार से वह परतन्त्र है। चाहे हमारी इच्छाशक्ति बाह्य परिस्थितियों से अपने निर्णय में प्रभावित न हो, चाहे वह साधारण प्रबल चाहों के अनुकूल निर्णय कर सकती हो, किन्तु इतना तो निश्चित है कि वह अपने-आपके किये गये निर्णयों से अवश्य प्रभावित होती है। इच्छाशक्ति के पहले के निर्णय व्यक्ति की आदतें और चरित्र बन जाते हैं। मनुष्य की सदाचार की आदतें इच्छाशक्ति के प्रयत्न से ही उत्पन्न होती हैं। जब हमारी इच्छाशक्ति एक बार किसी विशेष प्रकार का निर्णय करती है तो उसके दूसरी बार के निर्णय पहले की तरह होने की अधिक सम्भावना होती है। इस तरह बार-बार किसी प्रकार का निर्णय करने पर इच्छाशक्ति की उसी तरह निर्णय करने की आदत पड़ जाती है। पीछे मनुष्य का निर्णय उसकी आदत के अनुसार होता है। यह आदत मनुष्य का अर्जित स्वभाव बन जाती है। मनुष्य का अपने विचारों के प्रतिकूल जाना सम्भव है। प्रत्येक मनुष्य अपने चरित्र के अनुसार ही कार्य करता है। चरित्र इच्छाशक्ति के पहले स्वतन्त्र निर्णयों का परिणाम है। चरित्र के प्रतिकूल जाना इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का सूचक नहीं है, वरन् उसके अभाव का सूचक है।

अतएव जब हम इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं तो हम यह नहीं मानते कि इच्छाशक्ति मनुष्य की आदतों और चरित्र से भी प्रभावित नहीं होती। वास्तव में स्वतन्त्रतावाद का यह अर्थ भी नहीं लगाया जा सकता कि इच्छाशक्ति अपने पूर्वकृत्यों से स्वतन्त्र है जो कि आदत और चरित्र के रूप में परिणित हो गये हैं।

चरित्र

चरित्र और इच्छाशक्ति—इच्छाशक्ति के कार्य का मानसिक परिणाम चरित्र है। जिस प्रकार इच्छाशक्ति का अभ्यास होता है उसी प्रकार की आदत बन जाती है। अनेक आदतें एकत्र होने पर चरित्र का निर्माण होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र-निर्माण में इच्छाशक्ति ही काम

करती है। चरित्र निर्मित होने पर इच्छाशक्ति में दृढ़ता आती है। चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य क्षणिक उत्तेजनाओं से प्रेरित नहीं होते। उसके जीवन के समस्त कार्यों में एक सिद्धान्त तथा लक्ष्य कार्य करता है। यही सिद्धान्त तथा लक्ष्य उसकी सब चेष्टाओं को सूत्रीभूत करते हैं। चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य अनुच्छृङ्खल होते हैं। वह किसी प्रकार के आवेश में आकर कोई कार्य नहीं करता। जहाँ तक वह ऐसा करता है वहाँ तक उसके चरित्र में कमी समझना चाहिये। भ्रम अथवा लोभ के वश वह अपने किसी मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल कार्य नहीं करता। उसके सभी कार्य स्वतन्त्रतापूर्ण होते हैं; अर्थात् उसके कार्य उसी सिद्धान्त से निर्णीत होते हैं जिसे उसको इच्छाशक्ति ने मौलिक सिद्धान्त माना है। वह अपनी इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर न तो किसी बाहरी और न किसी भीतरी उत्तेजना से ही आघात होने देता है।

चरित्र एक बहुत व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के सभी प्रकार के संस्कारों का समावेश होता है। मनुष्य के बहुत-से संस्कार उसे स्मरण होते हैं पर बहुत से उसकी चेतना के परे होते हैं। किसी भी मनुष्य का चरित्र इन सभी संस्कारों द्वारा बना रहता है। पर चरित्र को मनुष्य के संस्कारों का पुञ्ज मात्र न समझ लेना चाहिये। मनुष्य में चरित्र वहीं तक होता है जहाँ तक वह इन संस्कारों में ऐक्य स्थापित कर लेता है। चरित्रवान् व्यक्ति की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण किसी एक सिद्धान्त के द्वारा होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति की ओर लगाता है वह उतना ही बड़ा चरित्रवान् कहा जाता है।

चरित्र और आदत—कितने ही लोग चरित्र को आदतों का पुञ्ज कहते हैं। पर मनुष्य की आदतें भली अथवा बुरी हो सकती हैं। इस तरह हमें भला और बुरा चरित्र मानना पड़ेगा। यह चरित्र शब्द का व्यापक अर्थ है। इस अर्थ में चरित्र शब्द का नीति-शास्त्र में प्रयोग नहीं होता। चरित्र प्रायः भली आदतों का ही पुञ्ज माना जाता है। भली आदतें वे हैं जिनके बनने में इच्छाशक्ति के प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ऐसी आदतें इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाती हैं। ऐसी आदतें हमारी मूलप्रवृत्तियों के परिवर्तन से बनती हैं, नैसर्गिक रूप से जीवन चलाने से नहीं बनतीं। विवेक के द्वारा उन्हें नियन्त्रित करके जो काम किये जाते हैं और जो आदतें ऐसे कामों के करने से पड़ जाती हैं वे ही आदतें चरित्र का अंग बन जाती हैं।

नैसर्गिक रूप से आचरण करने से चरित्र-गठन नहीं होता। पशु और बालकगण में चरित्र नहीं होता क्योंकि उनमें न विचार करने की शक्ति होती है न उनकी क्रियाएँ ही आत्मनियन्त्रित रहती हैं।

चरित्र और स्थायीभाव—मेक्डूगल महाशय ने चरित्र को स्थायीभावों का पुञ्ज माना है। हमारे मन में अनेक प्रकार के स्थायीभाव[1] होते हैं। कुछ स्थायीभाव पदार्थों के लिए होते हैं, कुछ व्यक्तियों के लिए और कुछ सिद्धान्तों के लिए। इन सभी स्थायीभावों के ऊपर स्वत्व का स्थायीभाव[2] होता है। यह स्थायीभाव अन्य स्थायीभावों का नियन्त्रण करता है। इसे मनुष्य का आत्माभिमान का भाव कह सकते हैं। चरित्र इसी आत्माभिमान का दूसरा नाम है। जिस मनुष्य का आत्माभिमान का भाव जितना व्यापक होता है वह उतना ही बड़ा चरित्रवान् होता है। बालक का अहंभाव शरीर तथा उसके कुछ आस-पास की वस्तुओं तक परिमित रहता है। प्रौढ़ व्यक्ति का अहंभाव इतना विस्तृत हो जाता है कि उसमें न केवल अनेक वस्तुएँ स्थान पाती हैं वरन् अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का भी समावेश होता है। जब प्रौढ़ व्यक्ति अपने विचारों के प्रतिकूल किसी को आचरण करते देखता है अथवा वह स्वयं आचरण करने लगता है तो उसे दुःख होता है।

मैक्डूगल महाशय ने चरित्र का स्थायीभावों से ऐक्य कर दिया है। उनका यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। पर इसे कोई अस्वीकार न करेगा कि स्थायीभावों का चरित्र में महत्व का स्थान है। मनुष्य के आचरण में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। मनुष्य का आचरण या तो उसकी मूल-प्रवृत्तियों द्वारा अथवा उसके स्थायीभावों द्वारा संचालित होता है। मनुष्य के विचार आचरण को तभी प्रभावित करते हैं जब कि वे स्थायीभाव का रूप धारण कर लेते हैं। मनुष्य के जीवन के सिद्धान्त कितने ही ऊँचे क्यों न हों पर जब तक ये सिद्धान्त स्थायीभाव का रूप नहीं ग्रहण कर लेते तब तक आचरण को प्रभावित नहीं करते। सिद्धान्तवादी व्यक्ति की बुद्धि आपत्तिकाल में बे ठिकाने हो जाती है। उसका विवेक कुछ और करने को कहता है और वह करता कुछ और ही है। वह अपने रागद्वेष पर नियन्त्रण नहीं कर सकता। इनका स्रोत मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतएव इनके नियन्त्रण करने के लिए स्थायीभावों की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि दार्शनिक लोगों की अपेक्षा भक्तलोग चरित्र में अधिक सुदृढ़ होते हैं। दार्शनिकों में

---

1 Sentiments. 2. Sentiment of Self-regard.

विचार करने की शक्ति तो होती है, पर आत्मनियन्त्रण की शक्ति भक्तों के सदृश नहीं होती। इसका प्रधान कारण दर्शनिकों में योग्य स्थायीभावों की कमजोरी और भक्तों में ऐसे स्थायीभावों की दृढ़ता होती है। मनुष्य अपने सिद्धान्त मात्र के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार नहीं होता, वह अपने स्थायीभाव के लिए ही सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार होता है। जो व्यक्ति अपना आचरण भला बनाना चाहता है उसे सुन्दर स्थायी-भावों को मन में दृढ़ करना आवश्यक है। आचरण का स्रोत विचार नहीं, भाव होता है। स्थायीभाव विचार और भाव की आपस की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

प्रश्न

१—इच्छाशक्ति का स्वरूप क्या है? उसकी विशेष क्रियाएँ क्या हैं?

२—निर्णय पर आने की क्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए।

३—निर्णय कितने प्रकार के होते हैं? बाध्य-निर्णय को उदाहरण देकर समझाइए।

४—इच्छाशक्ति की कमजोरियाँ कौन-कौन सी हैं? उनसे हम कैसे मुक्त हो सकते हैं?

५—इच्छाशक्ति कैसे दृढ़ बनाई जा सकती है? उदाहरण देकर समझाइए।

६—इच्छाशक्ति और चरित्र में क्या सम्बन्ध है? चरित्रगठन के विषय में मेक्डूगल महाशय का सिद्धान्त क्या है? उसकी आलोचना कीजिए।

७—चरित्र आदतों का पुञ्ज है—इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए और उसकी समालोचना कीजिए।

८—स्वतन्त्रतावाद और नियतिवाद का भेद समझाइए। आप किस सिद्धान्त को युक्तिसंगत मानते हैं?

———

सोलहवाँ प्रकरण

बुद्धि और उसकी जाँच

मनुष्यों में जहाँ एक दूसरे से समानता होती है, वहाँ भेद भी होते हैं। कुछ भेद जन्मजात होते हैं और कुछ वातावरण के सम्पर्क से पैदा हो जाते हैं। आधुनिक काल में इन भिन्न-भिन्न प्रकार के भेदों को जानने की और उन्हें मापने की चेष्टा की गई है। साधारणतः मनुष्यों में दो प्रकार की भिन्नता पाई जाती है— एक बुद्धि की और दूसरे चरित्र की। बुद्धि की भिन्नता जन्मजात मानी जाती है और चरित्र को भिन्नता वातावरण के ऊपर निर्भर रहती है। बुद्धि में विकास अवश्य होता है, किन्तु यह विकास बुद्धि की विशेषता में एकदम परिवर्तन नहीं कर देता। कुछ लोग जन्म से ही मन्दबुद्धि होते हैं और कुछ प्रखरबुद्धि होते हैं। शिक्षा के द्वारा इन भिन्नताओं को नहीं मिटाया जा सकता, मनुष्य की बुद्धि की माप की जा सकती है। इस बुद्धि का माप जितने अच्छे ढंग से बचपन में हो सकता है, उतना प्रौढ़ अवस्था में नहीं होता। बुद्धि का माप बालक की शिक्षा में बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। पिछली लड़ाई के समय जब अमेरिकन लोगों की फौज में भरती होने के लिए सिपाहियों और अफसरों की आवश्यकता हुई थी तो बुद्धि-माप की परीक्षाओं से काम लिया गया था। इन बुद्धि-माप की परीक्षाओं के विषय में कुछ जानना आधुनिक मनोविज्ञान के ज्ञान को सम्पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है।

बुद्धिमाप की परीक्षा[1] का प्रारम्भ

बुद्धि-माप की परीक्षा का आरम्भ जर्मनी के कुछ मनोवैज्ञानिकों से हुआ। इन मनोवैज्ञानिकों में वुण्ट महाशय प्रमुख हैं। ये लोगों की बुद्धि का माप उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार मनुष्य की तौल उठाने की शक्ति का माप किया जा सकता है। बुद्धि का माप लेबोरेटरी के भिन्न-भिन्न यंत्रों के द्वारा किया जाता था। इन यन्त्रों के द्वारा व्यक्ति की संवेदन-शक्ति की विशेषताएँ जानी जाती थीं। इसीसे उसकी बुद्धि का भी अनुमान लगाया जाता था। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह मान लिया था कि जिस व्यक्ति में जितनी ही अधिक संवेदन-शक्ति है वह उतना ही अधिक बुद्धिमान होगा;

---

1. Measurement of Intelligence.

उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति दो भिन्न वस्तुओं के वजन में थोड़ा भी अन्तर होने का पता चला लेता है; अथवा दो, एक ही प्रकार के रङ्ग में थोड़ा भेद होने पर भी इनका ठीक पता चला लेता है तो वह उस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान् माना जायगा जो इस प्रकार का पता नहीं चला पाता।

पुराने मनोवैज्ञानिकों की उपर्युक्त बुद्धि-सम्बन्धी कल्पना थोड़े ही अनुभव करने पर गलत सिद्ध हुई। देखा गया है कि बहुत से व्यक्ति जो बड़े ही प्रखर बुद्धिवाले माने जाते थे अपनी संवेदन-शक्ति में उतने ही कमजोर थे और बहुत से मन्द बुद्धि के लोगों की संवेदन-शक्ति बड़ी प्रबल पाई गई। बर्बर जातियों में सुशिक्षित जातियों की अपेक्षा संवेदन-शक्ति अधिक प्रबल होती है, किन्तु उनमें बुद्धि की प्रबलता नहीं होती। इससे यह स्पष्ट है कि संवेदन की प्रबलता की माप से बुद्धि की प्रखरता नहीं होती। इससे यह स्पष्ट है कि संवेदन की प्रबलता की माप से बुद्धि की प्रखरता का पता नहीं चल सकता।

बुद्धि-माप का व्यावहारिक रूप में उपयोग वर्तमान शताब्दी में ही होने लगा। प्रचलित बुद्धिमाप की परीक्षाओं के प्रवर्तक फ्रांस के एक डा० महोदय अलफ्रेड बिने हैं। उन्होंने १६०५ में पहले-पहल अपनी बुद्धिमाप की परीक्षाएँ बनाईं। ये फ्रांस के रहनेवाले थे और पेरिस म्युनिसिपैलिटी के एक डाक्टर थे। पेरिस की म्युनिसिपैलिटी में एक बार यह समस्या आई कि बुद्धि में कमजोर बालकों की शिक्षा का अलग प्रबन्ध किया जाय, किन्तु उस समय तक बुद्धि माप करने की कोई रीति ज्ञात न थी। बिने महाशय को यह काम सौंपा गया कि वे बालकों की बुद्धि-माप करने का कोई उपाय ढूँढ़ें। बिने महाशय ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक विशेष प्रकार की बुद्धिमाप की परीक्षा का आविष्कार किया। उनके आविष्कार पर जो संशोधन और परिवर्द्धन हुआ उसी के परिणाम-स्वरूप आज हम संसार में अनेक प्रकार की बुद्धिमाप की परीक्षाएँ पाते हैं।

'बिने' की परीक्षा की रीति

बिने महाशय ने १६०४ में अपने सहयोगी थ्योडर साइमन महाशय की सहायता से भिन्न-भिन्न आयु के बालकों की बुद्धि की परीक्षा के लिए पाँच या छः प्रश्न चुने। ये प्रश्न ऐसे थे जिसका ठीक उत्तर साधारणतः एक विशेष अवस्था के बालक दे सकते हैं। बिने महाशय ने अपने अनुभव से यह बात देखी कि जो बातें औसत चार वर्ष का बालक कर सकता है उनको तीन वर्ष का नहीं कर सकता। इसी तरह जो बातें औसत पाँच वर्ष का बालक कर सकता है वे बातें चार वर्ष की अवस्था वाला बालक नहीं कर सकता। उसने सोलह वर्ष की अवस्था के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नावली बनाई

है। इसमें कुछ उम्र के बालकों को छोड़ दिया। बिने का तरीका क्रम का तरीका था; अर्थात् उसने कुछ उम्रों को छोड़कर सभी उम्रों के लिए प्रश्नावली बनाई है। जो बालक अपनी अवस्थावाली प्रश्नावली के प्रश्नों को हल कर सकता था उसे साधारण बालक कहा जाता था और जो ऐसा नहीं कर पाता था उसे मन्दबुद्धि का समझा जाता था। इसी तरह जो बालक अपनी अवस्था के आगे की प्रश्नावली के प्रश्न हल करने में समर्थ होता था उसे तीव्र बुद्धि वाला समझा जाता था। यहाँ पर बिने महाशय की प्रश्नावलियों के कुछ प्रश्न उद्धृत किये जाते हैं। ये प्रश्न अँग्रेजी बालकों के लिये संशोधित किये गये रूप में हैं।

बिने महाशय की परीक्षा के प्रश्न

तीन वर्ष के बच्चों के लिये

१—अपनी नाक, आँख और मुँह बताओ।

२—दो सख्याओं को दुहराओ। उदाहरणार्थ ३७, ६४, ७२ (तीनों में से एक सही होना चाहिए)।

३—अपने लिंग का ज्ञान—तुम लड़का हो अथवा लड़की ?

४—अपना नाम और गोत्र बताओ।

५—चाकू, चाबी और पैसे का नाम पूछना।

६—दो तस्वीरों में से चीजों के नाम बताओ।

चार वर्ष के लिये

१—"मुझे ठण्ढ और भूख लगी है" इस बात को कहो।

२—तीन संख्याओं को कहलवाना ६१४, २८६, ५३६ (तीनों में से एक सही होना चाहिए)।

३—चार पैसे की गिनती करो।

४—दो कीलों में से छोटी बड़ी कीलों को बताना।

५—तस्वीरों में से खूबसूरत चेहरे को बताना (तीन जोड़ी चेहरे दिखाना)।

पाँच वर्ष के लिये

१—तीन काम देना—चाबी को टेबुल पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो, किताब ले आओ।

२—एक समकोण चतुर्भुज की नकल करना।

३—दस पद का वाक्य दोहराना।

४—अपनी उम्र बताना।

५—सबेरे और दोपहर का भेद जानना।

६—सामान्य रंगों को दिखाकर पहिचनवाना—नीला, पीला, हरा और लाल।

७—चार संख्याओं को कहना।

८—तीन जोड़ी वस्तुओं के वजन जिनमें थोड़ा-थोड़ा फ़र्क़ है, बताना।

बिने की परीक्षाओं की विशेषताएँ—बिने की बुद्धिमाप की तीन विशेषताएँ थीं। पहले तो बात यह थी कि बिने ने हजारों बालकों को प्रश्न देकर उचित प्रश्नों को एकत्रित किया था। प्रश्न किसी एक विषय के नहीं थे। भिन्न-भिन्न योग्यता जानने के प्रश्न थे।

दूसरी बात बिने की बुद्धिमाप में यह थी कि उसने उम्र की माप रक्खी थी; अर्थात् जो बालक कम अवस्था होने पर अधिक अवस्थावाले बालक के प्रश्नों को हल कर सकता था उसे प्रखर बुद्धिवाला समझा जाता था और जो अपनी अवस्था के प्रश्नों को नहीं कर सकता था उसे मन्द-बुद्धिवाला समझा गया। इस प्रकार बालकों की एक "वास्तविक आयु" और दूसरी "मानसिक आयु" मानी गई, उन दोनों की तुलना से बुद्धिमाप की गई।

तीसरी विशेषता बिने की बुद्धिमाप में यह थी कि उसने किसी विशेष बुद्धि का सिद्धान्त नहीं बनाया। बुद्धियाँ एक ही प्रकार की हैं अथवा अनेक प्रकार की, इसकी झंझट में बिने नहीं पड़ा। उसके प्रश्न बालक की साधारण बुद्धि की माप करने के लिये ही थे।

बुद्धिमाप में उन्नति

बिने के प्रयास को देखकर अनेक लोगों ने और प्रयास किया। बिने की बुद्धिमाप से अनेक प्रकार की उन्नतियाँ हुईं और आजकल कितने ही मनोवैज्ञानिक अपना बहुमूल्य समय नई-नई बुद्धिमाप के बनाने में लगा रहे हैं तथा बुद्धि के स्वरूप और प्रकार के विषय में अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थिर कर रहे हैं।

बुद्धि की उपलब्धि[1]—बिने की बुद्धिमाप की पद्धति में कई परिवर्तन हुए हैं जिनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। पहला महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन जर्मनी के बालमनोवैज्ञानिक विलियम स्टर्न के सुझाने से किया गया। अब मानसिक आयु की माप नहीं मानी जाती। "बुद्धि उपलब्धि" के द्वारा अब बुद्धि मापी जाती है। मानसिक आयु[2] में वास्तविक आयु[3] का भाग देकर इसे हम प्राप्त करते हैं। इस बात को इस प्रकार लिख सकते हैं—

---

1. Intelligence Quotient. 2. Mental age. 3. Chronological age.

बुद्धि उपलब्धि = $\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$

यदि मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देने से भागफल १ आया तो बालक साधारण बुद्धिवाला समझा जायगा। यदि १ से कम भागफल आया तो उसे मन्द बुद्धि समझा जायगा। यदि १ से अधिक भागफल आया तो बालक प्रखर बुद्धिवाला समझा जायगा। आजकल इस भागफल को १०० से गुणा कर दिया जाता है। १०० भागफल आने पर बालक को साधारण बुद्धि वाला समझा जाता है। १०० से कम होने पर मन्द बुद्धि और १०० से अधिक होने पर प्रखर बुद्धि का समझा जाता है।

अर्थात् बुद्धि उपलब्धि = $\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$

निम्नलिखित प्रकार के बालकों को उनकी बुद्धि के अनुसार ६ विभागों में विभाजित किया गया है—

प्रकार का नाम	बुद्धि उपलब्धि
प्रतिभाशाली[1]	१४० से ऊपर तक
प्रखरबुद्धि[2]	११० से १४० ,,
तीव्रबुद्धि[3]	११० से १२० ,,
सामान्यबुद्धि[4]	६० से ११० ,,
मन्दबुद्धि[5]	८० से ६० ,,
निर्बलबुद्धि[6]	७० से ८० ,,
मूढ़[7]	५० से ७० ,,
मूर्ख[8]	२५ से ५० ,,
जड़[9]	० से २५ ,,

निम्नलिखित विधि से बालकों की बुद्धि उपलब्धि निश्चित की जाती है। मान लीजिए, कोई बालक किसी परीक्षा में ८० नम्बर पाता है; ये दस वर्ष की उमर के बालकों के औसत नम्बर हैं। अब इस बालक की मानसिक आयु दस वर्ष की समझी जायगी। यदि इस बालक की वास्तविक आयु ८ वर्ष की हुई तो उसकी बुद्धि-उपलब्धि १०/८ × १००/१ = १२५ होगी। यदि उक्त बालक की वास्तविक आयु १२ साल की हुई तो उसकी बुद्धि-उपलब्धि

---

1. Genius. 2. Very superior. 3. Bright. 4. Normal. 5. Dull. 6. Borderline. 7. Moron. 8. imbecile. 9. idiot.

१०/१२×१००/१=८३.३ होगी। पहली अवस्था में बालक प्रखरबुद्धि का कहा जायगा और दूसरी अवस्था में मन्द बुद्धि का।

टरमेन का सुधार—विने महाशय की परीक्षाओं में दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि बालक एक प्रश्नावली के जितने प्रश्नों का उत्तर देता है उसके लिए उसे नम्बर मिलते हैं। बिने की बुद्धिमाप में यह बात न थी। जब किसी आयु की प्रश्नावली के दो प्रश्नों से अधिक के उत्तर बालक ठीक नहीं देता था, उसको कुछ भी नम्बर उस प्रश्नावली में नहीं दिये जाते थे। मान लीजिए, कोई बालक किसी प्रश्नावली के गणित के प्रश्न नहीं कर पाता पर भाषा के प्रश्न सब कर लेता है तो उसे इसके लिये नम्बर नहीं दिये जाते थे। टरमेन महाशय ने इस त्रुटि को दूर किया। उन्होंने ऐसे प्रश्न बनाये जो हरएक आयु के बालकों को दिये जा सकें और बालक को हरएक प्रश्न के लिए नम्बर दिये जायँ। इस प्रकार परीक्षा लेने से बालकों की विशेष विषय की योग्यता का पता चलने लगा है। कोई बालक गणित के कारण और कोई भाषाज्ञान के कारण अधिक नम्बर पाने लगा। अनुभव से देखा गया कि बालकों में साधारणतः एक बराबर बुद्धि होते हुए भी एक ही प्रकार की बुद्धि नहीं होती। कोई बालक गणित में तीव्र होता है तो कोई इतिहास में, कोई भूगोल में तथा कोई भाषा में।

टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षापत्र

तीन वर्ष के लिए

१—शरीर के अवयवों की ओर संकेत करना—(अपनी नाक बताओ)।
२—परिचित वस्तुओं का नाम बताना–दीवाल, घड़ी, तस्तरी (वह क्या है ?)
३—किसी तस्वीर की ओर देखकर और तीन वस्तुओं का नाम बताना, जो कि उसमें हों।
४—लिंग भेद करना (तुम लड़के हो या लड़की ?)
५—नामकरण करना (तुम्हारा नाम क्या है ?)
६—दुहराना (अनुकरण के रूप में) छः या सात अङ्कों को।

चार वर्ष के लिए

१—भिन्न-भिन्न लम्बाइयों की तुलना (कौन बड़ा है ?)।
२—आकृति में पहचान का भेद करना (एक वृत्त दिखलाया जाय और वही आकृति बहुत से भिन्न चित्रों में से चुनवायी जाय)।
३—चार सिक्कों का गिनना।

४—एक वर्ग की आकृति बनाना।
५—व्यावहारिक प्रश्नों का जवाब देना (तुम क्या करोगे जब कि तुम थके हो, भूखे हो या ठंड लग रही हो?)।
६—चार अङ्कों का दुहराना (अनुकरण में)।

पाँच वर्ष के लिए

१—२ भार की तुलना करना (३ और ५ ग्राम में कौन भारी है?)
२—रङ्गों का नाम देना या लेना (चार कागज—लाल, पीले, हरे, नीले)।
३—सौन्दर्य की परख (तीन जोड़े चेहरे जिनमें से प्रत्येक में एक बद-सूरत और दूसरा खूबसूरत—"कौन खूबसूरत है?")।
४—साधारण ६ वस्तुओं की परिभाषा बतलाना (कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया क्या है?)।
५—"धैर्य का खेल" (एक आयत बनाना जो दो त्रिभुजों से दिखाया गया हो)।
६—तीन आज्ञाओं का पालन करना (इसे टेबुल पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो, मेरे पास वे सन्दूकें लाओ)।

छः वर्ष के लिए

१—दायें और बायें की पहचान (अपना दायाँ हाथ दिखाओ और बाँया कान)।
२—तस्वीरों में मिटी हुई या भूली हुई बातों को बताना (एक चेहरा बिना नाक का दिखाया जाय और पूरी तस्वीर में बाहें न हों)।
३—तेरह सिक्कों का गिनना।
४—व्यावहारिक प्रश्न—(क्या करोगे यदि बरसात हो रही हो और तुम्हें स्कूल जाना हो)।
५—चालू सिक्कों का नाम बताना।
६—दुहराना (नक़ल में—वाक्य १६ से १८ खण्डों में)।

सात वर्ष के लिए

१—अँगुलियों की संख्या बताना (पहले एक हाथ में कितनी हैं, फिर दूसरे में, फिर दोनों को मिलाकर)।
२—किसी तस्वीर को देखना और उसमें चित्रित क्रियाओं या कार्यों का विवरण।
३—५ अङ्कों का दुहराना।
४—एक मामूली गाँठ बाँधना (अनुकरण करके)।

५—स्मृति से भेद करना या पहचानना (एक मक्खी और तितली का भेद; एक पत्थर और झण्डा, लकड़ी और शीशा)।

६—एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करना।

सामूहिक[1] बुद्धिमाप

बुद्धिमाप की परीक्षा का आविष्कार फ्रांस में हुआ, किन्तु आज इसका उपयोग अमेरिका और इँगलैंड में अधिक होता है। बिने महाशय द्वारा आविष्कृत बुद्धिमापक परीक्षा वैयक्तिक थी। इस परीक्षा में एक-एक विद्यार्थी की बुद्धि अलग-अलग मापी जाती थी। अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने सामूहिक बुद्धिमाप की परीक्षाओं का आविष्कार किया, अब हजारों व्यक्तियों की बुद्धिमाप की परीक्षा एक साथ हो सकती है। एक ही प्रश्न-पत्र सभी उमर के बालकों को दे दिया जाता है। प्रत्येक उमर के साधारण बालक के नम्बर क्या हो सकते हैं यह पहले से ही निश्चित कर लिया जाता है। इस निश्चय के लिए अनेक बालकों पर उस बुद्धिमापक परीक्षा का प्रयोग किया जाता है। जब प्रत्येक उमर के बालक के औसत नम्बर मिल जाते हैं तो उनके सहारे दूसरे बालकों की बुद्धि का अन्दाजा लगाया जाता है। जो बालक अपनी उमर के बालकों के औसत नम्बर पा लेता है उसे साधारण समझा जाता है, जो उससे अधिक पाता है वह तीव्र बुद्धि वाला समझा जाता है और जो कम पाता है वह मन्द बुद्धि वाला माना जाता है।

हम यहाँ देखते हैं कि सामूहिक परीक्षा में विभिन्न आयु के बालकों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रश्न नहीं होते। प्रश्न एक ही होते हैं। पर भिन्न-भिन्न उमर के लड़कों के हल कर सकने की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। इसे पहले ही निश्चित कर लिया जाता है। सामूहिक परीक्षा-पत्र में प्रश्न सभी प्रकार के होते हैं, कुछ कठिन होते हैं और कुछ सरल। इस तरह कुछ न कुछ प्रश्न सभी बालक कर लेते हैं।

अभी बुद्धिमापक परीक्षा में एक विशेष प्रकार की उन्नति हुई है। अब बालक का विभिन्न प्रकार की रुचि और योग्यताओं की जाँच करने की भी परीक्षाएँ बनाई गई हैं। किसी बालक में मस्तिष्क से काम लेने की अधिक योग्यता होती है और किसी में हाथ से काम करने की अधिक योग्यता होती है। परीक्षा के द्वारा इन विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का पता चलाया जा सकता है और जो बालक जिस योग्य होता है उसे उस काम में लगाया जा

1. Group tests.

सकता है। इस प्रकार बालकों की शक्ति व्यर्थ नहीं जाती और उनकी प्रतिभा भली प्रकार से विकसित होती है।

बुद्धिमापक परीक्षा मनोविज्ञान का एक सबसे नया आविष्कार है। भारतवर्ष में इसका अभी तक उद्योग नहीं हुआ। इस प्रकार के परीक्षा-पत्र बनाने में बड़ी कठिनाई होती है। जब तक ऐसा परीक्षा-पत्र कई हजार व्यक्तियों को देखकर प्रमाणित नहीं बताया जाता तब तक उस परीक्षा-पत्र का कोई महत्व नहीं होता। जब परीक्षा करने के उपरान्त बहुत-सी सामग्री इकट्ठी हो जाती है तो उसका ठीक उपयोग करने के लिए और परीक्षा-पत्र को प्रमाणित बनाने के लिए गणित की आवश्यकता पड़ती है। बहुत से लोगों को तो परीक्षा लेने की सुविधा नहीं होती और जिन्हें होती भी है उन्हें स्टेटिस्टिक्स (गणित की विशेष शाखा) का इतना ज्ञान नहीं होता जो परीक्षा से प्राप्त सामग्री का सदुपयोग कर सकें। अतएव भारतवर्ष में अभी तक दो-एक को छोड़ कोई प्रमाणित बुद्धि-माप परीक्षा-पत्र नहीं बन पाया है।

बुद्धि का स्वरूप[1]

हम बुद्धि के विषय में अनेक प्रकार की चर्चा करते हैं, मनुष्यों की बुद्धि भी मापते हैं, पर अभी तक बुद्धि है क्या इस पर मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं हो पाये हैं। बुद्धि का कार्य ज्ञान मात्र देना है अथवा वह क्रियात्मक मानसिक शक्ति है, इस पर मतैक्य नहीं है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार मनुष्य की ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तियों को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता; अतएव मनुष्य की बुद्धि की माप मनुष्य की कार्य-क्षमता से हो जा सकती है। जिस व्यक्ति में जितनी काम करने की आकांक्षा और योग्यता है वह उतना ही बुद्धिमान होगा। मेक्डूगल महाशय बुद्धि को क्रियात्मक मानसिक शक्ति मानते हैं। दूसरे मनोवैज्ञानिक उसे ज्ञानात्मक शक्ति ही मानते हैं।

बुद्धि के स्वरूप के विषय में एक दूसरे प्रकार का भी विवाद है। कुछ लोग उसे एक ही शक्ति मानते हैं, कुछ लोग उसे कई प्रकार की शक्तियों का समुन्चय मानते हैं और कुछ बुद्धि को दो प्रकार की योग्यताओं का मिश्रण मानते हैं। साधारण विचार के अनुसार बुद्धि एक ही प्रकार की शक्ति है। जिसे यह शक्ति होती है वह अपने सभी कामों को भली प्रकार से करता है और जिसे यह शक्ति नहीं होती उसके हरएक काम में त्रुटि हो जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक कुशल गणितज्ञ कुशल कवि भी बन सकता है। बुद्धि को जिस ओर मोड़ दिया जाय वह उसी ओर काम करने लगती है।

---

1. **Nature of Intelligence.**

प्रतिभाशाली व्यक्ति जिस काम को हाथ में लेता है, अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन उसी में करता है।

इस सिद्धान्त के प्रतिकूल अमेरिका के महान् शिक्षा-मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक महाशय का सिद्धान्त है। इनके कथनानुसार बुद्धि अनेक प्रकार की शक्तियों का सञ्चय मात्र है। एक शक्तियों में समता का रहना अथवा न रहना आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति यदि किसी एक प्रकार के कार्य करने में कुशल है तो हम उसके दूसरे प्रकार के कार्य करने के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं कर सकते। एक बालक भाषा के परचे में ८० प्रतिशत नम्बर पा सकता है और गणित में शून्य नम्बर पा सकता है—ऐसा देखा भी जाता है। जो व्यक्ति गाने की कला में प्रवीण है वह गणित से सम्बन्ध न रखनेवाली विद्या में बिलकुल अकुशल हो सकता है।

इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ अत्युक्ति है। बुद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त अधिक मनोवैज्ञानिकों को मान्य है वह इंगलैण्ड के मनोवैज्ञानिक चार्ल्स स्पीयरमैन महाशय का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि दो प्रकार की शक्तियों की बनी होती है। पहले प्रकार की शक्ति ऐसी होती है जो मनुष्य की सभी प्रकार की योग्यताओं में कार्य करती है और दूसरे प्रकार की शक्ति उसकी विशेष योग्यताओं में कार्य करती है। मान लीजिए, किसी मनुष्य में गणित की योग्यता अधिक है। इस गणित की योग्यता के दो अंग हैं। एक अंग भाषा, भूगोल, इतिहास आदि समझने की योग्यता में समान है और दूसरा अंग गणित की योग्यता का विशेष अंग है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति, वह चाहे जिस कार्य को करता हो, दो प्रकार की बुद्धियों से काम लेता है, एक सामान्य बुद्धि और दूसरे विशेष बुद्धि। वास्तव में ये दोनों बुद्धियाँ सम्पूर्ण बुद्धि के अंग हैं।

अस्तु, मनुष्यों की इस साधारण धारणा में आंशिक सत्य है कि चतुर मनुष्य हर एक काम कुशलता से ही करता है और इस कथन में भी आंशिक सत्य है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रकृति और बुद्धि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। मनुष्य के स्वभाव में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान हैं। यही बात उसकी बुद्धि के विषय में भी है। सामान्य और विशेष मिलकर ही मनुष्य का स्वभाव बना है।

बुद्धि और ज्ञान-भण्डार

मनुष्य की बुद्धि की विशेषता जन्मजात है। मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति प्रखर बुद्धि का नहीं बनाया जा सकता और न प्रखर बुद्धिवाले को मन्द बुद्धि

बनाया जा सकता है। बुद्धिमापक परीक्षाएँ इस जन्मजात बुद्धि का माप करती हैं। यह बुद्धि मनुष्य के ज्ञान-भण्डार से भिन्न पदार्थ है। मनुष्य का ज्ञानभण्डार उसकी बुद्धि के उपयोग पर निर्भर करता है। यह मनुष्य के अनुभव के साथ-साथ बढ़ता है। जो मनुष्य जितना अधिक मानसिक परिश्रम करता है उसका ज्ञान-भंडार उतना ही बड़ा होता है। देखा गया है कि कुछ बुद्धि में प्रखर लोगों का ज्ञान-भण्डार सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तियों के ज्ञान-भण्डार से कम है। इसका कारण प्रखर बुद्धि वालों का अपनी बुद्धि का सदुपयोग नहीं करना है। मनुष्य अपनी बुद्धि का सदुपयोग करके ही उससे अधिक लाभ उठा सकता है।

हमारे ज्ञान भण्डार की वृद्धि बुद्धि से विलकुल स्वतन्त्र वस्तु नहीं माननी चाहिए। सामान्यत: प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति का ज्ञान-भण्डार साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति से अधिक ही रहता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को जो योग्यता प्रकृति देती है उसके साथ साथ उस योग्यता को काम में लाने की प्रवृत्ति भी देती है। बुद्धि का सबसे भला उपयोग अपने ज्ञान की वृद्धि करने में है, अतएव प्रखर बुद्धि के लोग साधारणत: अपने ज्ञान की वृद्धि में लगे रहते हैं।

यहाँ भी ध्यान देने योग्य बात है कि बुद्धि की माप भी ज्ञान के भण्डार के द्वारा ही की जाती है। जिस प्रकार किसी बर्तन की शक्ति की माप उस वस्तु से ही होती है जो उसमें समाती है, इसी तरह बुद्धि की माप भी, जितना ज्ञान उसमें किसी समय है, उसी से होता है। पर ये दोनों बातें एक ही नहीं हैं। बुद्धि का कार्य ज्ञान का एकत्र करना मात्र नहीं माना जाता, उसका सदुपयोग भी माना जाता है। यह सत्य है कि अर्जित ज्ञान के द्वारा ही बुद्धि का माप होता है; किन्तु अर्जित ज्ञान और बुद्धि की शक्ति दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं।

बुद्धि और चरित्र

बुद्धि और चरित्र के आपस के सम्बन्ध की एक बड़ी मनोवैज्ञानिक समस्या है। मनुष्य की बुद्धि उसके चरित्र के गुणों की सूचक है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्धि का चरित्र के गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि के गुण जन्मजात हैं और चरित्र के गुण अर्जित हैं। एक प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति दुश्चरित्र हो सकता है और एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति चरित्रवान् हो सकता है। देखा भी गया है कि संसार के बड़े-बड़े सन्त बुद्धि में प्रखर न थे, पर वे बड़े दृढ़व्रती थे और हम कितने ही प्रतिभावान् व्यक्तियों को दुराचारी और व्यभिचारी पाते हैं। वे अपनी प्रतिभा का उपयोग संसार के कल्याण में न कर उसके विनाश करने में करते हैं।

जब समाज की किंवदन्तियों को छोड़कर ठोस प्रमाणों को खोजते हैं तो हम एक विचित्र ही परिस्थिति पाते हैं। अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने अनेक जेलखाने के कैदियों की बुद्धि का माप करके पता चलाया तो देखा कि उनमें से ८० प्रतिशत कैदियों की बुद्धि सामान्य से गिरी हुई थी—अर्थात् अधिकतर कैदी मन्दबुद्धि के पाये गये, कुछ कैदी सामान्य बुद्धि के पाये गये और बहुत ही थोड़े प्रखर बुद्धि के पाये गये। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धि की कमी चरित्र-निर्माण में कमी का कारण बन जाती है। साधारणतः जो व्यक्ति जितना बुद्धि में प्रवीण है उसका चरित्र में उतना ही भला होना स्वाभाविक होता है। ऐसा होना युक्ति असंगत भी नहीं है। जिस मनुष्य में विचार करने की शक्ति नहीं होती वह अपने कामों के सुदूर भविष्य में होनेवाले परिणाम को भी नहीं देख सकता। वह उद्वेगों के आवेश में आकर कुछ का कुछ कर बैठता है। जो मनुष्य आगे-पीछे की बात सोच सकता है वही अपने-आपको नियन्त्रण में रख सकता है। ऐसा ही मनुष्य समय पर उचित काम कर सकता है। पहले-पहल जो काम मनुष्य स्वार्थ बुद्धि से करता है वह उसी काम को पीछे आदत पड़ जाने पर सहज भाव से करने लगता है। चरित्र का विकास स्वार्थ के त्याग में नहीं वरन् उसके विकास में है। जो व्यक्ति अपने स्वत्व को जितना बड़ा देखता है उसका चरित्र उतना ही ऊँचा होता है। उसकी सब क्रियाएँ उच्च हेतु से प्रेरित होती हैं। इन हेतुओं की उपस्थिति प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति के मन में ही सम्भव है। मन्द बुद्धिवाला व्यक्ति इन हेतुओं को समझ ही नहीं सकता। वह जिसे अपनी भलाई समझता है उसे प्रखर बुद्धिवाला व्यक्ति दुःख का कारण जान लेता है। अतएव वह अपने-आपको अवाञ्छनीय मार्ग से जाने से रोक लेता है और कल्याणकारी मार्ग में लगाता है।

प्रश्न

१—मनुष्य की बुद्धि कैसे मापी जा सकती है? बिने महाशय ने इस सम्बन्ध में क्या आविष्कार किया है?

२ – बिने और टरमेन महाशय की बुद्धिमापक परीक्षाओं की विशेषताएँ बताइये।

३—"बुद्धि-उपलब्धि" क्या है? इसे कैसे निकाला जाता है? उदाहरण देकर समझाइए।

४—सामूहिक बुद्धिमापक परीक्षाओं के लाभ क्या हैं? इनका हम क्या उपयोग कर सकते हैं?

५—बुद्धि क्या वस्तु है? क्या आप बुद्धि को एक शक्ति अथवा अनेक शक्तियों का समुच्चय मानते हैं? क्यों?

६—बुद्धि और चरित्र के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।

सत्रहवाँ प्रकरण

मन के गुप्त स्तर

अचेतन मन[1] की खोज का आरंभ

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन की खोज में चमत्कारिक उन्नति की है। मन-सम्बन्धी नवीन खोजें इतने महत्व की हैं कि वे हमारे मनोविज्ञान के साधारण ज्ञान में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर देती हैं। वास्तव में इन खोजों के परिणाम-स्वरूप "मनोविश्लेषण" नामक एक नया विज्ञान ही तैयार हो गया है। इन खोजों के करनेवाले व्यक्ति सिगमण्ड फ्रायड हैं। फ्रायड महाशय अपने समय के एक प्रतिष्ठित डाक्टर थे। उन्होंने मनुष्य का मानसिक और शारीरिक व्याधियों का भली प्रकार अध्ययन किया। उन्हें अपने अनुभव से ज्ञात हुआ कि कितनी ही शारीरिक बीमारियों का कारण मानसिक होता है। इस प्रकार की बीमारियाँ शारीरिक चिकित्सा से नहीं जातीं। उनके लिए मानसिक उपचार की आवश्यकता होती है। मनुष्य की कुछ मानसिक बीमारियाँ भी उसके कुछ अप्रिय अनुभवों के कारण होती हैं। इन बीमारियों को मानसिक उपचार के द्वारा ही हटाया जा सकता है।

फ्रायड महाशय मानसिक बीमारियों की चिकित्सा-विधि को सीखने के लिए फ्रांस के एक प्रसिद्ध मानसिक-चिकित्सक कूए महाशय के पास गये। कूए महाशय अपनी विधि से हिस्टीरिया और अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियों को हटा देते थे। कूए महाशय की विधि निर्देश की विधि थी। रोगी को निर्देश दिया जाता था कि वह अपने शरीर को शिथिल कर दे। इसके पश्चात् उसे विचार-शून्य होने का निर्देश दिया जाता था। विचार-शून्य होने के पश्चात् रोगी को मन में स्वास्थ्य की भावना लाने का निर्देश दिया जाता था, किसी प्रकार के विचार को उठने से रोका जाता था। इस तरह के अभ्यास से अनेक रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर लेते थे, किन्तु फ्रायड महाशय ने देखा कि एक बार स्वास्थ्य-लाभ करने के पश्चात् भी रोगी बार-बार उसी मानसिक बीमारी से पीड़ित होते हैं। उनका रोग जड़ से नहीं जाता। कूए महाशय रोग का कारण ढूंढ़ने की चेष्टा नहीं करते थे। रोग का चाहे जो कारण हो, वे एक ही प्रकार की चिकित्सा करते

---

1. Unconscious mind.

थे। इस चिकित्सा की विधि थी –रोगी के मन में निर्देश के द्वारा आरोग्य के विचार प्रविष्ट करना।

फ्रायड महाशय ने देखा कि रोगी की वे भावनाएँ जो उसके रोग के कारण हैं समूल नष्ट नहीं होतीं। वे निर्देशक के प्रबल विचारों के कारण दब जाती हैं और जब अवसर मिलता है तो उभड़ आती हैं। फ्रायड महाशय के मन में यह कल्पना आई कि दबी भावनाओं को प्रबल निर्देश के द्वारा दबाना नहीं, वरन् उनको किसी प्रकार खोजकर बाहर लाना रोग को समूल नष्ट करने के लिए आवश्यक है। इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने मन के गुप्त-स्तरों का खोज करने का दृढ़ संकल्प किया। इसी के परिणाम-स्वरूप आधुनिक मन की अज्ञात क्रियाओं की चमत्कारिक खोजें हुई हैं। वास्तव में इस समय मन के दो भाग माने जाते हैं--एक वह जो हमें साधारणतः ज्ञात है जिसे चेतन मन[1] कहते हैं और दूसरा वह जिसका ज्ञान हमें नहीं रहता और जिसकी क्रियाओं का ज्ञान करना भी बड़ा कठिन होता है--यह है अचेतन मन।

डाक्टर फ्रायड ने अपना सारा शेष जीवन अचेतन मन की क्रियाओं के अध्ययन करने में व्यतीत कर दिया। उनके विचार इस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव दर्शा रहे हैं। फ्रायड के दो प्रधान शिष्य एडलर और युंग महाशय हुए। इन्होंने फ्रायड के काम को आगे बढ़ाया। फ्रायड और दोनों शिष्यों के अचेतम मन की क्रिया-सम्बन्धी सिद्धान्तों में अन्तर अवश्य है, किन्तु सभी मनोवैज्ञानिक फ्रायड महाशय की इस बात के अनुयायी हैं कि अचेतन मन का क्षेत्र चेतन मन से कहीं अधिक विस्तृत है। वास्तव में संसार को अचेतन मन की कल्पना उन्होंने दी।

अचेतन मन का स्वरूप

मन के तीन भाग—नवीन मनोविज्ञान की खोजों के परिणाम-स्वरूप यह निश्चय हुआ कि मन के तीन भाग हो सकते हैं—चेतन मन[1], चेतनोन्मुख[2] और अचेतन[3]। चेतन मन, मन का वह भाग है जिसमें मन की समस्त ज्ञात क्रियाएँ चला करती हैं। चलना, फिरना, बोलना, लिखना, पढ़ना, सोचना आदि क्रियाओं का नियन्त्रण चेतन मन करता है। चेतन मन की क्रियाओं का हमें अहंकार रहता है। यदि इन क्रियाओं में कोई भूल होती

---

1. Conscious mind. 2. Preconscious 3 Unconscious.

है तो हम अपने-आपको जिम्मेदार समझते हैं। हमारा कोई भी विचार चेतन मन में ही आकर प्रकाशित होता है।

चेतन मन के परे चेतनोन्मुख मन है। मन के इस स्तर में वे भावनाएँ, स्मृतियाँ, इच्छाएँ तथा वेदनाएँ रहती हैं जो प्रकाशित नहीं हैं किन्तु जो चेतना पर आने के लिए तत्पर हैं। कोई भी विचार चेतन मन में प्रकाशित होने के पूर्व चेतनोन्मुख मन में रहता है। यदि किसी विचार को जो कि चेतनोन्मुख मन में वर्तमान है, हम चेतना पर लाना चाहें तो वह आ जाता है।

चेतनोन्मुख मन के परे अचेतन मन है। अचेतन मन के विचार तथा भावनाएँ न हमें ज्ञात रहती हैं और न प्रयत्न करने से ही वे चेतना के स्तर पर आती हैं। उन्हें चेतना के ऊपर लाने के लिए अथवा उनकी अचेतन मन में उपस्थिति जानने के लिए एक विशेष विज्ञान की आवश्यकता होती है।

मन की नाट्यशाला—फ्रायड महाशय ने हमारे समस्त मन की तुलना एक नाट्यशाला से की है। चेतन मन नाट्यशाला की रंग-भूमि के उस भाग के समान है जहाँ रंग-भूमि के अनेक पात्र अभिनय दिखाने के लिए आते हैं। वे अपने खेलों को दिखाकर अदृश्य स्थान में विलीन हो जाते हैं। अचेतन मन नाट्यशाला की सजावट के कमरे के समान है जहाँ पर पात्र अभिनय के लिए अनेक प्रकार की तैयारियाँ करते हैं। चेतनोन्मुख मन रंग-शाला में घुसने के दरवाजे के समान है। हम जिन विचारों का दमन करते हैं वे नष्ट नहीं होते। वे हमारे मन के किसी न किसी कोने में पड़े रहते हैं। यहाँ रहकर वे निष्क्रिय नहीं रहते। वे हमारे व्यक्तित्व के प्रतिकूल षड्यन्त्र रचा करते हैं। जब दमन की गई भावनाओं का समूह अधिक हो जाता है तो मनुष्य के व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य की अनेक प्रकार की कुचेष्टाओं और मानसिक बीमारियों का प्रधान कारण दबी हुई भावनाएँ ही होती हैं। स्वप्न की उत्पत्ति इन्हीं के कारण होती है।

अचेतन मन की भावनाएँ और स्वप्न—अचेतन मन की भावनाओं के प्रकाशित होने का एक प्रधान मार्ग स्वप्न है। हमारी बहुत-सी भावनाएँ, इच्छाएँ या स्मृतियाँ चेतना को अप्रिय होती हैं। इन भावनाओं, इच्छाओं और स्मृतियों को हमारी चेतना दमन करती है। हम अपने अप्रिय अनुभव को भुलाने की चेष्टा करते हैं। जिस अनुभव के स्मरण से हमें शोक अथवा आत्म-ग्लानि होती है उसे हम भूल जाना चाहते हैं। इसी तरह जिन वासनाओं को हम अनैतिक मानते हैं उन्हें भी चेतना के स्तर पर नहीं आने देना चाहते, उन्हें हम स्वीकार भी नहीं करना चाहते हैं। ऐसी स्मृतियाँ

और वासनाएँ हमारी स्वप्नावस्था में अनेक रूप धारण कर प्रकट होती हैं। स्वप्न दबी स्मृतिओं और इच्छाओं का कार्य है। फ्रायड महाशय ने स्वप्न की भाषा समझने के लिए महत्व का प्रयास किया है। दबी हुई भावना स्वप्न में बड़े गुप्त रूप से प्रकट होती है। उसे पहचानने के लिए विशेष प्रकार की कुशलता और सूक्ष्म-दृष्टि चाहिए, किन्तु इतना निश्चित है कि दबी हुई भावना के जानने का प्रमुख साधन स्वप्न अध्ययन ही है।

गुप्त वासनाओं का प्रतिबंधक[1]—चेतन और अचेतन मन के बीच एक प्रतिबन्धक व्यवस्था रहती है। यह प्रतिबन्ध-व्यवस्था मनुष्य की नैतिक धारणाओं की बनी रहती है। यह एक पहेरुआ का काम करती हैं। जिस तरह पहेरुआ घर के भीतर जाने वाले लोगों की छानबीन करता है इसी तरह यह प्रतिबन्धक चेतन मन पर आनेवाली भावनाओं की छानबीन करता है। इसके डर के कारण कोई अनैतिक भावना चेतन मन के स्तर पर प्रकाशित नहीं होती। यह प्रतिबन्धक स्वयं चेतना के नीचे की सतह से काम करता है; अर्थात् जब किसी व्यक्ति की कोई अनैतिक वासना प्रतिबन्धक के द्वारा दबाई जाती है तो स्वयं उस व्यक्ति की चेतना को यह ज्ञात नहीं रहता कि उसकी कोई वासना दबाई जा रही है। इसके कारण मनुष्य को अपनी ही गुप्त भावनाओं को जानने में बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी इस प्रतिबन्धक के कारण मनुष्य अपने-आपको जैसा वह है उसके ठीक प्रतिकूल जानता है।

इसी प्रतिबन्धक के कारण हम अपने स्वप्नों में कुछ का कुछ देखते हैं; अर्थात् हमारा प्रकट स्वप्न उसके वास्तविक अर्थ से बिलकुल भिन्न होता है। जिस तरह सतर्क खुफिया पुलिस से चोर, डाकू डरा करते हैं और उनकी ऊँघने की अवस्था में अनेकों स्वाँग रचकर बाहर निकलते हैं। इसी तरह दलित अनैतिक भावनाएँ मनुष्य की सुप्त अवस्था में अनेक स्वाँग रचकर बाहर आती हैं और स्वप्न के रूप में प्रकाशित होती हैं। इस तरह वे अपनी आत्म-तुष्टि प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। स्वप्नों के द्वारा मनुष्य की अतृप्त वासनाओं की ब्याजरूप से तृप्ति होती है। जिन व्यक्तियों की भोग की इच्छाएँ जितने अधिक कठोर नियन्त्रण में रहती हैं उन्हें उतने ही अधिक भोग-सम्बन्धी स्वप्न होते हैं।

अचेतन मन की प्रबल वासनाएँ

कामवासना—अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना कौन है, इसके

1. Censor.

सम्बन्ध में मनोविश्लेषण-वैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। डाक्टर फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना कामवासना है। इस वासना के प्रकाशन का व्यक्ति के द्वारा कठोर नियन्त्रण होता है। समाज में कामवासना-सम्बन्धी बातचीत करना बुरा समझा जाता है। मनुष्यों में कामवासना की तृप्ति दूसरों की आँख बचाकर ही की जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य की नैतिक धारणा प्रबल होती है वह कामवासना का कठोर नियन्त्रण करने लगता है। ऐसी अवस्था में यह वासना उस व्यक्ति के स्वप्न, साङ्केतिक चेष्टाओं और शारीरिक तथा मानसिक रोगों के रूप में प्रकाशित होने लगती है।

आत्म-प्रकाशन की वासना—एडलर महाशय के अनुसार मनुष्य की सबसे प्रबल वासना, आत्म-प्रकाशन की वासना है। इस वासना का योग्य रीति से तृप्त होना कठिन होता है। इसके अतृप्त रहने पर ही अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इनका दमन ही आत्महीनता की ग्रन्थि का कारण होता है। कामवासना-सम्बन्धी मनोविकार भी आत्महीनता की ग्रन्थि से सम्बन्ध रखते हैं।

समाज-प्रेम की वासना—युङ्ग महाशय के कथनानुसार मनुष्य की सबसे प्रबल वासना समाज में रहने की वासना है। मनुष्य चाहे कितना ही गौरव प्राप्त क्यों न कर ले और चाहे कितना हो भोग-विलास क्यों न करे, वह तब तक शान्ति प्राप्त नहीं करता जब तक कि अपने स्वार्थ का समाज के स्वार्थ से ऐक्य स्थापित नहीं करता।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व, सुख और समृद्धि की प्रबल इच्छाएँ होती हैं, इसी तरह उसमें समाज को सुखी बनाने की और उसका कृपापात्र बनने की भी इच्छा होती है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने वैयक्तिक सुख की अनेक इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं। ये अतृप्त इच्छाएँ उसके वैयक्तिक अचेतन मन की वस्तुएँ हैं। इसके परे मनुष्य का सामूहिक अचेतन[1] मन है। इस मन में मनुष्य की सामाजिक भावनाएँ स्थित रहती हैं। मनुष्य की नैतिक भावनाओं का उदय उसके सामूहिक अचेतन मन से होता है। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य की नैतिक बुद्धि का आधार समाज में प्रचलित विचार नहीं है जो उसको वातावरण से प्राप्त होते हैं, वरन् व्यक्ति का सामूहिक अचेतन मन है जो जन्म से ही उसके साथ रहता है और जिसका प्रभाव मनुष्य की अवस्था के बढ़ने के साथ-साथ देखा जाता है।

युङ्ग महाशय के सामूहिक मन के उक्त सिद्धान्त के मानने पर हम यह

---

1. Collective unconscious.

नहीं कह सकते कि हमारी सभी दलित वासनाएँ अनैतिक हैं। मनुष्य की नैतिक वासनाओं का दमन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार उसकी अनैतिक वासनाओं का दमन होता है। जब कभी हम उद्वेग के आवेश में आकर कोई अनुचित काम कर बैठते हैं तो हमारा मन हमें कोसता है। हम ऐसी अवस्था में अपने हृदय की आवाज को सुनना नहीं चाहते। अपने पाप का प्रायश्चित्त न करके पाप की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करते हैं। यह दबी हुई हृदय की पुकार हमें कभी-कभी स्वप्नों में सुनाई देती है। इस तरह हमारे अनेक स्वप्न आदेशात्मक होते हैं। नैतिक भावना का दमन भयंकर मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण बन जाता है। जितने रोग मनुष्य की अनैतिक भावनाओं के दमन के कारण उत्पन्न होते हैं इससे कहीं अधिक रोग उसकी नैतिक भावना के दमन के कारण उत्पन्न होते हैं। ये रोग अधिक प्रचण्ड होते हैं। जनसाधारण की यह सामान्य धारणा कि पाप का परिणाम बुरा होता है निर्मूल नहीं है।

अचेतन मन और सांकेतिक चेष्टाएँ[1]

सांकेतिक चेष्टाओं के प्रकार—अचेतन मन की प्रबल वासनाएँ सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती हैं। कितने ही लोगों को कुर्सी पर बैठे हुए जांघें हिलाने की आदत होती है, कितने ही सदा दाँतों से अँगुली का नख काटते रहते हैं, कितने ही होंठ चबाते रहते हैं और कितने ही सदा बगलें झाँकते रहते हैं अथवा कन्धे हिलाते रहते हैं। बहुत से लोगों को गम्भीर विचार करते समय मुँह पर हाथ फेरने की आदत होती है। कितने ही लोग बातचीत करते समय अपने हाथों को एक दूसरे पर इस तरह मलते हैं मानो उन्हें पानी से धो रहे हों। इन सब सांकेतिक चेष्टाओं की एक विशेषता यह है कि जो व्यक्ति इन्हें करता है उसे करते समय वे ज्ञात नहीं रहते। ये चेष्टाएँ मानो अपने-आप होती रहती हैं। वास्तव में यह जान-बूझकर नहीं की जातीं, ये चेतन मन के कार्य नहीं हैं अपितु अचेतन मन के कार्य हैं।

सांकेतिक चेष्टाओं की उत्पत्ति[2]—इनकी उत्पत्ति कैसे होती है, यह निम्नलिखित कुछ दृष्टान्तों से समझा जा सकता है। लेखक के एक मित्र की एक सम्बन्धी बुढ़िया बनारस में, जहाँ कि वह मित्र के साथ रहती थी, सदा जमीन पर इस तरह खोजा करती थी कि मानो वह खोई हुई चीज को ढूँढ़ रही हो। जब इस बुढ़िया से पूछा जाता था कि अम्माँ, तुम क्या खोज

1. Symptomatic acts (Automata) 2. Hand-washing mania.

रही हो तो वह कुछ उत्तर नहीं देती थी। वास्तव में उसे यह ज्ञात नहीं रहता था कि वह किसी वस्तु को खोजने जैसी चेष्टा कर रही है। लोगों के प्रश्न पर उसे आश्चर्य होता था। इस आदत की खोज करने से पता चला कि उस बुढ़िया को वह आदत तीन साल पहले न थी। तीन साल पहले बुढ़िया का कुछ धन जिसे उसने अपने गाँव के मकान में गाड़ दिया था, उसकी अनुपस्थिति में किसी ने निकाल लिया। वह गड़े धन का स्थान भूल गई। कई बार जमीन खोदने पर भी धन नहीं मिला। उसकी धन प्राप्त करने की इच्छा अतृप्त ही रह गई। यह अतृप्त इच्छा धन खोजने की सांकेतिक चेष्टा के रूप में प्रकट हुई। अब यह बुढ़िया जिस किसी मकान में रहती थी वहीं सांकेतिक चेष्टा किया करती थी।

एक व्यक्ति सदा पास की उँगली से अँगूठा मला करता था। एक बार उसने इस तरह अनजाने पाँच रुपये का नोट पाकिट से निकाल कर मल कर नष्ट कर डाला। इस सांकेतिक चेष्टा के कारण का पता चलाने से ज्ञात हुआ कि उसने एक बार धोखे में आकर एक दस्तावेज पर अपने अँगूठे की निशानी दे दी थी जिसके कारण उसे भारी हानि उठानी पड़ी थी। इस घटना से उसे भारी मानसिक क्लेश और आत्मग्लानि हुई। वह इस घटना की स्मृति भूल चुका था, किन्तु उसकी वेदनापूर्ण अनुभूति की स्मृति उसके अचेतन मन से कैसे जा सकती थी! उसका आन्तरिक मन अँगूठे में स्याही लगाने से दुखी हो गया था। वह अब सांकेतिक रूप से सदा इस स्याही को पोछता रहता था।

हेडफील्ड महाशय ने अपनी "साइकॉलॉजी एण्ड मॉरल्स" नामक पुस्तक में सांकेतिक चेष्टाओं का एक सुन्दर उदाहरण दिया है, जिससे इनका अर्थ भली प्रकार से स्पष्ट होता है। हेडफील्ड महाशय के पास एक बार एक ऐसी महिला आई जो अपने दाम्पत्य जीवन की बड़ी बड़ाई करती थी और अपने पति के प्रति प्रेम के विषय में अनेक बातें कहती थी। हाल ही में उसने एक स्वप्न देखा था जिसमें उसने अपने पति को रेल की दुर्घटना से शारीरिक क्षति होते हुए पाया था। उसका पति इस समय घर के बाहर था। यह महिला हेड-फील्ड महाशय से इस स्वप्न का अर्थ पूछना चाहती थी। जिस समय वह हेड-फील्ड महाशय से बातचीत कर रही थी, उन्होंने देखा कि वह अपनी विवाह की अँगूठी को बार-बार अँगुली में डालती और निकालती थी। इस सांकेतिक चेष्टा को देखकर हेडफील्ड महाशय को उसके स्वप्न का कुछ अन्दाजा लगा, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया और किसी दूसरे समय के लिए उसका बताना

टाल दिया। हेडफील्ड महाशय ने देखा कि उस महिला ने कुछ ही दिन के पश्चात् अपने पति को तलाक दे दिया है। वास्तव में वह महिला अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट थी। उसकी आन्तरिक धारणा थी कि उसने पति के चुनाव में भूल की है। उसका आन्तरिक मन इस व्यक्ति से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता था। किन्तु उसकी यह इच्छा स्वयं उसे ज्ञात न थी, अर्थात् उसके चेतन मन के समक्ष नहीं आती थी। वह स्वप्नावस्था और सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में प्रकाशित होती थी। उस महिला का अपने विवाह में मिली अँगूठी का अँगुली में बार-बार निकालने-पहनने का अर्थ यह था कि अब वह उसे रखना नहीं चाहती, निकाल देना चाहती है। कभी-कभी ऐसी अवस्था में अँगूठी किसी ऐसे स्थान पर रख दी जाती थी जहाँ से वह खो भी जाती थी। महिला का अपने पति के प्रति अत्यधिक प्रेम-प्रदर्शन करना प्रेम-भाव का एक आवरण मात्र था।[1]

जो लोग हर समय और विशेष कर किसी कठिन प्रश्न को सोचते समय दाँत से नख को काटने लगते हैं, उनके मन में भी कोई बड़ी ही प्रबल अतृप्त वासना रहती है। वे अपने ऊपर किये गये अत्याचार का बदला लेना चाहते हैं। अँगुलियों के नख काटना बदला लेने का सूचक है। होमरलेन महाशय के कथनानुसार जिस बालक की माता के स्तन से दूध पीने की इच्छा अतृप्त रह जाती है और जिसे पीने के बदले अँगूठा पीने से भी डाँटा जाता है उसे नख काटने की आदत पड़ जाती है। मानो वह दाँत और नख से अपने ऊपर किये गये अत्याचार का बदला लेना चाहता है। यह अचेतन मन का कार्य है। इसका चेतन मन को ज्ञान नहीं रहता और शिष्टाचार के नियमों को जानने से इसमें सुधार भी नहीं होता। यदि सुधार हो भी जाय तो उसका स्थान और भी कोई इससे बुरी आदत ले लेती है।

लेखक के एक बालपन के सहपाठी को दाँत से नख काटने की आदत थी। यह आदत अनेक प्रकार के उपदेश देने पर भी नहीं छूटती थी। इस आदत का कारण उसके आज तक के जीवन को देखकर स्पष्ट होता है। इस व्यक्ति को अपने चचेरे भाइयों से बड़ी ईर्ष्या थी। उसके पिता की मृत्यु बचपन में हो गई थी और वह अपने चाचा के संरक्षण में रहता था। बचपन में ही उस व्यक्ति को विश्वास हो गया था कि उसका चाचा उसके पिता का सब धन हड़प जा रहा है। वह इसका बदला लेना चाहता था, किन्तु

---

1. Psychology and Morals.

शिष्टाचारवश वह चाचा के प्रति आदर का भाव प्रकट करता था। बड़े होने पर उसने अपने चाचा से बड़ी मुकदमेबाजी और फौजदारियाँ कीं, जिसके परिणाम-स्वरूप वह कंगाल हो गया और चाचा को भी धन और मान की बड़ी हानि उठानी पड़ी। इस समय यह व्यक्ति, जिसकी अवस्था कोई चालीस साल की है, विक्षिप्त अवस्था में है।

जाँघों का हिलना अतृप्त कामवासना का सूचक है। यह सांकेतिक रूप से कामवासना को तृप्त करना है। हाथ के धोने की-सी सांकेतिक चेष्टा किसी अनुचित काम के करने से उत्पन्न आत्म-ग्लानि से मुक्त होने की चेष्टा है।

जिस प्रकार शेक्सपियर के 'मैकबेथ' नामक नाटक में लेडी मैकबेथ अपनी अर्धसुप्त अवस्था में हत्या के पाप से मुक्त होने के लिए हाथ धोने की चेष्टा करती थी जिन्हें कि वह रक्तरञ्जित देखती थी, इस प्रकार बहुत से लोग जो अपनी अन्तरात्मा में किसी पाप या आत्मग्लानि की अनुभूति करते हैं वे अपनी जाग्रत अवस्था में ही पाप को हाथ से धोते रहते हैं। इस तरह उनका हृदय एक प्रकार से सन्तोष की अनुभूति करता है।

सांकेतिक चेष्टाओं की उपयोगिता—सांकेतिक चेष्टा व्यक्ति की अतृप्त दबी वासना की तृप्ति करने की चेष्टा से उत्पन्न होती है। इस प्रकार वासना का गुप्त रूप से तृप्त होते रहना व्यक्ति के जीवन को सुचारु रूप से चलने के लिए आवश्यक है। जब तक मानसिक ग्रन्थि अचेतन मन से नष्ट नहीं हो जाती तब तक सांकेतिक चेष्टा होना अनिवार्य है। जिस प्रकार अतृप्त वासना के अचेतन मन में रहने पर स्वप्नों का होना अनिवार्य है, उसी तरह सांकेतिक चेष्टाओं का होना भी अनिवार्य है। जिस प्रकार स्वप्न निद्रा में विघ्न नहीं डालते, वरन् उसकी रक्षा करते हैं, इसी तरह सांकेतिक चेष्टाएँ मनुष्य की स्वास्थ्य की वृद्धि में बाधा नहीं डालतीं वरन् उसकी रक्षा करती हैं। यदि किसी व्यक्ति की सांकेतिक चेष्टाओं को हम जबरदस्ती रोकें तो उसके मानसिक जीवन में बड़ी अस्थिरता पैदा हो जाय। जिन व्यक्तियों को सांकेतिक चेष्टाओं के करने की आदत होती है, किसी विषय का वे भली प्रकार तब तक चिन्तन कर सकते हैं जब तक कि उनकी सांकेतिक चेष्टाएँ होती रहती हैं। सांकेतिक चेष्टाओं के रुक जाने पर विचार की धारा का प्रवाह रुक जाता है। व्यक्ति अपनी प्रतिभा के विनाश का अनुभव करने लगता है। इस प्रसङ्ग में कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

लेखक की एक छात्रा को किसी बात का उत्तर सोचते समय अथवा अपना पाठ याद करते समय सिर पर हाथ डालने की और उसे खुजलाने की

आदत पड़ गई थी। जब कभी वह किसी प्रश्न का उत्तर देती थी तो वह अपने सिर को खुजलाने लगती थी। छात्रा की माता ने छात्रा को उपदेश देकर इस आदत को छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु यह आदत नहीं छूटी। अन्त में कुछ दिन के लिए इस छात्रा के दोनों हाथ बाँध दिये गये। इससे उसके सिर खुजलाने की आदत जाती रही, किन्तु उसकी पढ़ने-लिखने में रुचि और बुद्धि की तीव्रता नष्ट हो गई। छात्रा की माता ने यह परिवर्तन देखकर उसे मनमानी चेष्टाएँ करने की स्वतन्त्रता दे दी। छात्रा की प्रखर बुद्धि की स्थिरता पुनः धीरे-धीरे आ गई। डेढ़ साल के बाद यह आदत बिलकुल नष्ट हो गई। कितने ही लोगों को गूढ़ विषय पर चिन्तन करते समय कोट की बटन पर उँगली फेरने की आदत रहती है। यदि ऐसे व्यक्तियों की कोट की बटन टूटकर गिर जाय तो उनके चिन्तन के कार्यों में बाधा पड़ जाती है। जिन शिक्षकों को विद्यार्थियों को पढ़ाते समय किसी विशेष प्रकार की सांकेतिक चेष्टा रहती है—जैसे, खरिया मिट्टी को हाथ में लेकर उछालते रहना, दाँत से पेंसिल को काटना, गर्दन पर हाथ फेरना आदि—वे जब इन आदतों के विषय में सावधान कर दिये जाते हैं तो वे अपने अध्ययन का कार्य भली प्रकार नहीं कर पाते। वास्तव में ऐसी अवस्था में व्यक्ति की अचेतन भावना अपने प्रकाशन का कोई मार्ग न देखकर उसकी चेतना के कार्य में बाधा डालने लगती है।

अचेतन मन और मानसिक रोग

अचेतन मन की प्रबल दबी हुई भावनाएँ अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न करती हैं। वे चलने-फिरने वाले स्वप्न[1], हिस्टीरिया[2], द्विव्यक्तित्व[3], बहुव्यक्तित्व[4], अकारण भय[5] और चिन्ता तथा अनेक प्रकार के दूसरे मानसिक उन्मादों[6] का कारण बनती हैं। इस प्रसंग में कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

चलते-फिरते स्वप्न—एक महिला जो अपनी बहन से उसके पति के विषय में ईर्ष्या करती थी अपनी अर्धसुप्त अवस्था में उठी और अपनी बहन के एक चाँदी के डब्बे को, जिसमें कि उसने पति की दी हुई कीमती वस्तुओं को रखा था, सन्दूक से उठा लाई। इसे उसने अपने तकिये में छिपा दिया, इसके

1. Somnambulism 2. Hysteria 3. Double Personality. 4. Multiple Personality. 5. Phobia. 6. Insanity.

बाद यह सो गई। सबेरा होने पर उसकी बहन ने अपने डब्बे की खोज की, किन्तु उसका पता न चला। रात को उस कमरे में उसकी बहन के अतिरिक्त कोई नहीं आया था, अतएव उसने अपनी बहन से ही इस डब्बे के बारे में पूछा। उसकी बहन को उस डब्बे का कुछ भी ज्ञान न था। उसकी सामान्य चेतना उसके विषय में कुछ भी न जानती थी। अतएव वह अपनी बहन को डब्बे के विषय में कुछ भी न बता सकी। यही महिला प्रति-दिन इस डब्बे को आधी रात के समय तकिये में से निकालती थी और उसकी वस्तुओं का देख-परख करती और डब्बे को पुनः बन्द करके तकिये के अन्दर छिपाकर रख देती थी। एक दिन उस महिला की बहन ने उसे यह कृत्य करते हुए देख लिया। सबेरा होने पर जब उसकी बहन ने उससे डब्बे का पता पूछा तो वह उसके विषय में कुछ भी बता न सकी। वास्तव में उसका अचेतन मन उसके विषय में कुछ भी नहीं जानता था।

दुहरे व्यक्तित्व की उत्पत्ति—स्टाउट महाशय ने एक स्त्री के दुहरे व्यक्तित्व का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। यह स्त्री, जिसकी अवस्था २८ वर्ष की थी, जब एक दिन सोकर उठी तो उसने अपने आपको १६ वर्ष की कुमारी समझा। वह अपने-आपको अपने पिता के घर में बैठी हुई देखने लगी और पढ़ने के लिए पुस्तकें खोजने लगी। वह अपने पति को और अन्य दूसरे सम्बन्धियों को बिलकुल नहीं पहचानती थी। बड़ी कठिनाई के साथ उसे अपने वातावरण के विषय में सिखाया गया। एक साल इस प्रकार रहने के पश्चात् उसका पहले का व्यक्तित्व फिर आ गया और वह एक साल में सीखी हुई सभी बातों को भूल गई। इस तरह उसके व्यक्तित्व में अदल-बदल होती रहती थी।

विलियम जेम्स ने अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकॉलॉजी' नामक पुस्तक में मेरी रोनाल्ड नामक एक अठारह वर्ष की महिला के दुहरे व्यक्तित्व का उदाहरण दिया है। यह महिला जब अठारह वर्ष की थी तब एक दिन बहुत देर तक सोई। सोकर उठने के बाद उसके अपने अठारह वर्ष तक के जीवन की स्मृति जाती रही। वह अपने माता-पिता को भी नहीं पहचान सकती थी। उसे एक शिशु के समान लिखना-पढ़ना फिर से सिखाया गया। इस महिला के मस्तिष्क में कोई शारीरिक क्षति नहीं हुई थी, तिस पर भी उसकी स्मृति में यह विचित्र परिवर्तन हो गया। इस तरह का परिवर्तन व्यक्ति की दबी हुई भावना के कारण होता है।

झक[1] की उत्पत्ति—दबी हुई अचेतन मन की भावना व्यक्ति के मन में किसी विशेष झक को उत्पन्न कर देती है। जिस व्यक्ति के मन में झक रहती है। उसे कभी-कभी यह ज्ञात भी रहता है कि यह झक बिलकुल निरर्थक है किन्तु वह उसको छोड़ नहीं सकता।* लेखक को एक ऐसा व्यक्ति मिला जिसको यह झक पैदा हो गई कि उसका एक मेहतर से झगड़ा हो जायगा

1. Fixation.

*इस प्रसंग में एक झक के रोगी का निम्नलिखित वृत्तान्त, जिसे उसने एक हाल के पत्र में लेखक को लिखा है, उल्लेखनीय है:—

"मैं दिसम्बर, जनवरी दो महीने तक Catarrh रोग (हलक की बीमारी जिसमें बहुत खाँसी और कभी-कभी बुखार भी रहता है) से पीड़ित था। इस कारण डाक्टरों ने ६ महीने तक घर से बाहर जाना बन्द करके मुझे धूप और धूल से बचने को कहा। फल यह हुआ कि एक जबरदस्त Mental Break down (मानसिक रोग) मुझे हुआ। मेरे दिमाग में २६ एप्रिल, ४५ से अनेक प्रकार के भय, वहम और घिनघिनाहट पैदा हो गये। जब कभी मैं पाखाना जाता हूँ, मुझे भय होता है कि मैं पाखाना हाथ में लेकर मुँह में न लगा लूँ। फिर जब कभी मैं पेशाब करने जाता हूँ तो डर होता है कि मैं हाथ में पेशाब लेकर पी न लूँ। चौबीसों घण्टे मुझे यही भय बना रहता है कि मैं गुदा-स्थान पर, जिसे मैं अत्यन्त गन्दा समझता हूँ, हाथ रगड़ कर मुँह में न लगा लूँ! मैं पैदल यदि कहीं जाता रहूँ और राह में यदि घोड़े की लीद वा ऐसी ही कोई गन्दी चीज देख लूँ तो मुझे भय होता है कि मैं उसे उठाकर खा लूँगा। अतः अब ऐसी हालत हो गई है कि मुझे चौबीसों घण्टे एक ऐसे आदमी की आवश्यकता होती है जो एक टक मेरी सारी हरकतों को देखा करे और उनका साक्षी रहे। यदि एक सेकेण्ड को भी उसकी पलकें गिरीं कि मुझे भय होने लगता है कि मैंने कुछ गन्दा काम कर दिया। तबीयत एकदम घबराने लगती है और मैं उससे सवाल-जवाब करने लगता हूँ कि मैंने वैसा किया या नहीं। उसके लाख समझाने पर भी मुझे विश्वास नहीं होता। मैंने अपना आत्म-विश्वास और मनःशक्ति एकदम खो दी है। इन्हीं सब वजहों से मेरा गुस्सा अधिक बढ़ गया है और स्वभाव चिड़चिड़ा होता जा रहा है। दुनियाँ के किसी भी काम में मुझे कोई रस नहीं मिलता और तबीयत नहीं लगती। सदा वही भय सताये रहते हैं। गुदा-स्थान छूनेवाली बात के डर से अब आज कल मुझे हरदम पतलून, जिसे मैं ज्यादा सुरक्षित समझता हूँ, पहनना पड़ता है। पतलून को ऊपर से दो तीन बेल्ट से कसे रहता हूँ।"

और इससे उसे फाँसी हो जायगी। उसे यह ज्ञात था कि यह बिलकुल निराधार है तिस पर भी वह उसे छोड़ नहीं सकता था। लेखक के एक शिष्य को अपने ससुर के प्रति यह झक उत्पन्न हो गई थी कि वे उसका समुचित सम्मान नहीं करते, उसे निरादर की दृष्टि से देखते हैं। इस झक के कारण उसे अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न हो गई थी। यह शिष्य बड़ा विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति है। वह इस झक से मुक्त होना चाहता था। वह जानता था कि ऐसे विचार से उसे कोई लाभ नहीं, नुकसान ही है किन्तु जितना ही वह इस झक को छोड़ने का प्रयत्न करता था उतनी ही वह और दृढ़ होती जाती थी।

एक दूसरा झक का रोगी लेखक को हाल ही में मिला। यह भी बड़ी प्रतिभा-शाली नवयुवक है। इसे हृदय के रोग होने की झक सवार हो गई है। इसने अपने हृदय की परीक्षा डाक्टरों से कराई। उसके हृदय की गति में कोई दोष नहीं है। तिस पर भी उसके मन में यह भावना आती रहती है कि उसके हृदय की गति रुकी जा रही है।

एक दूसरे रोगी के, जो घर के बड़े सम्पन्न व्यक्ति हैं, मन में यह कल्पना आई कि उनके पेट में नागिन उत्पन्न हो गई है अथवा किसी तरह वह उनके पेट में पहुँच गई है और यह नागिन धीरे-धीरे बढ़ रही है। उनका विश्वास यह हो गया कि उनकी मृत्यु निश्चित है। डाक्टरों के उनकी शरीर की परीक्षा करने पर और विश्वास दिलाने पर कि उन्हें किसी प्रकार का चिन्ताजनक पेट का विकार नहीं है, उनको सन्तोष नहीं होता था। यह रोगी इस बीमारी में अपनी झक को निर्मूल नहीं समझता था। अतएव उसे अपनी झक से मुक्त करना उतना कठिन नहीं था। जब रोगी स्वयं अपनी झक को झक जानता है, तिस पर भी वह उस झक से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, तब उसका मानसिक उपचार कठिन होता है।

अकारण भय—कितने ही लोगों को कीड़े-मकोड़े और पतंगों का तथा छिपकलियों आदि का बड़ा भय रहता है। लेखक के एक शिष्य को मक्खियों का बड़ा भय है। जब कोई मक्खी उड़कर उसके शरीर पर बैठ जाती है तो उसे यह भय हो जाता है कि वह मक्खी अपने पैर में बहुत-सा जहर बाहर से ले आई है और यह जहर वह उसके शरीर पर छोड़ दे रही है। इससे उसकी मृत्यु होने की सम्भावना है। इस भय को यह व्यक्ति निरर्थक जानता है तिस पर भी वह उससे मुक्त नहीं हो सकता, इसका कारण खोजने पर पता चला कि यह जब स्कूल में पढ़ता था, तब वह बहुत से कीट

पतिङ्गों को बटोरकर एक शीशे के गिलास में एकत्र करता था। विभिन्न प्रकार की तितलियाँ अलग-अलग शीशे के बर्तनों में रखी जाती थीं। इन पर अपनी प्राण-शक्ति के अनेक प्रयोग किये जाते थे। जहर और क्लोरोफार्म आदि का इन पर प्रयोग किया जाता था। एक दिन जब यह व्यक्ति पतिङ्गों को शीशे में लेकर बैठा हुआ था जिसमें कि एक विशेष प्रकार का जहर था, यह विचार करने लगा कि यदि इसमें एक कीड़ा उसके ओंठ पर आकर बैठ जाये तो उसकी क्या दशा होगी। जब से यह कल्पना उसके मन में आई वह कीड़े-मकोड़ों से डरने लगा। उसके सब प्रयोग बन्द हो गये। यह व्यक्ति एक वैश्य घर का लड़का है। इसकी माँ वैष्णव है और सारा परिवार हिन्दू-धर्म के विचारों से परिपूरित है। इस परिवार में जीवों की हत्या को पाप समझा जाता है। सम्भव है, ऐसी स्थिति में इस व्यक्ति के उक्त अकारण भय का कारण इसका नैतिक भावना का दमन हो।

लेखक के एक शिष्य को साँप का बड़ा भय उत्पन्न हो गया था। इस भय के कारण वह रात को घर से नहीं निकल सकता था। वह दिन-रात इस भय से पीड़ित था। इसको निराधार जानते हुए भी वह उससे मुक्त नहीं हो सकता था। यह भय भी वास्तव में दबी हुई काम-वासना की भावना का प्रतीक था।

जो व्यक्ति अकारण भय से पीड़ित रहता है उससे उस भय के विषय में तर्क-वितर्क करके उसे भय से मुक्त करने की चेष्टा करना विफल होता है। अकारण भय वास्तविक भय की वस्तु का प्रतीक होता है। जब तक व्यक्ति को इस वास्तविक भय से मुक्त नहीं किया जाता तब तक वह अकारण भय से मुक्त नहीं होता।

मानसिक ग्रन्थि और शारीरिक रोग

जिस प्रकार मनुष्य की असन्तुष्ट वासना मानसिक रोग का कारण होती है उसी तरह वह शारीरिक रोग का भी कारण होती है। लकवा, दमा, मधुमेह, अन्धापन, कुपच, वमन, हृदय की धड़कन, किसी अंग का फड़कना आदि अनेक रोग दबी हुई मानसिक ग्रन्थि के कारण हो जाते हैं। गत महासमर के समय बहुत से सिपाहियों को लकवा की बीमारी हो गई थी। इस बीमारी को मनोविश्लेषण विधि से हटाया जा सकता था। वास्तव में मनोविश्लेषण विज्ञान की वृद्धि इसी प्रकार के रोगियों को अच्छा करने के कारण हुई। उक्त लकवा के रोगियों के विषय में यह देखा गया कि उनकी चेतन मन की धारणा एक प्रकार की थी और अचेतन मन की वासना दूसरे

प्रकार की। उनकी कर्तव्य बुद्धि जो कि उनके चेतन मन की अंग थी उन्हें युद्ध में लड़ने के लिए बाध्य करती थी और उनकी अचेतन मन की धारणा उन्हें युद्ध से मुक्त होने के लिए प्रेरित करती थी। इस तरह उनके अचेतन मन और चेतन मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया था। जब सिपाहियों की अचेतन मन की भावना ने अपनी तृप्ति का कोई उपाय न देखा तो उसने रोगी के शरीर में लकवा की बीमारी उत्पन्न कर दी। लकवा की बीमारी के कारण सिपाही अप्रिय काम करने से बच गया।

कितने ही विद्यार्थी परीक्षा के समय जब उनकी तैयारी ठीक से नहीं रहती तो बीमार हो जाते हैं। इस तरह वे एक अप्रिय काम करने से बच जाते हैं और अपने आत्म-सम्मान को भी नहीं खोते। जिन विद्यार्थियों में आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक होती है उन्हें ही ऐसी बीमारी होती है। इस प्रकार की बीमारी अचेतन मन का कार्य होती है और बालक को उसके कारण के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। लेखक एक विद्यार्थी को, जो एक ताल्लुकेदार का लड़का था, परीक्षा के समय एक भारी फोड़ा निकल आया, जिसके आपरेशन के लिए उसे बम्बई जाना पड़ा। जब कोई मनुष्य अपने अनिच्छित काम से बचने का कोई उपाय नहीं देखता तो वह बीमारी का आश्रय लेता है। कितने ही लोगों को दमे की बीमारी उस समय हो जाती है या बढ़ जाती है जब कि उसकी जीवन की परिस्थितियाँ बड़ी कठिन हो जाती हैं। दमा की बीमारी के साथ-साथ मानसिक क्लेश की परिस्थितियाँ रहती हैं। मानसिक प्रसन्नता की स्थिति उत्पन्न होने पर यह बीमारी प्रायः कम हो जाती है।

कितनी ही महिलाओं को वमन की बीमारी होती है जिसका कि मानसिक कारण होता है। ऐसे रोगों के मन में प्रायः एक दबी हुई आत्म-ग्लानि की भावना रहती है। यह आत्मग्लानि अपने किसी दुष्कृत्य से उत्पन्न होती है। व्यक्ति दुष्कृत्य की घटना को भूल जाता है। वह इस प्रकार के दुष्कृत्य को आत्म-स्वीकृति भी नहीं करना चाहता, किन्तु उसका आन्तरिक मन इस विकार को अपने अन्दर नहीं रखना चाहता, अतएव वह दमन की सांकेतिक चेष्टा के द्वारा इस विकार को बाहर निकालता रहता है। मनुष्य के बहुत से रोग किसी पाप के फलस्वरूप, अर्थात् वे दमन की गई नैतिक भावना के द्वारा उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी वमन की बीमारी रोगी के किसी विशेष ध्यान में रहने की अनिच्छा से भी उत्पन्न हो जाती है। रोग का अचेतन मन वहाँ का अन्न-जल नहीं ग्रहण करना चाहता। स्थान के बदलने पर इस प्रकार की बीमारी

अच्छी हो जाती है। इस प्रकार की बीमारी तभी उत्पन्न होती है जब उस स्थान में ठहरने से उस व्यक्ति का लाभ होता है और उसके आन्तरिक मन की इच्छा वहाँ से भागने की रहती है। स्वयं लेखक को जब वह अमलनेर तत्व-विज्ञान मंदिर में दार्शनिक खोजों में लगा हुआ था, इस प्रकार की बीमारी का अनुभव एक बार हुआ था।

कितने ही लोगों को कोढ़, एक्जिमा, आँख के रोग आदि किसी प्रबल भावना के दमन के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। यह भावना नैतिक अथवा साधारण प्राकृतिक इच्छा हो सकती है। रोग की उत्पत्ति से आन्तरिक इच्छा की पूर्ति होती है। अथवा उससे मानसिक विकार बाहर निकलते हैं। इन विकारों के बाहर निकलने पर रोग अपने-आप नष्ट हो जाता है।

शारीरिक रोगों के तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—पहला शारीरिक सुख की इच्छा का दमन, दूसरा मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के हेतु और तीसरे नैतिक भावना का दमन और आत्म-ग्लानि। फ्रायड महाशय के अनुसार पहले प्रकार का कारण ही रोग की उत्पत्ति का प्रधान कारण होता है। एडलर महाशय के अनुसार दूसरे तथा होमरलेन और युंग महाशय के अनुसार तीसरे प्रकार का कारण रोगों की उत्पत्ति का प्रधान कारण होता है। जिस तरह स्वप्नों के विषय में तीन प्रकार के सिद्धान्त हैं, अर्थात् पुराने संस्कार और इच्छाओं का दमन भविष्य की आकांक्षाएँ तथा वर्तमान मानसिक स्थिति, इसी तरह रोग के विषय में भी तीन प्रकार के सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त क्रमशः फ्रायड, एडलर और युंग महाशय के हैं। हमारा विचार है कि वर्तमान स्थिति को ही रोग का प्रधान कारण मानना सबसे अधिक युक्ति-सङ्गत है। वर्तमान मानसिक स्थिति में अतीत काल के अनुभव भी स्थित रहते हैं और उसमें भविष्य की सम्भावना भी रहती है। मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं के दमन से ही रोगों की उत्पत्ति होती है; चाहे वे साधारण सुख की भावनाएँ हों अथवा उच्च आदर्शवादी भावनाएँ। बालकों के और अविकसित व्यक्तित्ववाले लोगों के रोगों का प्रधान कारण पहले प्रकार का होता है और विकसित व्यक्तित्व के लोगों के रोगों का प्रधान कारण दूसरे प्रकार का होता है। जनसाधारण की यह धारणा निर्मूल है कि मनोविज्ञान पाशविकता को प्रोत्साहन देता है तथा संयमी और आदर्शवादी जीवन का विनाश करता है। नवीन मनोविज्ञान का छिछला अध्ययन करनेवाले व्यक्ति अवश्य पाशविकता को ही प्राकृत जीवन मान लेते हैं। मनुष्य की प्रकृति पशु प्रकृति से भिन्न है, वे इसका ध्यान नहीं रखते। मनुष्य की प्रकृति में आत्म-संयम की प्रवृत्ति उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि पाशविक इच्छाओं की प्रवृत्ति।

जैसे-जैसे मनुष्य का जीवन विकसित होता जाता है वैसे-वैसे उसमें पाशविकता की कमी और नैतिक तथा आदर्शवादी भावनाओं की प्रबलता होती है, किसी की भी प्रबल भावनाओं का दमन करना बुरा है। इससे मानसिक तथा शारीरिक रोग की उत्पत्ति होती है। साधारणतः बालकों में शारीरिक सुख की इच्छाओं के दमन से रोग की उत्पत्ति होती है और प्रौढ़ व्यक्तियों में नैतिक भावनाओं के दमन से रोग की उत्पत्ति होती है।

मनोविश्लेषण-चिकित्सा

मनोविकारजनित रोगों की चिकित्सा मनोविश्लेषण की विधि से की जा सकती है। इस विधि से बड़े-बड़े मानसिक और शारीरिक रोग नष्ट किये गये हैं। मनोविश्लेषण-विधि के प्रधानतः दो अङ्ग हैं—रेचन[1] और पुनःशिक्षा[2]। रेचन-विधि दबी हुई मानसिक ग्रन्थि को चेतना की सतह पर लाने की विधि है। इसके लिए मनोविश्लेषण के विशेषज्ञ की अपेक्षा होती है। इसमें पहले विश्लेषण को मानसिक ग्रन्थि की खोज करनी पड़ती है। इस खोज के पश्चात् उसे व्यक्ति की चेतना पर लाकर उस व्यक्ति से उसकी आत्म-स्वीकृति करानी पड़ती है। बहुत रोगों का विनाश दबी हुई भावना के चेतना की सतह पर आने और उसकी आत्म-स्वीकृति हो जाने पर ही हो जाता है, किन्तु कुछ जटिल रोगियों को स्थायी लाभ पहुँचाने के लिए पुनः शिक्षा की आवश्यकता होती है। इस शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन के आदर्शों और नैतिक धारणाओं में परिवर्तन करना तथा उसकी सञ्चित शक्ति को सदुपयोग में लगाना, जिसे मनोविश्लेषक शक्ति का शोध कहते हैं, होता है। मानसिक ग्रन्थि की खोज के लिए विश्लेषक को बड़ी सावधानी और धैर्य के साथ काम लेना पड़ता है। इसके लिए कभी-कभी उसको एक ही रोगी के पीछे महीनों लगा देना पड़ता है। इसके लिए रोगी की सांकेतिक चेष्टाओं और स्वप्नों का अध्ययन करना पड़ता है। कभी-कभी इसके लिए सम्मोहन का प्रयोग करना पड़ता है। प्रायः सभी मनोविश्लेषकों को इसके अतिरिक्त सहज-शब्द-सम्बद्ध[3] की प्रक्रिया से भी काम लेना पड़ता है। सम्मोहन की अवस्था में रोग की साधारण चेतना नहीं रहती। सहज-शब्द-सम्बद्ध की प्रक्रिया का प्रयोग साधारण चेतना की अवस्था में ही किया जाता है। सहज-शब्द-सम्बद्ध के प्रयोग में रोगी को कुछ शब्द एक के बाद एक कहे जाते हैं और उसके मन में जो कुछ आये उसे तुरन्त कह देने को कहा जाता है। कहे हुए

1, Catharsis, 2. Re-education, 3. Word association,

शब्द को तथा कहने के समय को नोट किया जाता है। रोगी के कहे गये शब्दों में कुछ मार्मिक शब्द होते हैं। देखा गया है कि रोगी से जब इन शब्दों को कहा जाता है तो उत्तर देने में उसे देरी लगती है और विचित्र प्रकार के उत्तर आते हैं।

मानसिक ग्रन्थि और अपराध

दबी हुई मानसिक भावना जिस प्रकार किसी मानसिक या शारीरिक रोग में प्रकट होती है उसी तरह वह अपराध की मनोवृत्ति में भी प्रकट होती है। बालकों की मानसिक जटिलता का भी प्रधानतः यही कारण है। अपराधी का मन दुःखी होता है। यह दुःख उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न होता है। अपराधी को अपनी दबी हुई भावना का ज्ञान नहीं रहता और न वह अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को ही जानता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाशित होते समय रोग अथवा अपराध की मनोवृत्ति धारण कर लेता है। प्रत्येक अपराधी का आन्तरिक मन दुःखी रहता है, जिस तरह कि प्रत्येक रोगी का रोग की उपस्थिति के पूर्व आन्तरिक मन दुःखी रहता है। रोग और अपराध मानसिक विकारों का प्रकाशन मात्र है।

अपराध की मनोवृत्ति का निराकरण भी मनोविश्लेषण विधि से किया जा सकता है। बहुत से जटिल बालकों में झूठ बोलने, चोरी करने, व्यभिचार करने, दूसरों को तंग करने आदि मनोवृत्तियों का उपचार डाक्टर होमरलेन ने सफलतापूर्ण मनोविश्लेषण विधि से किया है। सभी अपराधियों में मनुष्यमात्र के प्रति घृणा का भाव रहता है। वे अपने-आपको भी कोसते हैं। अपराधी को दण्ड देकर हम उसकी घृणा के भाव को और प्रबल कर देते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान की खोजें यह दर्शाती हैं कि अपराध की मनोवृत्ति के निवारण के लिए अपराधी के प्रति कठोरता का नहीं, वरन् सहानुभूत और प्रेम का बर्ताव करना चाहिए। अपराधी के प्रति सहानुभूति दिखाने से उसके हृदय के प्रेम-स्रोत फिर सजीव हो जाते हैं। इनके सजीव हो जाने पर उसका मनुष्यों के प्रति घृणा का भाव नष्ट हो जाता है। वह अपने-आपसे भी घृणा करना अर्थात् अपने-आपको कोसना बन्द कर देता है। उसके जीवन में आशा का संचार हो जाता है। उसमें आत्म-सम्मान का भाव आ जाता है और वह अपने-आपको ऊपर उठाने का प्रयत्न करने लगता है। जहाँ घृणा दैवी गुणों और जीवन की विनाशक है, प्रेम उनका पोषक है। प्रेम ही वह अमृत है जिससे मनुष्य के सभी प्रकार के रोग-दोष नष्ट हो जाते हैं।

———

अठारहवाँ प्रकरण

स्वप्न

स्वप्न का स्वरूप

स्वप्न का अध्ययन भारतवर्ष में वैदिक काल से चला आया है। 'स्वप्न' शब्द का अर्थ है 'अपने-आप में स्मरण करना'। स्वप्न पर विचार करना अपने-आपको जानने के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा मन के गुप्त स्तरों का और उसकी गुप्त क्रियाओं का पता चलता है। सीशोर महाशय का कथन है कि स्वप्न के विषय में अधिक चिन्तन करना अवांछनीय है। स्वप्न के विषय में अधिक चिन्ता बढ़ाना विक्षिप्तता के आगमन को दर्शाता है। आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान इस विचार को भूल समझता है। स्वप्न अध्ययन से आत्मज्ञान बढ़ता है। मानसिक रोगों की चिकित्सा बिना रोगी के स्वप्नों के अध्ययन के, सम्भव ही नहीं।

स्वप्न हमारा एक सामान्य अनुभव है। यह हमें प्रत्येक दिन होता है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जाग्रत अवस्था और सुषुप्त अवस्था हर दिन होती है, उसी प्रकार स्वप्न भी प्रतिदिन होते हैं। किन्तु बहुत से स्वप्न हमें स्मरण नहीं रहते। हम जागते ही उन्हें भूल जाते हैं। इसलिए बहुत से लोगों को प्रतिदिन स्वप्न देखने का ज्ञान नहीं होता।

स्वप्न के देश, काल जाग्रत अवस्था के देश काल से भिन्न होते हैं। हमारा शरीर एक ही स्थान पर पड़ा रहता है, किन्तु स्वप्नावस्था में हमारा मन संसार में विचरण करता रहता है और वह कितनी ही नई सृष्टियों की उत्पत्ति कर लेता है। कभी-कभी जाग्रत अवस्था के एक मिनट में हम इतना लम्बा स्वप्न देखते हैं कि मालूम होता है कि वर्षों बीत गये। स्वप्नावस्था का अनुभव मनोराज्य के अनुभव के समान होता है। दोनों प्रकार के अनुभवों का आधार वास्तविक जगत् का अनुभव अवश्य है, किन्तु तिस पर भी स्वप्न और मनोराज्य की सृष्टि वास्तविक जगत् की सृष्टि से भिन्न होती है। जो घटनाएँ वास्तविक जगत् में असम्भव हैं, वे मनोराज्य और स्वप्न में घटित हो जाती हैं। यदि कोई मनुष्य अपने बिस्तर पर लेटकर अपने विचारों का चेतना द्वारा नियन्त्रण करना बन्द कर दे और मन को जो कुछ करता है

करने दे, तो वह शीघ्र ही अपने-आपको मनोराज्य की सृष्टि करते पायेगा। इस अवस्था के पश्चात् स्वप्नावस्था आ जाती है जिसका अन्त सुषुप्ति अवस्था में होता है। मनोराज्य की अवस्था में जाग्रत अवस्था का अभिमानी (द्रष्टा) ही विचारों का सञ्चालन करता है, किन्तु स्वप्न अवस्था का द्रष्टा जाग्रत अवस्था के द्रष्टा से एकदम भिन्न होता है, जिस प्रकार स्वप्न अवस्था का दृश्य जगत् जाग्रत अवस्था के दृश्य जगत् से भिन्न होता है।

अधिक स्वप्नों का देखना बुरा माना जाता है। स्वप्नों के ऊपर हमारी चेतना का कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता। हम जैसे स्वप्न चाहें वैसे नहीं देख सकते और न उनका आना ही रोक सकते हैं। भयंकर स्वप्नों का बार-बार देखना शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। वास्तव में इस प्रकार के स्वप्न मन अथवा शरीर में स्थित विकार के सूचक हैं न कि उनके कारण। भयंकर स्वप्नों को रोकने के लिए स्वप्नों के कारण जानना आवश्यक है। कारण के परिवर्तन होने से स्वप्नों में परिवर्तन हो सकता है।

स्वप्न के कारण

स्वप्न शारीरिक अथवा मानसिक उत्तेजना के कारण आते हैं। शारीरिक उत्तेजनाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक शरीर में स्थित विकारों द्वारा और दूसरी बाहरी पदार्थों द्वारा। मानसिक उत्तेजनाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक जाग्रत अवस्था की अनुभवजन्य और दूसरी आन्तरिक इच्छाजन्य। इन दोनों प्रकार के कारणों पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

शारीरिक उत्तेजना—ऊपर कहा गया है कि शारीरिक उत्तेजना दो प्रकार की होती है—परिस्थितिजन्य और शारीरिक विकारजन्य। जब हम किसी गन्दे और बदबूदार कमरे में सोते हैं, अथवा गन्दे कपड़ों को ओढ़कर सोते हैं तो अप्रिय स्वप्न देखते हैं। मुँह ढँककर सोने से बुरे स्वप्न आते हैं। हमारे साँस से निकली दुर्गन्ध फिर हमारे दिमाग में आ जाती है और बुरे स्वप्नों को पैदा करती है। मुँह से निकलनेवाली हवा जहरीली और दुर्गन्धित होती है। यही हवा साँस द्वारा जब फिर हमारे शरीर में जाती है तो उसके जहर का प्रभाव हमारे दिमाग पर भी पड़ता है। इससे हमारी अचेतन अवस्था में हमें एक प्रकार की पीड़ा होती है। यह पीड़ा यदि हमारी जाग्रत् अवस्था में हो तो हमें असह्य हो जाय और उससे मुक्त होने के लिए हम तुरन्त चेष्टा करें। परन्तु अपनी अचेतन अवस्था में हम इस प्रकार क्लेश से मुक्त होने की चेष्टा नहीं

करते, अतएव हमारी यह दुःखदायक उत्तेजना हमारे बुरे स्वप्नों का कारण बन जाता है। इसी प्रकार सोने की जगह पर गन्दगी रहने से स्वप्न अच्छे नहीं आते।

सोने के स्थान पर बाहर से हल्ला-गुल्ला की आवाज आना एक विशेष प्रकार के स्वप्न का कारण बन जाती है। इस प्रकार सोने की जगह पर यदि बाहर से आनेवाली आवाज कर्ण-प्रिय अथवा मन्त्र-मुग्ध करने वाली हो तो स्वप्न सुन्दर आते हैं और यदि वह अरोचक और दुःखदाई हुई तो स्वप्न भी अरोचक और दुःखदाई होते हैं। यदि सोते समय किसी व्यक्ति को कोई शारीरिक कष्ट दिया जाय तो वह दुःखदायी स्वप्नों का कारण बन जाता है। मान लीजिए, सोते समय किसी व्यक्ति को ठण्ड लग रही है तो वह इस समय अप्रिय स्वप्न देखेगा। सोते समय यदि किसी व्यक्ति के मुँह पर पानी छिड़क दिया जाय तो उसे बरसात होने के स्वप्न देखने की सम्भावना है। मायर महाशय ने तीन प्रकार के स्वप्नों पर अनेक प्रयोग किये हैं, यदि सोते समय किसी व्यक्ति के तलुवे पर पानी लगाया जाय तो वह पानी में चलने का स्वप्न देखता है।

जिस प्रकार बाहर से आनेवाली उत्तेजनाओं के कारण स्वप्न होते हैं उसी तरह आभ्यन्तरिक और शारीरिक विकारों के कारण भी स्वप्न होते हैं*। यदि

---

*'मिलिंद राजा के प्रश्न' नामक पुस्तक में निम्नलिखित छः प्रकार के स्वप्न के कारण बताये गये हैं—

(१) वायु भर जाने से,
(२) पित्त के प्रकोप से,
(३) कफ बढ़ जाने से,
(४) देवताओं के प्रभाव में आने से,
(५) बार-बार किसी काम को करते रहने से, और
(६) भविष्य में होनेवाली बातों से।

भविष्य की बातें इसी प्रकार प्रतिबिम्बित होती हैं जिस प्रकार दर्पण में सामने आनेवाला पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है। स्वप्न देखनेवाला अपने इस प्रकार के स्वप्नों का अर्थ नहीं लगा सकता। इसके लिए विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है। जिनका चित्त शुद्ध है वे इस प्रकार के स्वप्नों का अर्थ लगा सकते हैं। दूसरा अपने-आप नहीं जानता। "जिस प्रकार बुरी जीविकावाले, दुराचारी, पापमित्र, शीलभ्रष्ट, कायर और उत्साहहीन भिक्षु के पास ज्ञानी लोगों के गुण नहीं आते उसी प्रकार जागते हुए के पास दिवा-कर्ता नहीं आते।"

किसी मनुष्य को किसी विशेष प्रकार की पीड़ा है, तो उसे दुःखदाई स्वप्न होते हैं। ज्वर की अवस्था में अच्छे स्वप्न नहीं आते, जिस प्रकार रोगी की कल्पनाएँ अभद्र होती हैं, उसी प्रकार उसके स्वप्न भी अभद्र होते हैं। जब शरीर अधिक रोगग्रस्त हो जाता है तो मनुष्य भयंकर मानसिक चित्रों को अपने सामने देखने लगता है। ये मानसिक चित्र उसे स्वप्न में भी दिखाई देते हैं। सुन्दर स्वप्नों को देखने के लिए शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की आवश्यकता है।

कभी-कभी आनेवाली बीमारी स्वप्न में दिखाई देती है। यह बीमारी सम्भव है कि उसी रूप में न दिखाई दे, जिस रूप में वह आनेवाली है। कभी-कभी वह उसी रूप में दिखाई देती है जिस रूप में आनेवाली होती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को उसके विशेष अङ्ग में फोड़ा निकलने वाला है, तो वह इस फोड़े के निकलने का स्वप्न फोड़े के निकलने के पहले ही देख लेता है। स्वप्न का फोड़ा कभी-कभी उसी जगह पर होता है जहाँ वह बाद को उभरता है और कभी-कभी दूसरी जगह पर भी निकलता है। कभी-कभी आने-वाली मानसिक बीमारियाँ भयानक मानसिक चित्रों के रूप में हमारे सामने आती हैं। हम देखते हैं कि कोई बड़ा राक्षस हमें त्रास दे रहा है या हमें कोई भूत सता रहा है। इस प्रकार के स्वप्न आनेवाली बीमारियों के सूचक भी होते हैं। इसका वास्तविक कारण शारीरिक उत्तेजनाएँ हैं। यही उत्तेजनाएँ मानसिक प्रतिमाओं में परिणत हो जाती हैं। हमारे अचेतन मन की शक्ति चेतन मन की शक्ति से कहीं अधिक है। हम मन की अचेतन अवस्था में शरीर के उन अनेक विकारों को जान लेते हैं जो भविष्य में बीमारी का रूप धारण करते हैं। अपने चेतन मन से हम शरीर की उन सूक्ष्म उत्तेजनाओं का ज्ञान नहीं कर सकते जो बीमारी की पूर्व अवस्था में होती है, किन्तु हमारा अचेतन मन उन उत्तेजनाओं का ज्ञान कर लेता है और स्वप्नों के रूप में उन्हें प्रदर्शित करता है।

मानसिक उत्तेजना—स्वप्न के प्रमुख कारण मानसिक उत्तेजनाएँ ही होती हैं। वे दो प्रकार की होती हैं—वातावरण के अनुभवों से उत्पन्न और आन्तरिक इच्छाजन्य। हमारे अधिक स्वप्न जाग्रत अवस्था की उत्तेजनाओं से पैदा होते हैं। मान लीजिए, हम फ्रान्स की क्रान्ति की पुस्तक पढ़ते-पढ़ते सो जाते हैं तो हम अपने स्वप्नों में उसी क्रान्ति का दृश्य देखने लगते हैं जो उस पुस्तक में चित्रित की गई है। जब सिनेमा देखने के पश्चात् सिनेमा का दर्शक सो जाता है, तो सिनेमा के दृश्य से मिलता-जुलता स्वप्न देखता है।

कभी-कभी दृश्य जगत् की उत्तेजना तुरन्त ही स्वप्न में परिणत नहीं होती, तो वह कुछ काल के बाद स्वप्न में परिणत होती है। स्वप्न में वह उत्तेजना दूसरी उत्तेजनाओं से मिल जाने के कारण वैसे ही स्वप्न नहीं पैदा करती जैसे कि वह जाग्रत अवस्था के अनुभव में हुई थी। स्वप्न और जाग्रत अवस्था में इतनी विषमता होती है कि हम स्वप्न अनुभव में जाग्रत अवस्था के अनुभव का कार्य पहचान नहीं सकते।

स्वप्नों के उपर्युक्त कारण प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने माने हैं। फ्रायड महाशय ने स्वप्नों के कारणों के ऊपर एक नया प्रकाश डाला है। इनके अनुसार हमारे सभी स्वप्नों का कारण हमारी दबी हुई इच्छाएँ हैं। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। ये इच्छाएँ स्वभावजन्य हैं। इनमें से कुछ इच्छाएं नैतिक होती हैं और कुछ अनैतिक। हमारी अधिक नैतिक इच्छाओं की तृप्ति जाग्रत अवस्था में हो जाती है। हमारा चेतन मन इनका विरोधी नहीं होता, किन्तु हमारी अनैतिक इच्छाओं की तृप्ति हमारी जाग्रत अवस्था में नहीं होती। हमारा नैतिक मन इनका दमन करता है। जिन इच्छाओं की तृप्ति जाग्रत अवस्था में हो जाती है, वे शान्त हो जाती हैं। वे मन में किसी प्रकार की उत्तेजना का कारण नहीं बनतीं। जिन उत्तेजनाओं की तृप्ति नहीं होती वे शान्त नहीं होतीं, बल्कि अनेक प्रकार की मानसिक उत्तेजनाएँ पैदा करती हैं। ये उत्तेजनाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में स्थिर रहती हैं और उसकी अर्द्धचेतन अवस्था में प्रकाशित होने की चेष्टा करती हैं। स्वप्न इन दबी हुई वासनाओं के कार्य हैं। स्वप्न में वासनाएँ प्रकाशित होती हैं और अपनी तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के भागों का निर्माण करती हैं, किन्तु स्वप्नावस्था में भी हमारा नैतिक मन पूर्णतः अचेतन नहीं रहता। हमारी पाशविक भोगेच्छाएँ इस मन से डरती हैं, अतएव अनेक प्रकार के स्वाँग रचकर वे बाहर निकलती हैं। इस प्रकार के स्वाँग नैतिक मन को धोखे में डालने के लिए रचे जाते हैं। जिस प्रकार सरकार के सेन्सर के डर से चोर-डाकू खुले रूप से समाज में विचरण नहीं कर पाते उसी तरह हमारी भोगेच्छाएँ स्वप्न की अवस्था में भी अपनी तृप्ति खुल कर नहीं कर पातीं और जिस तरह चोर-डाकू अनेक प्रकार के स्वाँग अपने आपको छिपाने के लिए रचते हैं, उसी तरह ये वासनाएँ भी अनेक प्रकार के स्वांग रचती हैं। स्वप्न इस तरह सांकेतिक रूप से दबी हुई भोगेच्छाओं को अपने-आप तृप्त करने की चेष्टा है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार हमारे अधिक स्वप्नों का कारण कामवासना ही है, क्योंकि यही जीवन में व्यक्ति की सबसे प्रबल वासना है

और इसी का दमन सबसे अधिक होता है। पानी में तैरना, हवा में उड़ना, पहाड़ों पर चढ़ना, खोहों में घुसना, पीड़ित होकर भागना और बच्चों के साथ खेलना ये सभी स्वप्न कामवासना की तृप्ति के सूचक हैं।

कामवासना के अतिरिक्त दूसरी उत्तेजनाएँ भी स्वप्नों का कारण होती हैं। किसी भी प्रकार के स्थायीभाव स्वप्न के कारण बन जाते हैं। जिन स्थायीभावों का प्रकाशन जाग्रत् अवस्था में होता रहता है उनकी शक्ति क्षीण होती रहती है, अतएव वे अधिक उद्वेगात्मक स्वप्नों के कारण नहीं बनते, किन्तु जिन स्थायीभावों का प्रकाशन प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अथवा चेतन मन के नैतिक प्रतिबन्ध के कारण नहीं होता, वे स्थायीभाव बड़े उद्वेगात्मक स्वप्नों के कारण बन जाते हैं। वैर, ईर्ष्या, लोभ सभी प्रकार के स्थायीभाव उन स्वप्नों के कारण होते हैं जिनमें हमारा मन उद्विग्न होता है। इन स्थायीभावों में से अनेक स्थायीभाव मानसिक ग्रन्थि के रूप में मनुष्य के मन में स्थित रहते हैं जिन्हें जानना स्वयं उसके लिए कठिन होता है। ऐसी मानसिक ग्रन्थियाँ जटिल स्वप्न उत्पन्न करती हैं। अपने सम्बन्धी की मृत्यु, किसी राक्षस से लड़ना, ऊपर से गिरना आदि भयंकर स्वप्न अवांछनीय मानसिक ग्रन्थियों के परिणाम होते हैं। जिस व्यक्ति के मन में पिता के प्रति वैर भाव है, वह ऐसे स्वप्न देखता है जैसे किसी बड़े आदमी के मरने का स्वप्न, शिक्षक के मरने का स्वप्न जो कि पिता की मृत्यु की इच्छा के सूचक हैं। दूषित मन में इस प्रकार के अनेक स्वप्न होते हैं। इसी तरह जिस व्यक्ति के मन में किसी व्यक्ति के प्रति प्रबल द्वेषभाव है अथवा जो उससे ईर्ष्या या घृणा करता है वह ऐसे स्वप्न देखता है जिसमें कि उसके भावों का प्रकाशन होता है। ये भाव स्वप्न में उसी व्यक्ति के प्रति प्रकाशित हो सकते हैं जिस पर वे पहले-पहल आरोपित हों अथवा दूसरे किसी व्यक्ति के प्रति स्थायीभावों का स्थानान्तरित होना एक साधारण मानसिक अनुभव है। जो व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है वह उस व्यक्ति के अभाव में किसी दूसरे व्यक्ति को उतनी ही घृणा की दृष्टि से देखने लगता है, चाहे वह इस प्रकार की घृणा का पात्र हो या न हो। यह हमारी जाग्रत अवस्था में होता है। स्वप्नावस्था में इस प्रकार स्थायीभावों का स्थानान्तरित होना और भी सरल होता है। हमारी स्वप्नावस्था में हमारे मानसिक भाव वे ही रहते हैं, जो हमारी जाग्रत अवस्था में रहते हैं; स्वप्न और जाग्रत अवस्था में भेद केवल दृश्यमान पदार्थों का होता है; अर्थात् भेद उन्हीं पदार्थों का होता है, जिन पर ये स्थायीभाव आरोपित होते हैं। यदि किस

मनुष्य के मन में ईर्ष्या, घृणा और वैर के स्थायीभाव हैं तो वे जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में आरोपित होने के लिए व्यक्तिविशेष अथवा वस्तुविशेष की खोज कर लेते हैं इसी प्रकार वे स्वप्नावस्था में भी अपने आरोपण के लिए किसी विशेष पदार्थ की खोज कर लेते हैं। जाग्रत अवस्था का पदार्थ मन द्वारा निर्मित नहीं माना जाता। स्वप्नावस्था का पदार्थ मन के द्वारा निर्मित होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य के मन में अवांछनीय स्थायी-भाव हैं तो उसके स्वप्न भी अवांछनीय रहते हैं और यदि उसके मन में सुन्दर स्थायीभाव हैं तो उसके स्वप्न भी सुन्दर होते हैं। स्थायीभावों के बदलने से स्वप्नों में भी मौलिक परिवर्तन हो जाता है।

यहाँ इस तथ्य को स्मरण रखना आवश्यक है कि वास्तविक जगत् में प्रकाशित होते समय स्थायीभाव जिस प्रकार कार्य करते हैं ठीक उसी प्रकार स्वप्न जगत् में प्रकाशित होते समय वे कार्य नहीं करते। वैर का स्थायीभाव हमारी जाग्रत अवस्था में हमें शत्रु के नाश के लिए अनेक योजनाएँ बनाने के लिए प्रेरित करता है। हम उसका विनाश चाहते हैं। हम अपने मन में किसी से वैर के कारण अपने विनाश की कल्पना नहीं करते पर स्वप्न में ऐसा नहीं होता। हमारा मन शत्रुओं द्वारा त्रस्त होने का अनुभव हमें कराता है; अर्थात् हमारी स्वप्न की कल्पना कभी-कभी हमारे ही प्रतिकूल होती है। जाग्रत अवस्था में हम दूसरों से घृणा करते हैं, स्वप्नावस्था में दूसरों को अपने प्रति घृणा करते पाते हैं। जाग्रत अवस्था में धनसञ्चय की कल्पना हमारे मन में आती है, स्वप्नावस्था में धन के चुराये जाने अथवा उसके विनाश की कल्पना हमारे मन में आती है। जाग्रत अवस्था में हम दूसरे की मृत्यु चाहते हैं, स्वप्नावस्था में अपनी ही मृत्यु देखते हैं।

इस प्रकार की स्थिति हमारी आत्मा की उत्तेजना-रहित इच्छा के कारण होती है। ब्राउन महाशय का कथन है कि मनुष्य में मृत्यु की इच्छा उतनी ही प्रबल है जितनी जीने की। इसको उन्होंने निर्वाण की इच्छा कहा है। यह उत्तेजना रहित होने की इच्छा है, वास्तव में यही इच्छा स्वप्नों के होने का मूल कारण है। हमारा साधारण विश्वास है कि स्वप्न हमारी नींद को भङ्ग करते हैं, यह विश्वास भूल मात्र है। स्वप्न नींद की रक्षा करते हैं। नींद निर्वाण की इच्छासूचक है। यह प्रतिदिन के निर्वाण की अनुभूति है जिसके बिना कोई मनुष्य जी नहीं सकता। इसकी प्राप्ति के लिए मन की प्रबल उत्तेजनाओं का शान्त होना आवश्यक है, जिस प्रकार जीवन को

उत्तेजनाओं का शान्त होना महानिर्वाण के लिए आवश्यक है। ये उत्तेजनाएँ प्रकाशन अथवा उनके विपरीतकरण से शान्त होती हैं। वैर, घृणा आदि की शान्ति उनके विपरीत मनोभावों के उत्तेजन से होती है अथवा उनके फलों के भोग से होती है। इस प्रकार के मनोभावों के फलों का भोग स्वप्न में कुछ-कुछ हो जाता है। वैर और भय, घृणा और क्लेश मूलक हैं। जब हमारे मन में वैर और घृणा की प्रबलता होती है, तो हमारा स्वभाव भय और क्लेशकारी परिस्थितियों का पूर्व मनोभावों का निराकरण करने के लिए—अपने-आप निर्माण कर लेता है। इस तरह हम अपने-आपको यन्त्रणा देते हैं।

कुछ स्वप्न हमें आदेश के रूप में आते हैं। ये वास्तव में हमारी अन्तरात्मा के आदेश मात्र हैं। कभी-कभी हम किसी महान् पुरुष को अपने को विशेष प्रकार का आदेश करते पाते हैं। इस प्रकार के स्वप्न हमारी आन्तरिक इच्छा के सूचक हैं। जब कभी हम किसी विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं जिसमें हम नहीं जानते कि हमें क्या करना उचित है और क्या नहीं और जब विचार करते-करते हमारा मन शिथिल हो जाता है तो हम किसी बाहरी प्रकाश की आशा करते हैं। जब इस प्रकार की इच्छा हमारी प्रबल आन्तरिक इच्छा हो जाती है और जब इस इच्छा की तृप्ति किसी बाह्य साधन से नहीं होती तो वह आदेशात्मक स्वप्नों का कारण बन जाती है। इस प्रकार के आदेशात्मक स्वप्न कई बार वास्तव में योग्य मार्ग दर्शाते हैं। जिस निष्कर्ष पर हम अपने विचार से नहीं पहुँचते वह निष्कर्ष कभी-कभी हमें स्वप्न में ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि हमारा साधारण ज्ञान हमारी विचार-शक्ति पर निर्भर रहता है। हमारे चेतन मन को युक्तियाँ चेतन मन के ज्ञान से परिमित रहती हैं। वस्तुस्थिति में ऐसी अनेक बातें होती हैं, जिनका ज्ञान हमारी चेतना को कभी नहीं होता। एडलर महाशय का कथन है कि मनुष्य अपनी विक्षिप्त अवस्था में ही किसी काम के करने के पूर्व उसके सभी पहलुओं पर विचार करता है। हमारे साधारण निर्णय कुछ हमारी अज्ञात प्रवृत्तियों और कुछ चेतन मन की युक्तियों की सहायता से होते हैं। जो व्यक्ति किसी निर्णय के समस्त हेतुओं पर विचार करता है वह कठिनता से ही किसी निर्णय पर पहुँचता है और उसका मन डाँवाडोल रहता है। अचेतन मन ही हमारे जीवन के अधिक काम निश्चित करता है। अचेतन मन का आदेश जब हमारी जाग्रत अवस्था में प्राप्त नहीं होता तो वह स्वप्न में प्राप्त होता है। जब चेतन मन के विचार और अचेतन प्रवृत्ति में विरोध होता है तब प्रायः इस प्रकार के स्वप्न होते हैं।

बहुत पुराने समय से यह विचार चला आया है कि मनुष्य के कुछ स्वप्न भावी घटनाओं के सूचक होते हैं। वैज्ञानिक विचार इस प्रकार की धारणा का विरोधी है। आधुनिक विज्ञान जड़वादी है। अतएव इस प्रकार के स्वप्नों में विश्वास अन्धविश्वास मात्र माना जाता है। विज्ञान यहाँ तक मानने को तैयार है कि जिन घटनाओं की सम्भावना है वे स्वप्न में देखी जा सकती हैं। इस प्रकार की सम्भावना का ज्ञान चेतन मन को न हो पर अचेतन मन को हो सकता है। जब किसी अप्रिय घटना की सम्भावना होती है तो चेतन मन इस प्रकार के विचार की चेतना अलग करता रहता है, अतएव इसका ज्ञान भी चेतन मन को नहीं होता, पर अचेतन मन इस प्रकार का प्रयत्न नहीं करता। अतएव स्वप्नावस्था में उस सम्भावना की रूपरेखा हम देख लेते हैं। वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से यह हमारे मन की कल्पना मात्र है। यह कल्पना सत्य अथवा असत्य हो सकती है। जिस स्वप्न के अनुसार घटना घटित नहीं होती उसे हम याद नहीं रखते, हम उसी स्वप्न को याद रखते हैं जिसके अनुसार घटना घटित होती है। इसलिए हम स्वप्न के भविष्य की बातें बताने में विश्वास करने लगते हैं।

स्वप्न कम किये जा सकते हैं अथवा नहीं, इस विषय पर वैज्ञानिक ढङ्ग से बहुत कम विचार किया गया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि उत्तेजनाओं में कमी हो जाय तो स्वप्न में भी कमी हो सकती है। हम दुःखद स्वप्नों की कमी प्रयत्न से अवश्य कर सकते हैं। दुःखद स्वप्नों के बाहरी कारणों पर नियन्त्रण करना सरल है। स्वच्छ स्थान में सोने से तथा सोते समय स्वच्छ वायु में साँस लेने से; भूख, प्यास को मिटाकर तथा मल-मूत्र त्याग कर सोने से, अप्रिय स्वप्नों में कमी की जा सकती है। आन्तरिक उत्तेजनाएँ धीरे-धीरे कम की जा सकती हैं। मनुष्य को इसके लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। न तो भोग-विलास में ही लगा रहना ठीक है और न इच्छाओं का एकदम दमन करना ही। विवेकपूर्वक इच्छाओं की तृप्ति करने से मनुष्य के जीवन की विषमता जाती रहती है, उसके मन की प्रबल उत्तेजनाएँ भी शान्त हो जाती हैं, तब वह पाशविक व्यवहार के स्वप्न नहीं देखता।*

---

* भगवान् कृष्ण का निम्नलिखित उपदेश इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥

शत्रुओं द्वारा त्रस्त होने के स्वप्न तथा दूसरे प्रकार के दुःखदायी स्वप्न मैत्री-भावना के अभ्यास से कम किये जा सकते हैं। मिलिन्द राजा के प्रश्न नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी भावना के अभ्यास के जो ग्यारह शुभ फल कहे गये हैं उनमें से बुरे स्वप्नों का अन्त हो जाना भी एक है। मैत्री-भावना का अभ्यास सबके प्रति शुभ आकांक्षा प्रकाशित करने में है। इसका अभ्यास दिन भर करना चाहिए पर सोते समय विशेषकर दया और मैत्री के विचार मन में लाने चाहिए।

आदेशात्मक स्वप्न

युङ्ग महाशय का स्वप्न के विषय में एक बड़ा विलक्षण सिद्धान्त है। उनके कथनानुसार स्वप्न हमारी वर्तमान मानसिक स्थिति और उसकी आवश्यकता को प्रदर्शित करता है। मानसिक रोगियों का मनोविश्लेषण करते समय उन्हें बड़े महत्व के स्वप्न होते हैं। इन स्वप्नों से रोगी के उपचार के लिए चिकित्सक को बड़ी सहायता मिलती है। इन स्वप्नों में अपने स्वास्थ्य-लाभ के लिए क्या करना चाहिए इस बात का आदेश रहता है। इन आदेशों को समझकर युङ्ग महाशय बहुत से रोगियों की सफल चिकित्सा करने में समर्थ हुए हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार स्वप्न का ज्ञान प्राप्त करना हमारे साधारण जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए बड़े ही लाभ का है। अपने-अपने स्वप्नों का अध्ययन करके हम अपने जीवन को योग्य मार्ग पर चला सकते हैं और बहुत सी दुर्घटनाओं से अपने को बचा सकते हैं। असफलता और दुर्घटनाएँ उस मनुष्य को अधिक झेलनी पड़ती हैं जो अपने आन्तरिक मन के आदेशानुसार अपने नित्य-प्रति का कार्य-क्रम नहीं बनाता। हम साधारणतः अपनी आन्तरिक भावना को नहीं समझ पाते। जो हमें करना उचित है और जो वास्तव में लाभकारी है इसको एक प्रकार की झलक तो हमें आती है, किन्तु हमारा मन तुरन्त की घटनाओं में दत्तचित अथवा उद्वेगपूर्ण रहने के कारण इस झलक का महत्व नहीं जान पाता। स्वप्न में यह झलक और भी स्पष्ट हो जाती है। बहुत से लोग अपने स्पप्नों के विषय में थोड़ा भी विचार नहीं करते। ऐसी स्थिति में वे स्वप्नों के द्वारा दी गई आन्तरिक मन की शिक्षा अथवा आदेश को ग्रहण नहीं करते। ऐसे लोगों के स्पप्न भी स्पष्ट नहीं होते। वे उन्हें या तो भूल जाते हैं अथवा बड़े ही विकृत रूप में स्मरण रखते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपने स्वप्नों पर इस दृष्टि से विचार करता है कि उनके द्वारा उसे आदेश मिलता है, उसके स्वप्न अधिकाधिक

आदेशात्मक हो जाते हैं। किसी स्वप्न को देखकर जब हम उसके अर्थ पर विचार करते हैं और जब हम स्वप्नादेश के अनुसार कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं तो स्वप्न का अर्थ तुरन्त स्पष्ट हो जाता है। अपने महत्व के स्वप्न को लिख लेना भी यहाँ लाभदायक होता है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी लिखना आवश्यक है कि जागने पर हमारे मन में तुरन्त कौन-सा विचार आया है। युङ्ग महाशय ने अपनी मनोविश्लेषण-विधि में स्वप्न के तुरन्त बाद के विचारों को उतना ही महत्व दिया है, जितना वास्तविक स्वप्नानुभव को। युङ्ग महाशय ने अपने उक्त सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देकर जनसाधारण में प्रचलित स्वप्नों के आदेशात्मक विचारों का समर्थन किया है। इस प्रसङ्ग में लेखक के कुछ मित्रों तथा स्वयं लेखक के तुरन्त ही के स्वप्नानुभव उल्लेखनीय हैं।

लेखक के एक मित्र ने एक बार स्वप्न देखा कि वे एक ऊँचे मकान की सीढ़ी से नीचे की ओर उतर रहे हैं। उतरते समय उनका पैर फिसल गया और वे नीचे गिर पड़े। वे अचानक चौंककर उठ पड़े। मन में यह विचार आया कि आज कोई दुर्घटना होनेवाली है। उसी दिन दोपहर के समय वे जब अपने घर से बाहर शहर में गये तो किसी झगड़े में पीटे गये और इससे उन्हें काफी चोट आई।

ये महाशय अब इस प्रकार के स्वप्न से डरने लगे। पर उन्हें सीढ़ी से उतरने और गिरने का स्वप्न बार-बार होता रहता है। इन स्वप्नों के भय के कारण उन्हें ठीक से नींद भी नहीं आती। उन्हें ये स्वप्न ही त्रास देने लगे। जब इस मित्र महाशय ने लेखक को अपनी पूरी मानसिक स्थिति बताई तो उससे यह स्पष्ट हुआ कि वे अपने जीवन को अपने आदर्शों के अनुसार नहीं चला रहे हैं। सीढ़ी से गिरने के स्वप्न उन्हें अपने-आपको सँभालने के आदेश के रूप में आते हैं। वे उन्हें बार-बार चेतावनी देते हैं कि तुम पतन की ओर जा रहे हो और तुम्हें सावधान रहने की आवश्यकता है। पहली बार देखे गये सीढ़ी से गिरने के स्पप्न का पीटे जाने की घटना से सम्बन्ध हो जाने के कारण उनके सभी सीढ़ी से गिरने के स्वप्न आदेशात्मक हो गये। इन स्वप्नों की भाषा स्पष्ट है। यदि ये महाशय इन आदेशों के अनुसार अपना आचरण बना लें तो उनके स्वप्न और भी अधिक आदेशात्मक हो जायँ।

लेखक को हाल ही में एक स्वप्न हुआ। उसने अपने एक परिचित व्यक्ति को एक धार्मिक सभा में बैठे हुए देखा। इस व्यक्ति की उम्र कोई ७२

चर्य की है। यह स्वयं बड़ा धार्मिक व्यक्ति है। लेखक ने स्वप्न में देखा कि वह स्वयं कुर्सी पर बैठा है और वह वयोवृद्ध व्यक्ति जमीन पर बैठा है। जब उक्त स्वप्न में उस व्यक्ति के ऊपर लेखक की नजर गई तो उसे आत्म-ग्लानि हुई। इस स्वप्न के बाद नींद खुल गई।

जागकर लेखक स्वप्न के विषय में सोचने लगा। सोचते ही पहला विचार आया कि लेखक इस व्यक्ति के प्रति किसी कर्तव्य से मुख मोड़ रहा है। पहले दिन की घटना पर विचार करने से स्पष्ट हुआ कि इस महाशय की लड़की को अपनी बी० ए० की परीक्षा की तैयारी के लिए लेखक की आवश्यकता है। लेखक के सहयोगी शिक्षक ने इस लड़की को सहायता देने के लिए पिछले दिन प्रार्थना की थी, किन्तु इस काम को टाल दिया गया था। उस समय एक अस्पष्ट आन्तरिक प्रेरणा यह अवश्य हुई थी कि यदि उक्त लड़की की सहायता की जाय तो अच्छा है। इस स्वप्न के आदेशानुसार इस लड़की को सहायता देने का लेखक ने निश्चय किया। स्वयं लेखक को इस प्रकार की सहायता से पर्याप्त लाभ हुआ। लेखक को उस बालिका के पिता से कुछ मौलिक आध्यात्मिक विचार मिले।

आज ही रात को लेखक ने एक विलक्षण स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने अपने आपको पन्द्रह सोलह ट्रेनिङ्ग कालेज की छात्राओं के साथ पाया। छात्राएँ बैठी हुई थीं और लेखक उन्हें अध्यापन-कला पर कुछ बातें बता रहा था। इनमें एक ऐसी थी जिसको लेखक ने दो साल पहले भी बी० ए० की परीक्षा की तैयारी के समय पढ़ाया था। इस छात्रा के प्रति लेखक को किसी कारणवश कुछ द्वेषभाव हो गया था। स्वप्न में देखा कि इस बालिका से लेखक को बार-बार नाम पूछना पड़ता है। बार-बार नाम पूछे जाने के कारण यह लड़की चिढ़ जाती है और लेखक से स्वप्न में अपमान-सूचक बातें कहती है। लेखक को मानसिक दुःख होता है। किन्तु, वह उस लड़की के शब्दों का कोई जवाब नहीं देता। जब उसका नाम स्मरण करने की चेष्टा करता है तब फिर भूल जाता है। लेखक को स्वप्न में ही फ्रायड महाशय के उस सिद्धान्त का स्मरण आता है जिसमें उन्होंने नाम के भूलने के विषय में लिखा है कि हम अप्रिय लोगों का बार-बार नामस्मरण करने पर भी भूल जाते हैं। इस दृश्य के बाद स्वप्न का दूसरा दृश्य आता है। इसमें लेखक अपने आपको एक बड़ी भारी बावली के बहुत ही पास से चलते हुए पाता है। उसे भय होता है कि कहीं वह उस बावली में

गिर न जाय। एक वृद्ध व्यक्ति लेखक से कहते हैं कि इसमें गिरने का कोई भय नहीं।

इस दृश्य के बाद नींद खुल जाती है। लेखक स्वप्न के विषय में चिन्तन करने लगा। पिछले दिन की घटनाओं का स्मरण किया। पिछले दिन लेखक ने बी० टी० क्लास की तीन प्रभावशाली छात्राओं को अलग बुलाकर मनोवैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में लेख लिखने के लिए प्रोत्साहित किया था और उनमें से प्रत्येक को एक-एक विषय देकर उन पर लेख लिखने के लिए कहा था। इन लेखों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी उन्हें दिये गये थे। इसमें करीब एक घण्टा लगा। इसी बीच में उक्त तीनों छात्राओं के साथ दो और छात्राएँ आ बैठीं। उनमें से एक छात्रा वह थी जिसे लेखक ने स्वप्न में देखा था। जब यह छात्रा आकर बैठी थी तब लेखक के मन में यह विचार आया था कि वह छात्रा मन में इस बात के लिए अवश्य दुःखी होगी कि उसे अन्य छात्राओं के साथ नहीं बुलाया गया। वह भी उतनी ही पढ़ी-लिखी है जितनी अन्य तीन छात्राएँ हैं। लड़कियों के मन में लड़कों की अपेक्षा ईर्ष्या अधिक होती है। इस बात को ध्यान में नहीं रखा गया था। विद्यार्थियों में अनुशासन रखने के निमित्त शिक्षक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह अपने किसी व्यवहार के लिए किसी विशेष छात्र के प्रति अपना झुकाव प्रकट न होने दे, चाहे वह छात्र कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो। उक्त स्वप्न इस अनुशासन सम्बन्धी नियम की अवहेलना करने के कारण हुआ और स्वप्न का उद्देश्य लेखक से अपनी भूल स्वीकार कराना और सुधरवाना था।

उक्त स्वप्न पर विचार करते समय तथा पहले दिन की घटना स्मरण करते समय यह भी ध्यान में आया कि जिस समय लेखक उक्त तीन प्रतिभाशाली छात्राओं को आदेश दे रहा था और उसी समय जो दो छात्राएँ और क्लास में आ गई थीं तो मन में इस बात की एक प्रकार की झलक अवश्य आई थी कि वे दो आमन्त्रित छात्राएँ अपने मन में दुःख की अनुभूति कर रही हैं और उन्हें आमंत्रित छात्राओं से ईर्ष्या हो रही है। इस झलक की उस समय विशेष परवाह नहीं की गई थी। यह झलक स्वप्न में स्पष्ट हो गई।

आध्यात्मिक विचार करनेवाले कुछ पण्डितों का कथन है कि इस प्रकार के स्वप्नों का कारण वातावरण में चलनेवाले विचार हैं, अर्थात् इन स्वप्नों का कारण स्वप्नद्रष्टा का मन ही नहीं है; वरन् स्वप्नद्रष्टा से पृथक् दूसरा

है कि जो रेडियो सेट जिस प्रकार की लहर को पकड़ना चाहता है, साधारणतः वह उसी प्रकार की लहर को पकड़ता है। यदि हम अपने मन के रेडियो सेट को इस प्रकार बनावें जिसमें कि हमारी स्वप्नावस्था में हमें आदेश मिले तो आदेशात्मक स्वप्न होना सरल हो जाय। आदेशों को चाहे हम बाहर से आया हुआ मानें चाहे उन्हें अपना ही वृहत् आत्मा का आदेश मानें। दोनों सिद्धान्तों के अनुसार स्वप्नों के आदेशात्मक होने की सम्भावना सिद्ध होती है। जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार जितना अधिक चलते हैं उनके सामान्य विचार तथा उनके स्वप्न उतनी ही स्पष्टता के साथ उन्हें कर्तव्य का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं।

स्वप्न-निरोध

स्वप्न हमारे अचेतन मन का कार्य है। अचेतन मन की क्रियाओं पर साधारणतः हमारा कोई नियन्त्रण नहीं रहता। हम जैसा चाहते हैं वैसे स्वप्न नहीं देख सकते। हमारी जाग्रत अवस्था का अनुभव एक प्रकार का होता है और स्वप्न के समय का अनुभव दूसरे प्रकार का। स्वप्न-जगत् अपने-आप निर्मित होता है। जाग्रत अवस्था की चेतना इसके निर्माण में कोई भी कार्य नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है कि क्या हम स्वप्नों का आना बिल्कुल बन्द कर सकते हैं अथवा अपने दुःखदायी स्वप्नों में परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रकार के स्वप्नों का निरोध अथवा परिवर्तन हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्वप्नों का निरोध किया जा सकता है। जिस प्रकार हम जाग्रत अवस्था के विचारों का अभ्यास के द्वारा निरोध कर लेते हैं, इसी तरह स्वप्न-निरोध भी सम्भव है। जाग्रत अवस्था के विचारों का निरोध अथवा नियन्त्रण भी उतना सरल कार्य नहीं है, जितना कि मन की क्रियाओं से अनभिज्ञ लोग समझते हैं। हमारे बहुत से विचार ऐसे होते हैं कि जितना ही हम उन्हें मन में आने से रोकें वे और अधिक प्रबलता से आते हैं। मानसिक शुद्धि और अभ्यास के परिणाम-स्वरूप विचारों पर नियन्त्रण अथवा उनका निरोध सम्भव होता है। अभ्यास से स्वप्न-निरोध अथवा नियन्त्रण सम्भव है।

स्वप्न का निरोधन आत्मनिर्देश के द्वारा किया जा सकता है। यदि हम अपने-आपको यह कहकर सोवें कि हम अमुक समय पर जाग जायँ और यदि हमारा संकल्प दृढ़ हो तो हम अवश्य ही उस समय पर जाग जाते हैं।

व्यक्ति के विचार हैं जो कि कभी स्वप्नद्रष्टा के इच्छानुसार और कभी उसकी अनिच्छा होने पर भी उसके मन में घुस जाते हैं।*

एक व्यक्ति के विचार दूसरे व्यक्ति के मन में उसकी सुप्तावस्था में चले जाते हैं और यह विचार उसके स्वप्नों के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार के मत से हम अभिज्ञ नहीं हैं। हमारी साधारण धारणा है कि सच्चा गुरु अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से आदेश देता है। स्वप्नों द्वारा भी गुरु का शिष्य को आदेश होता है। इसी तरह वातावरण में चलनेवाले विचारों को भी, यदि हमारे मन की अनुकूल परिस्थिति हो, तो मन पकड़ लेता है और उसके कारण अनेक प्रकार के विचार हमारे मन में उठते हैं। सुप्त अवस्था में जब ये विचार उठते हैं तब स्वप्न का रूप ग्रहण कर लेते हैं। यहाँ अपने मन को हमें एक रेडियो सेट के समान मानना पड़ेगा। जिस ध्वनि को हमारे साधारण कान नहीं ग्रहण कर सकते उसे रेडियो-सेट ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार व्यक्त करता है कि आकाश में चलनेवाली सूक्ष्म लहरें सार्थक शब्दों का रूप धारण कर लेती हैं। पर यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक

*'रानी' में प्रकाशित राजारामजी शास्त्री के एक लेख के निम्नलिखित वाक्य इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—"कभी-कभी विद्यार्थी परीक्षा में आनेवाले प्रश्न-पत्रों को ज्यों का त्यों देख लिया करते हैं। इन स्वप्नों को भी परीक्षक के विचारप्रेक्षण द्वारा समझा जा सकता है। परीक्षार्थियों का मन परीक्षापत्र की ओर लगा रहना स्वाभाविक ही है और यह मनःस्थिति प्रश्न-पत्र को बनाने या पढ़नेवालों के विचारों को ग्रहण करने के लिए अनुकूल अवस्था उत्पन्न कर देती है। यहाँ हम अवश्य स्वीकार कर रहे हैं कि सभी व्यक्तियों के विचारों की लहरें बेतार के तार के रूप में तो चलती ही हैं, साथ ही इनको ग्रहण करनेवाले व्यक्ति के चित्त का इन व्यक्तियों या विचारों में आसक्त होना इनके ग्रहण करने के लिए आवश्यक है। यदि इन विचार-विशेष में ही आसक्ति हो तो पहले से या प्रेषण-काल में भी व्यक्ति को यह ज्ञान आवश्यक नहीं है कि यह विचार अमुक व्यक्ति का है। इतना ही आवश्यक है कि विचार-प्रेषक को विचार-ग्राहक का पूर्व परिचय या उसमें आसक्ति हो और यदि व्यक्ति के सारे जीवन में आसक्ति हो तो फिर उसके विचार-विशेष में आसक्ति होना आवश्यक नहीं है; किन्तु इस स्थिति में प्रेषक को ग्राहक का ध्यान होना सहायक होता है। विचार-प्रेषक को यह ज्ञान तो किसी हालत में होता ही नहीं कि उनके विचारों का प्रेषण या ग्रहण हो रहा है।"

—'रानी', माह अगस्त' ४५।

है कि सभी प्रकार का निर्देश अचेतन मन में कार्य करता है। जिस तरह निर्देश के द्वारा निश्चित समय पर जागा जा सकता है उसी तरह निर्देश के द्वारा स्वप्न को रोका भी जा सकता है। कितने ही लोग भयङ्कर स्वप्न होने के पूर्व जाग जाते हैं और अभ्यास से यह भी सम्भव है कि हम काम-वासना-सम्बन्धी स्वप्नों में काम-क्रीड़ा करने के पूर्व जाग जायँ।

किन्तु स्वप्नों के इस प्रकार के निरोध से स्वप्नों का कारण नष्ट नहीं होता। कारण के रहते हुए स्वप्न का होना मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर है। स्वप्नों का कारण प्रबल मानसिक उत्तेजना होती है। इस उत्तेजना का दमन जाग्रतावस्था में होता रहता है। अतएव वह स्वप्नों के रूप में प्रकाशित होती है। हमारी अनेक अनैतिक इच्छाएँ अपना रूप बदल कर स्वप्नों में प्रकाशित होती हैं। यदि इन इच्छाओं को स्वप्नों में प्रकाशित न होने दिया जाय तो वे भारी मानसिक उत्पात मचावें। हमारी यह धारणा भ्रमात्मक है कि स्वप्न नींद को भङ्ग करता है। वास्तव में स्वप्न नींद की रक्षा करता है। ब्राउन महाशय का कथन है कि यदि हमें स्वप्न न हो तो नींद भी न हो। हमारी प्रबल मानसिक उत्तेजना हमें सदा जाग्रतावस्था में ही बनाये रहे। स्वप्न के द्वारा इन उत्तेजनाओं की शक्ति प्रकाशित होकर कम होती है इसलिए नींद का होना सम्भव होता है। यदि आत्मनिर्देश के द्वारा हम स्वप्नों के निरोध में सफल हो जायँ तो सम्भव है कि हम निद्रा का उपभोग न कर सकें।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमें स्वप्न नहीं होते। इस कथन को हमें प्रामाणिक न समझना चाहिए। वास्तव में हम अपने अनेक स्वप्न, जागते ही तुरन्त भूल जाते हैं। जो प्रतिबन्ध व्यवस्था स्वप्नों के अनेक रूप के बनने में कारण होती है वही व्यवस्था स्वप्न-अनुभव को भुलाने का कारण बन जाती है। अतएव यदि हम थोड़े दिन के अभ्यास के पश्चात् यह सोचने लगें कि हमें कोई स्वप्न नहीं होते तो हमें स्वप्न-निरोध में सफल मान लेना चाहिए। सम्भव है कि हमें स्वप्न होते रहें किन्तु हमें उनका स्मरण न रहे।

ऊपर एक स्वप्न का उल्लेख किया गया है जिसमें एक व्यक्ति का सीढ़ी से उतरते समय गिरने का स्वप्न हुआ और उसी दिन उनके जीवन में एक भारी दुर्घटना घटित हुई। उन्हें इस प्रकार के स्वप्नों से बड़ा भारी भय हो गया। इसलिए जब से सीढ़ी के उतरने का स्वप्न देखते हैं तब जाग उठते हैं, किन्तु इस प्रकार के स्वप्न भी उन्हें बार-बार होने लगे हैं। इन स्वप्नों

के होते ही उनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है। अब उन्हें अनिद्रा की बीमारी हो गई है। उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बड़ा असर पड़ा है। उनकी स्मरणशक्ति कम हो गई। वे एक नगर के उच्च अधिकारी हैं। उन्हें प्रत्येक बात को याद रखने के लिए अब लिख लेना पड़ता है। यदि किसी एक सभा में कोई निश्चय हुआ तो उस निश्चय के शब्द उन्हें ठीक ठीक स्मरण नहीं रहते। उन्हें बार-बार कागजों को देखना पड़ता है। उनके मन में सदा बेचैनी-सी आती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि स्वप्न-निरोध मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर नहीं है। स्वप्न-निरोध होने पर नींद भङ्ग होने की सम्भावना है अथवा स्मृति का ह्रास होने की। इसी तरह स्वप्न-निरोध से अनेक प्रकार की चेष्टा करना अपने-आपको भुलाने की चेष्टा करना है। स्वप्न अपने-आपको समझने का एक उपाय है। बहुत-से सन्त लोग स्वप्नों में अपने आपको कामी, विषय लोलुप अथवा क्रूर व्यक्ति पाते हैं। उन्हें इन स्वप्नों को देखकर आत्म-सुधार करने की चेष्टा करनी चाहिए। ये स्वप्न उनकी आन्तरिक भावनाओं के प्रतीक हैं। जब तक आन्तरिक इच्छाओं में परिवर्तन नहीं हुआ है, अप्रिय स्वप्नों का आना आत्मज्ञान के लिए आवश्यक है।

स्वप्नों में परिवर्तन आन्तरिक भावनाओं के परिवर्तन के द्वारा हो सकता है। बहुत-से दुःखद स्वप्न मैत्री-भावना के अभ्यास के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं। मैत्री-भावना का अभ्यास सब प्राणियों के प्रति सद्भावना का अभ्यास है। यदि दिन भर इस अभ्यास को किया जाय तो दुःखदायक स्वप्नों का आना बन्द हो जाय। सोते समय इस प्रकार का अभ्यास विशेषतः लाभकारी होता है। सोते समय यदि हम अपने-आपको यह सुझाकर सोवें कि हम सभी के मित्र हैं और सभी हमारे मित्र हैं, सबका कल्याण हो, संसार के सभी प्राणी सुखी हों, तो यह भावना थोड़े ही दिनों में दुःखद स्वप्नों का आना बन्द कर दे। इस प्रकार की भावना का मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रतिदिन सोते समय मैत्रीभावना का अभ्यास करने से मनुष्य के आचरण में मौलिक परिवर्तन हो जाता है। मैत्री-भावना का अभ्यास जब तक चेतन मन तक ही सीमित रहता है तब तक उसका स्वप्नों में परिवर्तन करने का कार्य नहीं देखा जाता। जब मैत्री-भावना का अभ्यास आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है अर्थात्

जब हम मैत्री-भावना का अभ्यास दृढ़ विश्वास के साथ करते हैं तो स्वप्नों पर उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। बौद्धों के धर्मग्रन्थों में मैत्री-भावना की बड़ी महिमा बताई गई। मिलिन्द राजा के प्रश्न (मलिन्दपन्हा) नामक पुस्तक में मैत्री-भावना के अभ्यास के ग्यारह लाभ बताये हैं। उनमें एक लाभ अभद्र स्वप्न का न आना भी बताया गया है। उक्त कथन की सत्यता प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में मैत्री-भावना का अभ्यास करके प्रत्यक्ष देख सकता है। इस प्रसंग में लेखक का निम्नलिखित स्वप्नों के परिवर्तन-सम्बन्धी प्रयोग उल्लेखनीय है—

लेखक को कोई चार वर्ष पहले बार बार हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के स्वप्न हुआ करते थे। इन दंगों में लेखक अपने-आपको बड़े संकट की अवस्था में पाता था। इस स्वप्न को लेखक ने स्वप्नों की चर्चा करते समय अपने एक विद्यार्थी से कहा। इस विद्यार्थी ने यह बताया कि इसका कारण लेखक की मुसलमानों के प्रति द्वेष-भावना है। इस विद्यार्थी ने मुसलमानों के बहुत से सद्गुणों की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित किया। लेखक स्वयं इस बात को स्वीकार करने को तैयार न था कि वह मुसलमानों से घृणा करता है। उसके विचार कांग्रेसवालों के विचारों से ही अधिकतर प्रभावित हुए हैं जो कि भारत की स्वतन्त्रता अथवा उसके कल्याण के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता अनिवार्य मानते हैं। भला यह कौन कांग्रेसवादी हिन्दू व्यक्ति मानने को तैयार होगा कि उसके हृदय में उसके अनजाने मुसलमानों के प्रति द्वेष-भावना है, किन्तु उस विद्यार्थी के कथन का एक विशेष प्रभाव लेखक के मन पर पड़ा और उसने आत्म-निरीक्षण करना आरम्भ किया। "मिलिन्द राजा के प्रश्न" में कहे गये मैत्री-भावना के लाभ जो कुछ ही दिन पहले लेखक ने पढ़ा था अब इसके प्रयोग का अवसर मिला। लेखक ने मुसलिम-लीग-विरोधी बातें करना और सुनना बन्द कर दिया। रात को सोते समय सभी मुसलमानों के प्रति सद्भावना लाने की चेष्टा की। मुहम्मद अली जिन्ना महाशय के दुर्गुणों पर विचार न कर और उनके प्रति दुर्भावनाएँ न लाकर उनके सद्गुणों पर चिन्तन करने का अभ्यास किया गया तथा उनके प्रति नित्य प्रतिदिन सद्भावनाएँ लाई गईं। एक मुसलमान फकीर को, जिसे पहले देखकर अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ मन में आती थीं, कुछ दक्षिणा देना प्रारम्भ कर दिया गया। इस प्रकार के अभ्यास का परिणाम यह हुआ कि उस समय से आज दिन तक हिन्दू-मुसलिम दंगे का कोई स्वप्न लेखक को नहीं आया। इतना ही नहीं, दूसरे अनेक प्रकार के भयावने अथवा

दुःखद स्वप्नों का होना भी कम हो गया। वास्तव में एक ही स्वप्न हम अनेक रूपों में देखते हैं। हमारी एक मनुष्य के प्रति दुर्भावना अथवा सद्भावना प्राणिमात्र क प्रति उसी प्रकार की भावना की प्रतीक होती है। एक विशेष व्यक्ति के प्रति अपना विचार बदलकर, अमैत्री-भावना के बदले मैत्री-भावना लाकर हम संसार के सभी प्राणियों के प्रति अपनी भावनाओं को उसी प्रकार बदल देते हैं जिस प्रकार हम उस विशेष व्यक्ति के प्रति बदलते हैं।

चेतन और अचेतन मन का वास्तव में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अचेतन मन ही कार्य का क्षेत्र है। इसी के द्वारा अचेतन मन की भावना का सुधार हो सकता है। अचेतन मन की भावना स्वप्न का कारण है। जैसी ये भावनाएँ होती हैं वैसे ही स्वप्न होते हैं, किन्तु अभ्यास के द्वारा जिस तरह ये भावनाएँ दृढ़ बनाई जाती हैं इसी तरह इनमें अभ्यास के द्वारा परिवर्तन भी सम्भव है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता। कई दिनों तक अभ्यास करने पर भी हमारे चेतन मन का कोई विचार अचेतन मन में जाता और उसमें परिवर्तन करता है। विश्वास के साथ किया गया कार्य विशेष प्रभावशाली होता है। किसी बात में मनुष्य को विश्वास तभी होता है जब कि उस बात को अचेतन मन ग्रहण करने लगता है। इसके ग्रहण करने के कारण अचेतन मन की भावनाओं में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं।

प्रश्न

१—स्वप्न और जाग्रतावस्था में समानता और भेद क्या हैं? क्या स्वप्नों की तुलना मनोराज्य से की जा सकती है? दोनों में भेद बताइए।

२—स्वप्नों के प्रमुख कारण कौन-कौन हैं? उनमें से सबसे महत्व का कारण कौन है?

३—क्या जान बूझकर किसी विशेष प्रकार के स्वप्न उत्पन्न किये जा सकते हैं? स्वप्नों के विषय में किये गये प्रयोग स्वप्न के स्वरूप के विषय में क्या दर्शाते हैं?

४—स्वप्ननिरोध कैसे हो सकता है? उसके हानि-लाभ बताइये।

———

उन्नीसवाँ प्रकरण

निद्रा[1] और सम्मोहन[2]

मनुष्य की चेतना जब तक अपना साधारण काम किया करती है तब तक जाग्रतावस्था रहती है। जब चेतना की सामान्य क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं तब सुषुप्तावस्था अर्थात् निद्रा उत्पन्न हो जाती है। निद्रा की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इसकी पूरी-पूरी खोज अभी मनोविज्ञान नहीं कर पाया है। आधुनिक व्यवहारवादी मनोविज्ञान की कल्पना के अनुसार निद्रा में मस्तिष्क के स्नायु अपना काम करना बन्द कर देते हैं। शरीर के दूसरे भाग अपना कार्य करते रहते हैं। किन्तु इस क्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क के द्वारा नहीं होता। इस क्रिया का नियन्त्रण स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल के द्वारा होता है।

भारतीय-दर्शन में पुरुष की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय—ये चार प्रकार की अवस्थाएँ मानी गई हैं। निद्रा सुषुप्तावस्था का दूसरा नाम है। इस अवस्था में व्यक्ति चेतनाहीन हो जाता है। उसे बाह्य संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और न उसके सामने कोई काल्पनिक संसार ही रहता है। बाह्य संसार के ज्ञान की अवस्था जाग्रतावस्था है और काल्पनिक संसार के ज्ञान की अवस्था स्वप्नावस्था है। ये अवस्थाएँ एक दूसरी से बिल्कुल भिन्न हैं। निद्रा की बड़ी आवश्यकता है। जाग्रतावस्था में अनेक प्रकार के कार्य करने में जो शक्ति मनुष्य खो देता है, उसकी पूर्ति निद्रावस्था में होती है। शरीर के जो स्नायु जाग्रतावस्था में टूट जाते हैं अथवा क्षति-ग्रस्त हो जाते हैं उनका सुधार निद्रा के समय होता है। निद्रा के समय ही पाचनक्रिया ठीक से होती है। जाग्रतावस्था में मनुष्य का मस्तिष्क काम करता रहता है, अतएव उसके शरीर के द्वारा उत्पादित शक्ति अधिकतर उसके कार्यों में खर्च होती है। जाग्रतावस्था में शक्ति का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होता है, इसी कारण शरीर के दूसरे अङ्गों को पर्याप्त शक्ति नहीं मिलती। जितनी शक्ति मनुष्य के विचार में खर्च होती है उतनी शरीर की और किसी प्रतिक्रिया में नहीं खर्च होती। निद्रावस्था में मनुष्य विचार-शून्य हो जाता है और उसके मस्तिष्क की प्रबल क्रियाएँ

---

1. Sleep. 2. Hypnosis.

रुक-सी जाती है। ऐसी अवस्था में शक्ति का संचार शरीर के दूसरे अंगों की ओर होने लगता है और यदि ये अंग शक्ति की कमी के कारण निर्बल हो रहे हों तो स्वस्थ और सबल हो जाते हैं। पाचन-क्रिया के भली-भाँति होने के लिए विचारों का चलना बन्द होना अत्यन्त आवश्यक है। विचार दो ही अवस्थाओं—निद्रा और मूर्छा—में प्राकृतिक रूप से बन्द हो जाते हैं। तुरीयावस्था में जान-बूझकर बन्द किये जाते हैं।

निद्रा के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने निद्रा के तीन प्रकार माने हैं; यथा—प्राकृतिक निद्रा, नशा और मूर्छा। वास्तव में प्राकृतिक निद्रा ही निद्रा है। इसी मानसिक स्थिति को भारतीय दार्शनिकों ने सुषुप्ति अवस्था के नाम से पुकारा है। पर अन्य अवस्थाएँ निद्रा से मिलती जुलती हैं। इन सभी अवस्थाओं में मनुष्य की साधारण चेतना कार्य नहीं करती। इन विभिन्न अवस्थाओं के स्वरूप में तथा उनके पैदा करनेवाले कारणों में भेद है। इनकी मानव-जीवन में उपयोगिता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। इन सभी चेतनहीन अवस्थाओं का ज्ञान मन और उसकी क्रियाओं के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक है।

प्राकृतिक निद्रा[1]—मनुष्य के जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा उसकी स्वास्थ्य-रक्षा के लिए प्राकृतिक निद्रा आवश्यक है। प्राकृतिक निद्रा में विचार अपने-आप रुक जाते हैं। इससे भिन्न तुरीयावस्था है। इसमें विचार जान-बूझकर रोके जाते हैं। तुरीयावस्था को समाधि-अवस्था भी कहा जाता है। यह बड़ी कठिन तपस्या तथा योगाभ्यास के बाद प्राप्त होती है।

निद्रा का अनुभव मनुष्य को प्रतिदिन होता है। निद्रा प्रायः स्वास्थ्य की सूचक होती है। निर्विघ्न निद्रा होना अवश्य ही स्वास्थ्य-प्रद होता है। बालकों को प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक निद्रा होती है। उन्हें इसकी आवश्यकता भी होती है। यदि बालकों को भली-भाँति निद्रा न आवे तो उनकी शारीरिक पुष्टि और वृद्धि अच्छी तरह न हो।

नशा[2]

नशा भी मन की चेतनाहीन अवस्था है। निद्रा में बाधा डालनेवाली वस्तुएँ शारीरिक क्लेश और चिन्ता होती हैं जो कि मानसिक क्लेश का दूसरा नाम है। अगर मनुष्य को शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश के कारण निद्रा नहीं आती तो उसे, नशे की चीजों के द्वारा, निद्रा लाने की चेष्टा की जाती है।

1. Natural Sleep. 2. Narcotic Sleep.

नशीली वस्तुओं के प्रयोग से मनुष्य का मन चेतना-हीन होता है इससे उसे मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश से कुछ समय के लिए मुक्ति मिल जाती है। किन्तु इस प्रकार से विचारों की निस्तब्धता उतनी स्वास्थ्यप्रद नहीं होती जितनी कि स्वाभाविक निद्रा से होती है। परन्तु मन की किसी-किसी साधारण अवस्था में इस तरह की चेतनाहीन अवस्था लाभप्रद होती है। औषधियों के प्रयोग द्वारा जो मन की चेतनाहीन अवस्था उत्पन्न होती है, उसे कृत्रिम निद्रा कहा जा सकता है। उसे साधारणतः नशा कहते हैं। इस प्रकार की निद्रा को बार-बार लाने से भारी मानसिक क्षति होती है। इससे मनुष्य की विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है और उसका आचरण पशुओं के समान विचार शून्य हो जाता है।

अनिद्रा[1] की बीमारी

अनिद्रा की बीमारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न होती है। एडलर महाशय के कथनानुसार यह बीमारी मनुष्य को तब उत्पन्न होती है जबकि वह अपने आत्म-सम्मान में क्षति होने की सम्भावना देखता है। मान लीजिये, किसी विद्यार्थी की परीक्षा की तैयारी ठीक प्रकार से नहीं है। वह जानता है कि उसका आन्तरिक मन परीक्षा का बहुत अच्छा परिणाम नहीं देखता, किन्तु उसकी कर्तव्य-बुद्धि उसे परीक्षा में बैठने को बाध्य भी करती है। ऐसी अवस्था में उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। अनिद्रा की बीमारी के कारण वह परीक्षा में बहुत अच्छा परिणाम लाने के लिए अपने को नहीं कोसता। वह दूसरे लोगों के समीप भी बिना शर्म के अपना मुँह दिखा सकता है। अनिद्रा का रोग एक पाला हुआ रोग है, यह इस बात से प्रत्यक्ष है कि अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति प्रायः चुपचाप बिस्तर पर नहीं लेटता, वह करवटें बदलते और कराहते रहता है, हाथ-पैर पटकता है; कभी-कभी उठकर कमरे में टहलने लगता है; बत्ती जलाकर पुस्तक या अखबार पढ़ने की चेष्टा करता है; अर्थात् वह सभी ऐसी बातें करता है जिससे उसकी नींद में विघ्न हो। उसकी धारणा रहती है कि नींद के न आने के कारण ही उक्त चेष्टाएँ करता है, किन्तु वास्तव में ये चेष्टाएँ ही नींद की सबसे बड़ी बाधक हैं।

अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति को नींद न आने की ही सबसे बड़ी चिन्ता रहती है। वह सदा नींद के बारे में ही सोचा करता है, यह नींद

1. Insomnia.

आने की प्रबल चिन्ता ही नींद में बाधक हो जाती है। नींद आने के लिए नींद के विषय में सोचना भी बन्द करना आवश्यक है। अनिद्रा के रोग से पीड़ित व्यक्ति को नींद की चिन्ता से मुक्त करना प्रथम आवश्यक कार्य है। जहाँ यह अनिद्रा के कारण बहुत-सी मानसिक और शारीरिक क्षति की सम्भावना देखता है वहाँ उसको यह धारणा बनानी चाहिए कि अनिद्रा का होना एक साधारण-सी बात है। महीनों बिना नींद के भी मनुष्य जीवित रह सकते हैं। इस प्रकार की भावना मन में आते ही अनिद्रा का प्रायः अन्त हो जाता है। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति में उत्साह और आत्म-विश्वास की कमी होती है। इसकी वृद्धि करना भी आवश्यक है।

निद्रा लाने के लिए मनुष्य को अपने शरीर को शिथिल करके लेट जाना चाहिए। अपने विचारों को बाहरी विषय पर जाने से रोक देना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उन्हें श्वास-प्रश्वास पर केन्द्रित करना चाहिए अथवा किसी शान्तचित्त व्यक्ति का ध्यान करना चाहिए। ये सब उपाय निद्रा लाने में सहायक होते हैं। निद्रा आत्म-निर्देश के द्वारा भी शीघ्रता से आती है।

मूर्च्छा[1]

मूर्छा निद्रा के समान ही मन की चेतनाहीन अवस्था है। जब किसी व्यक्ति को भारी चोट सिर में लग जाती है तो वह मूर्छित हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसकी चेतना के साधारण विचार बन्द हो जाते हैं। कोई भी असह्य शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश मूर्छा को उत्पन्न करता है। मूर्छा चेतना का असह्य दुख से बचने का एकमात्र उपाय है। इस अवस्था में किसी प्रकार की जानकारी नहीं रहती है। यह प्राकृतिक रूप से असह्य क्लेश के समय अपने आप उत्पन्न होती है। जिस व्यक्ति का मन जितना कमजोर होता है उसको उतने ही जल्दी मूर्च्छा आती है। कितने ही लोग दूसरों के क्लेश की कल्पना से भी मूर्छित हो जाते हैं। मानसिक दृढ़ता मूर्छा को रोकती है।

सम्मोहन[2]

सम्मोहन का स्वरूप—दूसरे के प्रयत्न से जो मन की चेतनाहीन अवस्था उत्पन्न होती है उसे सम्मोहन कहते हैं। इसे कभी-कभी मोह-निद्रा भी कहते हैं। सम्मोहित अवस्था निद्रा तथा अन्य प्रकार की चेतनाहीन मानसिक अवस्थाओं से इस बात में भिन्न है कि इसमें विशेष प्रकार की चेतना

1. Coma. 2. Hypnotism.

कार्य करती रहती है। यह साधारण चेतना से पृथक् होती है। सम्मोहन की अवस्था में सम्मोहित व्यक्ति का मन सम्मोहक के वश में रहता है। वह जैसे विचार सुझाता है उसी प्रकार के विचार सम्मोहित व्यक्ति के हो जाते हैं। सम्मोहक पहले-पहल सम्मोहित व्यक्ति को अपने-आपको विचार-शून्य करने का निर्देश देता है। जब इस प्रकार के निर्देश के परिणामस्वरूप सम्मोहित व्यक्ति चेतनाहीन-सा हो जाता है तो फिर उसे अन्य प्रकार के निर्देश दिये जाते हैं। इन निर्देशों के फलस्वरूप जो कुछ सम्मोहक सम्मोहित व्यक्ति से कराना चाहता है, करा लेता है।

सम्मोहन तभी सम्भव है जब कि सम्मोहक की इच्छा-शक्ति सम्मोहित व्यक्ति की इच्छा-शक्ति से अधिक प्रबल हो। जिन व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति कमजोर होती है वे शीघ्रता से सम्मोहित हो जाते हैं। ये व्यक्ति अधिकतर विवेकहीन होते हैं। सदा तर्क-वितर्क करनेवाले व्यक्ति को सम्मोहित करना कठिन कार्य है। बालक सरलता से सम्मोहित हो जाते हैं, प्रौढ़ व्यक्तियों को सम्मोहित करना उतना सरल नहीं होता। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सरलता से सम्मोहित होती हैं। साधारणतः जो व्यक्ति सदा सम्मोहित किये जाने की शिकायत करता रहता है वह सम्मोहित नहीं होता, असावधान व्यक्ति ही सम्मोहित होता है।

सम्मोहन की अवस्था चली जाने के बाद सम्मोहनोत्तर-निर्देश मनुष्य की चेतना को विशेष प्रकार के काम में निर्दिष्ट समय पर लगा सकता है। सम्मोहनोत्तर-निर्देश का एक सुन्दर उदाहरण लेखक के अनुभव में आया। एक व्यक्ति को सम्मोहित अवस्था में निर्देश किया गया कि वह साढ़े तीन बजे घड़ी को उठाकर उसमें चाभी दे देगा। निर्देश एक घण्टे पहले दिया गया था। जब उस घड़ी में साढ़े तीन बजने लगे, उस व्यक्ति ने घड़ी को उठाकर चाभी देना चाहा। जब उससे पूछा गया कि वह घड़ी क्यों उठा रहा है तो उसने जवाब दिया कि उसे घड़ी बन्द होती-सी मालूम होती थी। इस प्रकार का कुछ भी कारण जो उस समय निर्देश के वशीभूत व्यक्ति को सूझ जाता है वह दे देता है। यहाँ वास्तविक कारण दूसरा ही होता है।

जब कभी सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति को कोई ऐसा काम करने का निर्देश दिया जाता है जो उसकी साधारण दृढ़ आदत अथवा उसकी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होता है तो सम्मोहन टूट जाता है। किसी सदाचारिणी-स्त्री के साथ उसे सम्मोहित करके व्यभिचार नहीं किया जा सकता। किसी भी व्यक्ति को सम्मोहन के द्वारा वश में करके उससे कोई चोरी, अथवा दूसरे

प्रकार का दुराचरण नहीं कराया जा सकता। इस प्रकार का दुराचरण करवाना तभी सम्भव है जब कि सम्मोहित व्यक्ति की प्रवृत्ति भी उसी ओर हो। बालकों को निर्देश के द्वारा अपने वश में कर लेना सरल होता है; क्योंकि उनकी इच्छा-शक्ति दृढ़ नहीं होती, अतएव उनसे दुराचरण करवाना उतना कठिन नहीं होता।

मारगन और गिलीलैंड महाशयों की 'इन्ट्रोडक्शन टू साइकॉलोजी' नामक पुस्तक में सम्मोहनोत्तर-निर्देश का एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि निर्देश के द्वारा व्यक्ति के साधारण विवेक के प्रतिकूल उससे काम करना बड़ा कठिन होता है। एक बालक को एक शिक्षक ने सम्मोहित करके निर्देश दिया कि वह आध घण्टे बाद क्लास में "हुर्रा" का शब्द चिल्ला उठेगा। जब निर्दिष्ट समय आया तो वह बालक बेचैन-सा दिखाई दिया, पर उसे इस बेचैनी को शान्त करने का कोई उपाय न सूझा। अन्त में उसने अपने पास के एक विद्यार्थी के कान में जाकर धीरे से "हुर्रा" शब्द कह दिया।

यहाँ हम देखते हैं कि निर्दिष्ट कार्य बालक की सामाजिक भावनाओं के प्रतिकूल होने के कारण यह उसे ठीक निर्देश के अनुसार नहीं कर सका। इससे यह स्पष्ट है कि जब किसी व्यक्ति को उसकी सामाजिक अथवा नैतिक-धारणाओं के प्रतिकूल निर्देश दिया जाता है तो उसके अनुसार काम का होना सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति दूसरों के निर्देश के अनुसार चलकर कोई बुरा काम कर बैठते हैं, वे स्वयं भी भीतर से उसी ओर झुके रहते हैं।

किसी भी व्यक्ति को बार-बार सम्मोहित करना बुरा होता है। बहुत से लोग बालकों पर सम्मोहन का प्रयोग किया करते हैं। यह उनके लिए बड़ा हानिकारक होता है। इससे उनकी इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। कभी-कभी बार-बार सम्मोहित किये जानेवाले बालकों का स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है। जो लोग प्लैंचेट के कामों में बालकों को भूत-प्रेत का माध्यम बनाते हैं, वे उनके प्रति भारी अनर्थ करते हैं। माध्यम बनानेवाले बालकों में अनेक प्रकार की अवांछनीय भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वे अकारण भयों के शिकार बन जाते हैं। कभी-कभी वे बड़े ही भयावने दृश्यों को देखने लगते हैं।

सम्मोहन का प्रयोग कभी-कभी व्यक्ति की छिपी मानसिक ग्रन्थि की खोज के लिए किया जाता है। मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों ने ही सम्मोहन का सबसे

अच्छा उपयोग किया है। सम्मोहित-अवस्था में मानसिक रोगी से भूले हुए अप्रिय अनुभव का स्मरण कराया जाता है। इस अनुभव को चेतना की सतह पर आने से रोगी के रोग का वास्तविक कारण ज्ञात हो जाता है। इस अनुभव को रोगी से उसकी साधारण चेतनावस्था में स्वीकार कराने पर रोग नष्ट हो जाता है। मनोविश्लेषक को सम्मोहन की प्रक्रिया जानना आवश्यक है। इसका ज्ञान अब मानसिक चिकित्सा के लिए बड़े महत्त्व का है।

प्रश्न

१—प्राकृतिक निद्रा का स्वरूप क्या है? निद्रा का स्वप्न और जाग्रतावस्था से क्या सम्बन्ध है?

२—निद्रा और मूर्छा में भेद क्या है? मूर्छा की उत्पत्ति क्यों होती है?

३—सम्मोहन अवस्था कैसे पैदा की जा सकती है? किसी व्यक्ति को बार-बार इस अवस्था में लाने से उसे क्या हानि हो सकती है?

४—अनिद्रा की बीमारी कैसे उत्पन्न होती है? उसे हटाने का सरल साधन बताइए।

५—नशा की अवस्था का स्वरूप क्या है? लोग नशा क्यों करते हैं?

६—सम्मोहनोत्तर-दशा का उदाहरण-सहित वर्णन कीजिए।

बीसवाँ प्रकरण

व्यक्तित्व[1]

व्यक्तित्व का स्वरूप

व्यक्तित्व शब्द से उन सभी बातों का बोध होता है जो हममें हैं और जिनका हम अभिमान रखते हैं। हमारे शरीर, मन और चरित्र सभी का समावेश व्यक्तित्व में होता है। मनुष्य की संवेदनाएँ, मूल-प्रवित्तियाँ, उद्वेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, कल्पना, स्मृति, बुद्धि तथा विवेक सभी मानसिक शक्तियों का सम्बोधन व्यक्तित्व शब्द से होता है, अर्थात् ये सभी व्यक्तित्व के अंतर्गत हैं। इतना ही नहीं, व्यक्तित्व से हमारा दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध भी सम्बोधित होता है। वास्तव में हमारे व्यक्तित्व का गठन दूसरों के सम्पर्क में आने से ही होता है और दूसरों के सम्बन्ध से ही उसका विकास होता है। इसका अर्थ यह है कि हमारे व्यक्तित्व का अधिक भाग सामाजिक है।

व्यक्तित्व उपर्युक्त मनोभावों का समुच्चय मात्र नहीं है। इन सब अङ्गों में सङ्गठन और एकत्व स्थापन होने पर ही व्यक्तित्व बनता है। जैसे-जैसे बालक आयु में बढ़ता है उसका जन्मजात स्वभाव वातावरण के अनुभवों से परिवर्तित होता जाता है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी प्रौढ़ अवस्था में ही सम्पूर्णतः बनता है और प्रौढ़ अवस्था में भी हमारे व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की उन्नति होती रहती है। अवस्था के बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य के अनुभव बढ़ते हैं। इन अनुभवों को वह सुसंगठित करता है अर्थात् वह उन्हें एक सूत्र में बाँधता है। इस प्रकार के अनुभवों को सूत्रीभूत करना सुविकसित व्यक्तित्व के लिए अत्यावश्यक है। हम प्रतिक्षण परिवर्तित होते हैं। जो हम एक वर्ष पूर्व थे वह आज नहीं हैं। यदि हम अपने-आपकी दस वर्ष की अवस्था से तुलना करें तो हम कठिनता से अपने को पहचानेंगे। इतने पर भी हम कहते हैं कि हम वही व्यक्ति हैं जो दस वर्ष पूर्व थे। हम ऐसा इसीलिए कहते हैं कि हम अपने प्रत्येक अनुभव को एकता में सूत्रीभूत करते हैं। एक ही अहंकार तब से अब तक के हमारे सभी अनुभवों में काम करता है। आदर्श व्यक्तित्व वह है, जिसमें सभी अनुभवों का सुसंगठन भी एक

1. Personality.

सत्ता द्वारा हो और व्यक्तित्व का कोई भी अङ्ग इस सङ्गठन के बाहर न हो। जिस समय मनुष्य के विभिन्न अनुभवों के कारण विभिन्न संस्कारों में विरोध रहता है और उसकी विभिन्न शक्तियों में एकता नहीं होती, उस समय व्यक्तित्व-विच्छेद होता है। व्यक्तित्व विच्छेद होना एक भयानक मानसिक परिस्थिति है। व्यक्तित्व-विच्छेद से मनुष्य का सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है।

व्यक्तित्व के अङ्ग[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि व्यक्तित्व अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संगठन का नाम है। व्यक्तित्व के प्रधान अङ्ग निम्न-लिखित हैं :—

(१) व्यक्ति का रूप[2]।
(२) बुद्धि[3]।
(३) उद्वेगात्मक जीवन[4]।
(४) चरित्र तथा मानसिक दृढ़ता[5]।
(५) सामाजिकता[6]।

अब व्यक्तित्व के एक-एक अङ्ग पर क्रमशः विचार किया जायगा।

व्यक्ति का रूप—व्यक्ति के रूप के अन्तर्गत साधारणतः उसके शरीर की बनावट, उसकी सजधज आती है। कोई मनुष्य नाटा होता है तो कोई ऊँचा, कोई दुबला-पतला होता है तो कोई मोटा, कोई गोरा और कोई काला। किसी का चेहरा गोल होता है तो किसी का लम्बा। किसी की आँखें छोटी होती हैं, किसी की बड़ी। इन सभी बातों का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व की कल्पना पर पड़ता है। इनके कारण कोई मनुष्य देखने में सुन्दर और कोई कुरूप दिखाई पड़ता है। मनुष्य अपने शरीर की तुलना दूसरों से करता रहता है। उसकी यह इच्छा रहती है कि वह किसी प्रकार भी दूसरों से नीचा सिद्ध न हो। अतएव जब किसी मनुष्य का कोई अंग विकृत होता है तो उसके मन पर उसका विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। एडलर महाशय के अनुसार शरीर के अङ्गों का असामान्य अथवा विकृत होना मनुष्य की आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि का कारण होता है। इस ग्रन्थि के कारण उसकी बुद्धि का विकास, उसके उद्वेग, उसका चरित्र तथा उसकी सामाजिकता

---

1. Factors of Personality. 2. Physical appearance.
3. Intelligence. 4. Emotionality.
5. Character. 6. Sociability.

एक विशेष प्रकार का रूप लेते हैं। मनुष्य की क्रियाओं में उसकी आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि की झलक देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, कुरूप व्यक्ति जगत् में ख्याति पाने के लिए कार्य करता है। नाटे व्यक्ति की ऊँची आवाज होती है। काने और लँगड़े संसार को चकित करनेवाले पराक्रम करते हैं। ऐसी स्थिति व्यक्ति को अतिपूर्ति की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होती है। इस अतिपूर्ति की प्रतिक्रिया का कारण मनुष्य में अपने-आप में किसी कमी का ज्ञान होता है। शारीरिक कमी दूसरी विभिन्न प्रकार की त्रुटियों की अपेक्षा आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि के बनने में अधिक प्रबल कारण होती है।

व्यक्ति के रूप के अन्तर्गत उसके शरीर की सजधज भी शामिल है। व्यक्ति की पोशाक उसके रूप को बढ़ाती अथवा घटाती है। कारलाइल महाशय के इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'नौ दर्जी मिलकर एक मनुष्य को बना देते हैं।' कुरूप मनुष्य बढ़िया पोशाक पहनकर सुन्दर अथवा प्रभावशाली दिखाई देने लगता है और रूपवान पुरुष पोशाक की कमी के कारण रूपहीन अथवा प्रभावहीन दिखलाई देने लगता है। राजा लोगों की शकल-सूरत तेजस्वी दिखाई देने में मुख्य काम कपड़ों का ही होता है। मनुष्य जब समाज में जाता है, तो अपने-आपको तेजस्वी दिखलाने के लिए सुन्दर कपड़े पहनता है। पोशाक उसके व्यक्तित्व को बढ़ा देती है। किसी मनुष्य का तेज उसकी प्रतिभा का ही तेज नहीं है, बल्कि उसकी सजावट भी उसके तेज को घटाती-बढ़ाती है।

मनुष्य का रूप सौम्य अथवा अप्रिय दिखाई देने में उसके शरीर और पोशाक मात्र का काम नहीं है। उसकी दूसरों के साथ बोल-चाल तथा अन्य व्यवहार के ढङ्ग भी मनुष्य के रूप को प्रिय अथवा अप्रिय बनाते हैं। बहुत से मनुष्य शरीर से सुन्दर न होते हुए भी देखने में सुन्दर लगते हैं। वास्तव में उनके व्यवहारों की सुन्दरता उसकी शारीरिक कुरूपता को ढक देती है अथवा उसमें इतना मौलिक परिवर्तन कर देती है कि कुरूपता ही सुन्दरता समझी जाने लगती है। एक सामान्य युवती, जिसकी सजधज कुछ भी नहीं है, एक सब प्रकार से सजी रूपवती वेश्या से अधिक सुन्दर दिखाई देती है। सामान्य युवती लज्जावती और संयमी होती है। वेश्या में ये गुण नहीं होते। इसके कारण उसके रूप और सजावट भी घृणास्पद बन जाते हैं। मधुरभाषी शीलवान् व्यक्ति, कटुभाषी दम्भी पुरुष की अपेक्षा रूप में भी अधिक सुन्दर दिखाई देता है।

बुद्धि—रूप की अपेक्षा मनुष्य की बुद्धि उसके व्यक्तित्व का अधिक महत्व का अङ्ग है। उसकी बुद्धि के गुण उसके शरीर की बनावट के समान जन्मजात होते हैं, किन्तु उसकी बुद्धि का विकास उसके अपने प्रयत्न तथा शिक्षा पर निर्भर है। शरीर की बनावट में प्रयत्न द्वारा मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकते, किन्तु प्रयत्न से बुद्धि सुविकसित हो सकती है और इसके अभाव में वह अविकसित रह सकती है। मनुष्य की जन्मजात बुद्धि जैसी भी हो उसकी उपयोगिता उसके विकास के ऊपर निर्भर है। जन्म से कोई व्यक्ति मन्दबुद्धि होता है तो कोई प्रखर बुद्धिवाला। मन्दबुद्धि को प्रखर बुद्धि बनाना असम्भव है। इसी प्रकार प्रखर बुद्धिवाले को मन्दबुद्धि नहीं बनाया जा सकता। दोनों प्रकार की बुद्धियों की उपयोगिता घटाई या बढ़ाई जा सकती है। यह उपयोगिता उनके विकास के ऊपर निर्भर है।

मनुष्य का ज्ञान उसकी बुद्धि के ऊपर निर्भर होता है। मन्दबुद्धिवाले को वैसा ज्ञान नहीं दिया जा सकता जैसा प्रखर बुद्धिवाले को दिया जा सकता है। बुद्धि ही उनकी विशेष प्रकार की रुचियों का कारण होती है। जिस व्यक्ति में जिस विषय के समझने की योग्यता नहीं होती, उस विषय के प्रति रुचि भी उसे नहीं होती। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य के मन का विकास अधिकतर उसकी बुद्धि के ऊपर निर्भर होता है। प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति को चरित्रवान् बनाना मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सरल होता है। चरित्र-गठन के लिए ज्ञान की वृद्धि की परमावश्यकता है। जो मनुष्य दुराचारों के कुपरिणाम तथा सदाचार के भले परिणामों को शीघ्रता से समझ सकता है तथा जो इस प्रकार कारण और कार्य का अनिवार्य सम्बन्ध देखता है वह सदाचारी सरलता से बनाया जा सकता है। मन्दबुद्धि व्यक्ति में कार्य-कारण के परम्परागत नियम की व्यापकता को देखने की इतनी शक्ति नहीं होती जितनी कि प्रखर बुद्धिवाले में होती है। उसमें सूक्ष्म दृष्टि की कमी होती है। अतएव उसमें अच्छी आदतों को डालने के लिए ताड़ना और प्रोत्साहन से अधिक काम लिया जाता है। मन्दबुद्धिवाले का सदाचार आदत के वश होता है और प्रखर बुद्धिवाले का सदाचार समझ के कारण। अतएव मन्दबुद्धिवाले सदाचारों में वह चेतनता नहीं होती जो प्रखर बुद्धि वाले में होती है। आदतों का दास होने के कारण मन्दबुद्धि व्यक्ति वातावरण में परिवर्तन होने के अनुसार अपने आचरण में परिवर्तन नहीं कर सकता। जो आचरण अर्थहीन अथवा हानिकारक हो जाते हैं उन्हीं को सदाचार समझकर

मनुष्य आदत के वश करता रहता है, किन्तु यह स्थिति प्रखर बुद्धि वाले सदाचारी व्यक्ति के आचरण में नहीं होती।

बुद्धि का प्रभाव मनुष्य के उद्वेगों के प्रकाशन तथा सामाजिक व्यवहारों पर भी पड़ता है। चिन्तनशील व्यक्ति सरलता से उद्विग्न मन नहीं होता। उद्वेगों और चिन्तन में विरोध का सम्बन्ध है। एक की वृद्धि से दूसरे की कमी होती है। अतएव जिस व्यक्ति की रुचि जीवन की जटिल समस्याओं पर विचार करने की होती है वह शान्त-स्वभाव और गम्भीर होता है। वह न तो जल्दी से चिढ़ता है और न किसी क्षणिक घटना से उद्विग्न मन होता है।

सामाजिकता की दृष्टि से भी देखें तो बुद्धि मनुष्य की रुचि में मौलिक परिवर्तन कर देती है। यदि किसी का स्वभाव अधिक मेल-जोल रखने का है तो अपने इस स्वभाव के कारण आपत्तियों से उसे बुद्धि बचाती है; उसके मेल-जोल रखने को नियन्त्रित रखती है और यदि वह समाज से अलग रहना पसन्द करता है तो समय-समय पर बुद्धि उसे समाज में प्रवेश करने के लिए प्रेरित करती है। सामाजिक जीवन में सुयोग्य व्यवहार करने के लिए बुद्धि से काम लेना आवश्यक होता है। जिस मनुष्य की जैसी बुद्धि होती है वह अपने सामाजिक व्यवहारों में वैसा ही सफल होता है।

उद्विग्नता—मनुष्य के व्यक्तित्व का एक प्रधान अङ्ग उद्विग्नता है। मनोवैज्ञानिकों ने उद्विग्नता को भी जन्मजात गुण माना है। किसी में उद्वेगों की प्रबलता जन्म से ही अधिक होती है और किसी में कम। कुछ लोग स्वभाव से प्रसन्नचित्त रहते हैं और कुछ लोग दुःखी। मनोवैज्ञानिकों ने उद्विग्नता की दृष्टि से निम्नलिखित चार प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं :—

(१) प्रफुल्ल[1]।
(२) उदास[2]।
(३) क्रोधी[3]।
(४) चञ्चल[4]।

उपर्युक्त सभी व्यक्तित्व अवांछनीय हैं। किन्तु इन चारों में प्रफुल्ल व्यक्तित्व सबसे अच्छा है। प्रफुल्ल स्वभाववाला व्यक्ति हर समय खुशी का प्रदर्शन करता है। वह जब देखो तब हँसी-मजाक करता रहता है। उसमें गम्भीरता नहीं रहती। किसी काम को वह बड़ी जिम्मेदारी के साथ नहीं कर सकता। वह किसी परिस्थिति के दुःखद पहलू पर विचार नहीं करता

---

1. Elated. 2. Depressed. 3. Irritable. 4. Unstable.

वह जो कुछ करता है उसमें सम्पूर्ण सफलता की आशा पहले से ही करता है, चाहे इस प्रकार की आशा करना सर्वथा निराधार क्यों न हो। इस प्रकार का व्यक्ति जीवन में बहुत-से धोखे खाता है। जीवन की सफलता के लिए मनुष्य में गम्भीर स्वभाव की उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्रफुल्लता की। प्रफुल्ल स्वभाववाला व्यक्ति अत्यधिक आशातीत होता है। उसका अत्यधिक आशातीत होना ही जीवन में उसे सफल बनाता है।

प्रफुल्ल स्वभाव के प्रतिकूल उदास स्वभाव है। जहाँ प्रफुल्ल व्यक्ति सब स्थितियों में आशा और सफलता ही देखता है वहाँ उदास स्वभाववाला व्यक्ति सभी स्थितियों में निराशा और असफलता देखता है। वह सुखों का उपभोग भी ठीक तरह से इसलिए नहीं कर सकता कि उसे कल दुःख होने की आशङ्का है। वह किसी स्थिति में सुखी नहीं रहता। दुःख तो उसे दुःख देते ही हैं सुख भी उसे दुःख-रूप दिखाई देते हैं। वह अपनी कल्पना से सुखों के साथ दुःख को जोड़ लेता है। जिन सुखद घटनाओं का परिणाम निश्चय ही दुःखमय होता है, उन दुःखदायक परिणामों को जहाँ प्रफुल्ल व्यक्ति नहीं देखता वहाँ उदास व्यक्ति सभी सुखद घटनाओं को दुःखजनक जानता है। ऐसा व्यक्ति जब विवेक से काम लेता है तो तत्त्ववेत्ता बन जाता है। विवेक के अभाव में वह निराशावादी और निकम्मा हो जाता है। उसे सभी परिस्थितियाँ और सभी लोग अप्रिय हो जाते हैं। दूसरों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन न करने से वे भी उसके प्रति प्रेम-प्रदर्शन नहीं करते। इस प्रकार वह अपने जीवन को वास्तव में दुःखी बना लेता है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की उदासी अत्यधिक होती है वह मैलेंकोलिया (उदासीनता) की बीमारी से पीड़ित रहता है। कभी-कभी ऐसा व्यक्ति अपने जीवन का अन्त आत्महत्या में करता है। प्रफुल्ल व्यक्ति परिस्थितियों के कारण जीवन में असफल होता है; उदास व्यक्ति अपने आप ही जीवन को असफल बना लेता है।

क्रोधी स्वभाववाला व्यक्ति चिड़चिड़ा होता है। वह किसी भी दशा में शान्त रहना पसन्द नहीं करता। वह सदा किसी न किसी से लड़ने की खोज में रहता है। जब तक वह दूसरों को ठुकराता रहता है, अपने-आप को सुखी समझता है। जब तक उसे कोई लड़ने-भिड़ने वाला नहीं मिलता तो वह अत्यधिक दुःखी होता है। अपना क्रोध प्रकट करने के लिए जब कोई दूसरा नहीं मिलता तो वह आसपास की चीजों पर ही क्रोध करने लगता है। उन्हें तोड़-फोड़ डालता है। कभी-कभी वह अपने शरीर पर ही क्रोध प्रकट करता है, छाती और सिर पीटने लगता है। क्रोधी स्वभाव का होना अपने को

दु:खी बनाना है। जिसका स्वभाव जितना क्रोधी होता है उसके दु:ख की सृष्टि उतनी ही अधिक होती है। क्रोधी मनुष्य दूसरों का बैरी बन ही जाता है, वह अपना भी बैरी होता है।

चंचल स्वभाववाला मन किसी एक स्थिति में नहीं रह सकता। एक क्षण में वह प्रफुल्लित हो जाता है तो दूसरे क्षण में उदास। इस प्रकार की मनोवृत्ति के परिवर्तन के लिए कोई विशेष कारण नहीं होते। कोई भी तुच्छ घटना उसके मन की स्थिति को एकाएक बदल देती है। वह एक अन्तिम सीमा छोर से दूसरी अन्तिम सीमा पर एकाएक पहुँच जाता है। ऐसे लोगों के विषय में कवि ने कहा है :—

क्षण में रुष्ट, तुष्ट हो क्षण में, स्थिति है सदा अमङ्गल में।

इस प्रकार के व्यक्ति स्थायी सुख का उपभोग नहीं कर पाते। वे किसी काम को लगन के साथ भी नहीं कर सकते। लगन के साथ काम करने के लिए अपने उद्वेगों को सुनियंन्त्रित रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार अपने उद्वेगात्मक जीवन को नियन्त्रण में रखना कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् आता है। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य को अपने-आप को विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।

डाक्टर युङ्ग का सिद्धान्त

युङ्ग महाशय का कथन है कि मनुष्यों में व्यक्तित्व के जन्मजात भेद होते हैं। जिस प्रकार उनके दूसरे मानसिक भेद उनके बचपन में स्पष्ट नहीं होते उसी तरह उनके व्यक्तित्व के भेद मन की अपरिपक्व अवस्था में नहीं स्पष्ट होते। जिस मनुष्य का मानसिक विकास भली प्रकार से हुआ है उसी में ये भेद देखे जाते हैं। साधारणत: मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—एक बहिर्मुखी और दूसरे अन्तर्मुखी। इस प्रकार वर्गीकरण हमारे पुराने ऋषियों ने किया है और आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख पण्डित डाक्टर युङ्ग ने भी किया है।

बहिर्मुखी व्यक्ति विषय के राग में आसक्त रहता है। वह सदा विषय का ही चिन्तन करता है। वह संसार के सभी लोगों से सम्बन्ध रखने की चेष्टा करता है। उसे सभा-सोसाइटी में जाना अच्छा लगता है। उसे अकेला रहना बुरा लगता है। यदि उसे अकेला रहना पड़े तो पागल हो जाय। भोजन करना, घूमने जाना, आदि सभी कामों में उसे साथी की आवश्यकता रहती है। बहिर्मुखी व्यक्ति अनेक कामों में हाथ डालता है और उनमें असफलता मिलने पर भी लगा रहता है।

अन्तर्मुखी व्यक्ति का स्वभाव ठीक इसके प्रतिकूल होता है। उसके मन पर सांसारिक विषयों का प्रभाव नहीं रहता। वह अपने मन को विषयों में लिप्त होने से सदा रोकता है। उसे अकेला रहना अच्छा लगता है। उसे सभा-सोसाइटी में जाना अच्छा नहीं लगता, यदि उसे अनेक लोगों के समुदाय में जाना भी पड़े तो वहाँ से निकल आने का प्रयत्न करता रहता है। उसका जितना समय हँसी-मजाक, खेल तमाशे, सभा सोसाइटी, भीड़ में जाता है, उतना समय वह व्यर्थ खर्च समझता है। वह नये काम में हाथ डालने से सदा बचता रहता है। वह जो कुछ काम करता है, कर्तव्य दृष्टि से ही करता है। ऐसे व्यक्ति के मित्र अनेक नहीं होते। उसे अपने साथियों को प्रसन्न रखने की अधिक परवाह नहीं रहती। अतएव उसके व्यवहार से लोग प्रायः असन्तुष्ट रहते हैं। जिन बातों में बहिर्मुखी व्यक्ति अपूर्ण पाया जाता है, उन्हीं बातों में अन्तर्मुखी पूर्ण पाया जाता है, इसी तरह अन्तर्मुखी व्यक्ति की जो कमी होती है उनमें बहिर्मुखी निपुण पाया जाता है। बहिर्मुखी व्यक्ति व्यवहार कुशल होता है पर वह अपने-आपको किसी एक ही चीज में दक्ष नहीं कर पाता। अन्तर्मुखी व्यक्ति एक ही वस्तु में अपने-आपको लगा सकता है और उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता है, पर उसमें व्यवहार-कुशलता नहीं होती। अन्तर्मुखी के लिए सामाजिक जीवन कठिन होता है और बहिर्मुखी को अकेलापन।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्ति की पहचान रुपया कमाने और शादी के कार्यों में सरलता से होती है। बहिर्मुखी मनुष्य रुपया कमाने के लिए भारी-भारी उद्योग करता है, जितना रुपया उसे अधिक मिलता है वह अपने को उतना बड़ा समझता है। शादी करने में भी उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। वह अनेक स्त्रियों से प्रेम पालता है। अन्तर्मुखी की लगन न तो पैसा कमाने में रहती है और न शादी में। शादी के पहले वह अनेक बार विचार करता है। एकाएक वह शादी में नहीं पड़ जाता। उसे गृहस्थ-जीवन भाररूप मालूम होता है।* इस प्रकार के बहुत से लोग शादी करते ही नहीं और करते हैं तो कर्तव्य के विचार से।

---

* संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक गृहस्थ जीवन से प्रायः विरत रहे हैं। कितने ही ऐसे व्यक्तियों ने शादी ही नहीं की। प्लैटो, स्पेनोजा, कान्ट, शोपेनहार, निस्से, हार्बर्ट स्पेन्सर आदि योरोप के प्रमुख दार्शनिक अविवाहित रहे। कान्ट को दो बार शादी करने का अवसर आया पर दोनों बार वह यह निश्चय न कर सका कि उसे शादी करनी चाहिए। एक

उपर्युक्त दो प्रकार के व्यक्ति विचार-प्रधान अथवा भाव-प्रधान† हो सकते हैं। इस तरह चार प्रकार के व्यक्ति हुए—विचार-प्रधान बहिर्मुखी, भावप्रधान बहिर्मुखी, विचार-प्रधान अन्तर्मुखी और भाव-प्रधान अन्तर्मुखी। विचार और भावुकता में विरोध है। जिस व्यक्ति में एक प्रकार के मानसिक गुण की प्रधानता होती है, उसमें उसके विरोधी गुण की कमी पाई जाती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उसके व्यक्तित्व में विरोधी गुण का सर्वथा अभाव रहता है। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व में विचार और भाव का प्रमाण एक-सा ही रहता है। पर विचार प्रधान व्यक्तियों में भावों का दमन होता है और भाव प्रधान

बार एक महिला ने कान्ट से शादी करनी चाही। जब उसने अपना विचार कान्ट से प्रकट किया तो उसने यही उत्तर दिया कि मैं इस प्रश्न पर विचार करके उत्तर दूँगा। कान्ट दो साल तक इस प्रश्न पर विचार करता रहा। अन्त में वह महिला और अधिक देर तक न ठहर सकी और उसने ठहरना व्यर्थ ही समझा, अतएव किसी दूसरे व्यक्ति से उसने शादी कर ली।

शुकदेव ऋषि युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही जंगल में भाग गये। नारद मुनि ने शादी की ही नहीं। शृङ्गी ऋषि को छलकर शादी कराई गई। पराशर बिना विचारे मछुवे की कन्या के प्रेम में फँसे, पर उन्होंने विवाहित जीवन व्यतीत नहीं किया। परशुराम आजन्म ब्रह्मचारी रहे। बुद्ध, ईसा और शंकर सभी गृहस्थ जीवन से विरत रहे।

† अन्तर्मुखी व्यक्ति जैसे अपने चेतन मन से स्वार्थी होता है वैसे ही यह अचेतन मन से निःस्वार्थी होता है। उसके अचेतन मन में स्वार्थीपन से घृणा रहती है, अर्थात् उसका हृदय परोपकारी होता है। वह अकेला रहना पसन्द करता है और समाज से भागता है। किन्तु वह सदा समाज की भलाई का काम किया करता है। जहाँ बहिर्मुखी व्यक्ति अपने-आपको परोपकारी सिद्ध करने की चेष्टा करता है परन्तु हृदय से परोपकारी नहीं होता वहाँ अन्तर्मुखी व्यक्ति हृदय से परोपकारी रहता है किन्तु अपने-आपको परोपकारी प्रसिद्ध करना उसे बुरा लगता है। बहिर्मुखी व्यक्ति समाज का नेता बनने की चेष्टा करता है और आत्म-प्रशंसा सुनकर बड़ा सुखी होता। वह समाज के काम तभी तक करता है जब तक कि समाज उसको आदर देता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति ठीक इसके प्रतिकूल आचरण करता है। उसके कार्यों का हेतु समाज-प्रशंसा नहीं होती वरन् कुछ जीवन के मौलिक सिद्धान्त होते हैं। निन्दा और स्तुति में वह समभाव रखने की चेष्टा करता है। नेतापन से वह दूर रहता है। अपने-आपको वह प्रसिद्ध भी नहीं करता।

में विचार-शक्ति का दमन होता है। इस दमन के कारण उन शक्तियों का समुचित विकास नहीं हो पाता। वे शक्तियाँ बालकों जैसी बनी रहती हैं।

विचार-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति चतुर व्यवसायी होता है। उसमें विभिन्न परिस्थितियों में योग्य काम करने की शक्ति होती है। वह दूसरे मनुष्यों का स्वभाव जान लेता है। वह अच्छा प्रबन्धक होता है। विचार-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्तियों के विचार का विषय बाह्य पदार्थ होता है। उसमें आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन की योग्यता अथवा रुचि नहीं होती। वह किसी विषय का चिन्तन इसलिए नहीं करता कि उससे उसको स्वयं लाभ है वरन् इसलिए करता है कि उस प्रकार के चिन्तन में उसको आनन्द आता है। इस प्रकार के व्यक्ति भले और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। समाज-सुधारक देश के नेता इसी प्रकार के लोगों में पाये जाते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति चेतन मन में स्वार्थ-परायणता से घृणा करता है; इसलिए उसे अपने विषय में सोचना भी बुरा लगता है; पर उसका अचेतन मन स्वार्थी होता है। उसका चेतन मन और भाव सुख की खोज में ही लिप्त रहते हैं। यह सुख की खोज अचेतन मन की प्रेरणा से होती है। इसके प्रतिकूल अन्तर्मुखी व्यक्ति चेतन मन में बड़ा स्वार्थी दिखाई देता है। उसके प्रत्येक कार्य में यह विचार रहता है कि 'मुझसे इसका क्या प्रयोजन ?' यदि वह कहीं नाच-तमाशा में जाता है तो उसके आनन्द में वह नहीं जाता। वह सदा यह अपने-आप से प्रश्न करता है कि इस अनुभव से मुझे क्या लाभ हुआ।

विचार-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं—एक का विचार तर्क-द्वारा चलता है और दूसरे का दिव्य-दृष्टि की सहायता से। तर्क में हेतु और व्याप्ति की आवश्यकता होती है जो कि बाह्य संसार की घटनाओं के अनुभव पर निर्भर रहते हैं। ऐसा व्यक्ति सोच-विचारकर सामाजिक कार्य करता है। वकील, बैरिस्टर, डाक्टर लोगों की प्रकृति प्रायः इसी वर्ग की होती है। कानून बनानेवाले लोग भी इसी श्रेणी के होते हैं। भौतिक वैज्ञानिक भी इसी वर्ग के लोगों में हैं। इसके प्रतिकूल दिव्य-दृष्टि की सहायता से विचार करनेवाले लोग होते हैं। वे तर्क-वितर्क से काम नहीं लेते। उनके विचार का विषय बाह्य पदार्थ अथवा बाह्य घटना अवश्य होती है किन्तु इस पर विचार करते समय वे जिस निर्णय पर पहुँचते हैं वह बाहरी घटनाओं द्वारा प्राप्त प्रमाणों पर आधारित नहीं रहता। उन्हें भीतर से दैवी प्रेरणा होती है कि अमुक बात सत्य है और अमुक झूठ। जब कभी वे संकट में पड़ जाते हैं तो इसी दैवी शक्ति के शरण में जाते हैं। इस प्रकार के लोग देश के नेता होते हैं।

देश के नेता वही लोग हो सकते हैं जो अपने विचारों की सत्यता अथवा मौलिकता में विश्वास करते हैं, जो इन विश्वासों के कारण अपने निर्णयों पर दृढ़ रहते हैं। ये निर्णय आध्यात्मिक विषय-सम्बन्धी नहीं होते वरन् बाह्य घटनाओं से सम्बन्धित रहते हैं। कहा जाता है कि हिटलर इस प्रकार की दैविक भावना के आधार पर अपने निर्णय करता था। महात्मा गांधी भी अपने प्रत्येक बड़े काम के करने के पूर्व अपने हृदय की दैवी आवाज जानने की चेष्टा करते थे। महात्मा गांधी और हिटलर के निर्णय विचार की प्रेरणा से नहीं वरन् हृदय की प्रेरणा से होते थे।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति अपने निर्णय भावों पर आश्रित रखता है, अर्थात् उसके किसी भी निर्णय की जड़ में भाव रहता है। स्त्रियों में भावों की प्रधानता देखी जाती है और पुरुषों में विचार की। जिस प्रकार पुरुषों के निर्णय विचारों द्वारा सञ्चालित होते हैं, इसी तरह स्त्रियों के निर्णय भावों से सञ्चालित होते हैं। जो व्यक्ति स्त्रियों के हृदय को काबू में कर लेता है वह उनसे जो चाहे करा सकता है। पुरुष के हृदय पर कब्जा करने के लिए युक्तियों और विचार की आवश्यकता होती है; स्त्रियों के विषय में ठीक इसके प्रतिकूल परिस्थिति है। आप स्त्रियों को अपने बुद्धिबल से बस में नहीं कर सकते, पर अपना प्रेम दिखा-कर (चाहे वह झूठा प्रेम क्यों न हो) बस में कर सकते हैं। इसी तरह उनमें करुणा, दया, क्रोध भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं। पुराने विद्वान् लोगों ने सबको सलाह दी है कि स्त्रियों को अपनी गुप्त बात कभी न बताना चाहिए। इस उपदेश की मनोवैज्ञानिक मौलिकता आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें सिद्ध कर रही हैं। स्त्रियाँ किसी दूसरे व्यक्ति को दया व करुणा के आवेश में आकर उनके प्रेम में फँस अपने घर का सब भेद बता सकती हैं। अतएव स्त्रियों को राजनीति से अलग रहना भी समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। स्त्रियों की मनोवृत्ति प्रकृति ने ऐसी बनाई है जिससे कि वे बालक का लालन-पालन ठीक से कर सकें। यदि वे भाव-प्रधान न होतीं तो बालक का लालन-पालन उनसे सम्भव ही न होता। जितनी अच्छी तरह बालक का लालन-पालन माता कर सकती है उतनी अच्छी तरह बालक का पिता नहीं कर सकता।

जैसे स्त्रियों में अधिक भावुकता होती है, वे अधिकतर बहिर्मुखी भी होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि पुरुषों में इस प्रकार के व्यक्तियों का अभाव होता है। भाव-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति किसी व्याख्यानदाता का लेक्चर सुनकर बिना आगा-पीछा सोचे अपना सर्वस्व छोड़ने को तैयार हो जाता है।

वह भावुकता के बस में होकर बड़े-बड़े सङ्कल्प कर डालता है तथा ऐसी प्रतिज्ञायें कर लेता है जिन्हें वह पीछे पूरा नहीं कर पाता। इस प्रकार का व्यक्ति सिनेमा की घटनाओं पर आँसू बहा डालता है। अपनी करुण-कथा सुनाते-सुनाते रो देता है पर उसकी भावुकता छिछली होती है। घटना के विस्मरण होने पर वह उसके प्रति भावुकता से भी मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार के व्यक्तियों के वादे पर विश्वास करते हैं वे धोखे में पड़ते हैं।

बहिर्मुखी भावुक व्यक्ति का अदृश्य मन उतना ही स्वार्थी होता है जितना कि उसका बाहरी मन दूसरों के कार्यों में रुचि रखनेवाला होता है। एक ओर वह अपने विषय में कुछ भी चिन्तन नहीं करता और दूसरी ओर उसके अदृश्य मन में कोई ऐसी भावना ही नहीं होती जिसमें स्वार्थ की सिद्धि न पाई जाय। उपर्युक्त दो प्रकार के व्यक्तियों से पृथक् अन्तर्मुखी विचार-प्रधान और अन्तर्मुखी भाव-प्रधान व्यक्ति हैं। अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति एकान्त-प्रिय, आध्यात्मिक विषयों पर चिन्तन करनेवाला होता है। वह सदा अपनी आध्यात्मिक समस्यायें सुलझाने में लगा रहता है। अतएव वह दूसरों को बड़ा स्वार्थी दिखाई देता है। वह अपना समय अधिकतर अध्ययन और चिन्तन में व्यतीत करता है। दर्शन-शास्त्र का निर्माण ऐसे लोग ही करते हैं। संसार के स्वरूप पर विचार करना, सत्य-असत्य का निर्णय करना इस प्रकार के लोगों का व्यवसाय होता है।

मन की चार शक्तियों का सम्बन्ध
चित्र नं० २१
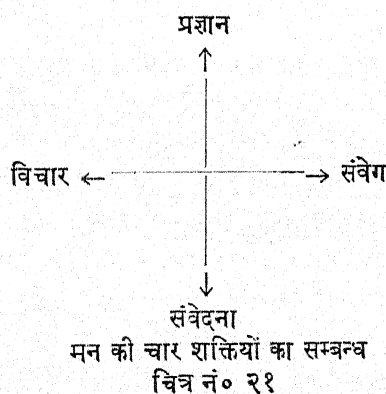
अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति दो तरह के होते हैं—एक तर्कबुद्धि-प्रधान और दूसरे दिव्य-दृष्टिवाले। पहले प्रकार के लोग दार्शनिक होते हैं और दूसरे प्रकार के लोग ऋषि अथवा पैगम्बर होते हैं। दार्शनिक लोग बुद्धिवादी होते हैं। वे सदा युक्तियों को ढूँढ़ा करते हैं। इन युक्तियों

का अन्तिम आधार या तो बाह्य विषय का ज्ञान होता है जो कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जाता है अथवा उनका आधार आप्तवचन होता है जिसका आधार दिव्य-दृष्टि है। दार्शनिक व्यक्ति सत्य की खोज करनेवाला होता है, सत्य का द्रष्टा व ज्ञाता नहीं। तत्वज्ञान दिव्य-दृष्टि से प्राप्त होता है। जिसे यह दृष्टि प्राप्त होती है वही ऋषि अथवा पैगम्बर अवतार कहलाता है।

अन्तर्मुखी दिव्य दृष्टिवाला व्यक्ति बाहर से स्वार्थी दिखाई देता है किन्तु उसका अदृश्य मन परोपकारी होता है। वह वैयक्तिक जीवन में किसी प्रकार की रुचि नहीं रखता। उसकी खोज संसार भर को लाभ पहुँचाती है। एक ओर वह जो कुछ करता है अपने लिए ही करता है, दूसरी ओर उसका आत्मोद्धार का प्रयत्न संसार के उद्धार का प्रयत्न बन जाता है। बुद्धदेव, हजरत ईसा, कबीर, स्वामी रामतीर्थ दिव्य दृष्टिवाले अन्तर्मुखी व्यक्ति थे। उनका जीवन एक ओर आत्मोद्धार में लगा और दूसरी ओर संसार के कल्याण का कारण बना। अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्तियों में हम इमरसन और स्वयं युंग को भी पाते हैं।

अन्तर्मुखी भावप्रधान व्यक्ति अपने-आप की ही दशा देखकर दुःखी रहता है। उसे संसार का दुःख दुःखी करता है; पर उसके निवारण करने के लिए वह कोई प्रयत्न नहीं करता। उसका निश्चय प्रायः निराशाजनक होता है। इंगलैंड के प्रसिद्ध कवि शैली में हम इस प्रकार का व्यक्तित्व पाते हैं। अधिकतर कवि लोग इसी वर्ग के लोगों में होते हैं। उनमें भावों की प्रधानता होती है। ये भाव कविता-निर्माण के अतिरिक्त किसी दूसरी बाह्य-क्रिया में प्रकाशित नहीं होते। वे अपने जीवन से भी दुःखी रहते हैं। वे संसार से अलग रहने की चेष्टा करते हैं। समाज में वे भले प्रकार का व्यवहार नहीं कर सकते। व्यवहार-कुशलता का उनमें अभाव रहता है। वे प्रायः जिद्दी होते हैं। छोटी-सी बात पर अड़ जाते और उसके लिए अपना जीवन तक खोने को तैयार हो जाते हैं। जब तक ये लोग दूसरे लोगों को अपनी कविता सुनाते हैं तब तक उनका समाज में सम्मान रहता है। थोड़े ही लोगों से वे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। जब वे बहुत से लोगों से अपना सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करने लगते हैं तो वे अपमानित होते हैं। समाज की उन पर जो श्रद्धा रहती है, उठ जाती है। वे भावों के आवेश में आकर बहुत-सी ऐसी बातें कह जाते हैं जिनके कारण दूसरे लोग उन्हें नीचा दिखाने में समर्थ होते हैं।

कवि स्वार्थी दिखाई देते हैं, पर उनका हृदय स्वार्थ-परायणता से घृणा करता है। वे अपने में अपना कुछ भी नहीं देखना चाहते। ऐसे लोगों को ठग लेना सरल होता है। यदि उनके सामने कोई अपनी कल्पित करुण-कहानी सुनावे तो वे बाहर से अपनी सहानुभूति न दिखाते हुए भी भीतर से क्षुब्ध हो जाते हैं और मर-मिटने को तैयार हो जाते हैं। वे उस करुण-कहानी पर बार-बार विचार करते और उसके दुःख का निवारण करने का उपाय सोचते हैं। प्रायः ऐसे लोग त्याग करने के लिए तत्पर रहते हैं, पर बाह्य क्रिया में उनकी रुचि न होने के कारण अधिक दिन तक समाजोद्धार के काम में लगे नहीं रहते। समाज के उद्धार का काम उन्हें उतना प्रिय नहीं जितना कि उनके भाव उन्हें प्रिय हैं। इस प्रकार के लोगों ने ही भक्ति-मार्ग का निर्माण किया है।

संसार के सर्वोच्च कवियों का व्यक्तित्व दिव्य-दृष्टि और भावुकता के मिश्रण से बना रहता है। वह अन्तर्मुखी होता है। भावुकता बिना कविता नहीं और दिव्य-दृष्टि के बिना सत्य का ज्ञान सम्भव नहीं। कवि भावुकता के साथ सत्य का स्वरूप दर्शाता है। उसका अन्तर्मुखी स्वभाव उसे एक ओर एकान्तप्रिय बनाता है और दूसरी ओर स्वार्थपरायणता से मुक्त करता है, जिसके बिना संसार की कोई भी स्थायी भलाई नहीं हो सकती। इस प्रकार के कवियों में आदिकवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा पश्चिम के कवियों में शेक्सपियर; वर्ड्सवर्थ, गेटे और ब्लेक हैं।

शब्दावली (हिन्दी-अंग्रेजी)

अ

अभ्यास Practice
अभ्यास-जन्य क्रियाएँ Habitual actions
अक्ष तन्तु Axon
अर्जित Acquired
अर्जित मानसिक गुण Acquired mental trait
अर्जित मानसिक प्रवृत्ति Acquired tendency
अन्तर्गामी नाड़ी Afferent nerve
अर्थशास्त्र Economics
अभ्यासात्मक Habitual
अभद्र Vulgar
अभ्यास का नियम The Law of Exercise
अदृश्य मन Inner mind
अचेतन मन Unconscious mind
अकारण भय Meaningless fear, Phobia
अवांछनीय उत्तेजना Undesirable urge
अन्वय व्यतिरेक Method of agreement and difference
अवांछनीय स्थायीभाव Undesirable sentiment (complex)
अन्तर्दर्शन Introspection
अनिच्छित ध्यान Involuntary attention
अनुत्रिका Sacral
अनुभवात्मक विज्ञान Positive science
अन्वेषणात्मक विचार Inductive reasoning
असाधारण भूल Abnormal forgetting
अवकाश Space
अनुकरणात्मक सीखना Imitative learning
अनायास प्रतिक्रियाओं का होना Random responses
अवरोध Inhibition
अन्तर्द्वन्द्व Mental conflict
अनुकरण Imitation
अकेलेपन का भाव The feeling of loneliness
अन्तर्मुखी व्यक्ति Introverted character
अनिद्रा की बीमारी Insomnia
अपराध Crime
अप्रकाशित इच्छा Inhibited desire
अप्रमा False knowledge
अयथार्थ ज्ञान Wrong knowledge
अनुरूप उत्तर-प्रतिमा Positive after-image
अनुरूप रंग Complementary colours

अर्ध विन्दु Blind spot
अन्तरीय पटल Retina
अर्द्धचक्राकार नालियाँ Semi-circular canals

आ

आदर्शवादी कल्पना Idealistic imagination
आत्मनिर्देश Auto-suggestion
आवरण Cover
आकृति Form
आकार Size
आवृत्ति Revision
आत्महीनता Negative self-feeling
आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति Instinct of assertion
आश्चर्य Wonder
आदेशात्मक स्वप्न Prognostic dream
आत्महीनता की ग्रन्थि Inferiority complex
आध्यात्मिक शक्ति Will power, spirit
आकस्मिक निर्णय Accidental decision
आसमानी Blue
आदत Habit
आत्म-ज्ञान Self-knowledge
आत्म-वंचना Self-deception
आमाशय Stomach
आँत spleen
आदतजन्य Habitual
आदर्शात्मक विज्ञान Normative science
आत्मनिरीक्षण Self-examination

इ

इन्द्रिय ज्ञान Sense knowledge
इच्छाशक्ति Will
इन्द्रिय Sense
इच्छित ध्यान Volitional attention
इच्छाविहीन ध्यान अथवा प्राकृतिक ध्यान Spontaneous attention

उ

उपयोग और अनुपयोग का नियम The law of use and disuse
उमंग Mood
उत्तेजना की प्रबलता Intensity of stimulus
उपचुल्लिका Parathyroid
उपतारा Iris
उत्तेजना Stimulus
उत्तेजना का परिवर्तन Substitute stimulus
उत्साह Elation
उत्सुकता Curiosity
उद्वेगात्मक Emotional
उद्वेग Emotion
उत्तर प्रतिमाएँ After-images
उन्नतोदर ताल Convex lens
उष्णता की संवेदना Sensation of heat

उपाधि युक्त Conditioned
उत्तेजन Stimulation

ए

एकाग्रता Concentration
एड्रीनलीन Adrinalin
एड्रिनल्स Adrinals
एक आँख के साधन Monocular factors

क

क्रियात्मक मनोभाव Conation
क्रियात्मक Conative
कर्तव्यशास्त्र Ethics
कामोद्दीपक Sex gland
कामभाव Sex
क्रियात्मक पहलू Conative aspect
क्रियात्मक मानसिक प्रवृत्तियाँ Conative urges
क्रियात्मक सीखना Learning by doing
कामेच्छा Sex desire
कामशक्ति Libido
कामुकता Lust
करुणा Distress
काम-प्रवृत्ति Pairing instinct
कामवासना Sex
क्रोध Anger
कल्पना Imagination, Hypothesis
कला Art
क्रिया कल्पना Motor imagination
क्रमिक विरोध Successive contrast
कारणारोपण Rationalization
क्रियाओं की संवेदना Organic sensation
कनीनिक Choroid
कोषाणु Cell
कड़वा Bitter
कण्ठकर्ण नली Eustachion tube
केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल Central Nervous System
क्रियावाही नाड़ी Motor nerve
कर्ष Fissure
क्रियमाण Active
क्रिया उत्पादन स्थल Motor area
क्रिया प्रान्त Motor area
कण्ठमणि (चुल्लिका) Thyroid

ग

गन्ध संवेदना Olfactory sensation
गतिशीलता Movement
गतिरोध Motor amnesi
गिल्टियाँ Glands
गुर्दा Kidney
ग्राही तन्तु Dendrites
गतिवाही Motor

घ

घेघा Goitre
घुटना झटकारने की सहज क्रिया Petular reflex
घृणा Disgust

घ्राण कल्पना Olfactory imagery
घ्राण Sense of smell
घूमघुमैया Labyrinth

च

चैतन्यवादी Spiritualists
चेतनमन Conscious mind
चित्तवृत्ति Psychosis
चित्तविश्लेषण विज्ञान Psycho-analysis
चेतना Consciousness
चक्र अथवा गंड Gland
चेतन Conscious
चैतन्यबाद Spiritualism
चेतनोन्मुखमन Preconscious
चिन्तन Thinking
चिकित्सा विज्ञान Science of medicine
चरित्र Character
चलने-फिरने की संवेदना Conative sensation
चत्तु नाड़ी Optic nerve
चलने-फिरनेवाले स्वप्न Somnambulism

छ

छींकने की सहज क्रिया Sneezing reflex

ज

जड़वादी Meterialists
जन्मजात आदत Inborn habit
जटिल ग्रन्थि Complex
जीवन शक्ति Libido
जड़ Idiot
जड़वाद Materialism
जलीयरस Vitrious humour
जन्मजात Inborn
जड़वाद Materialism

झ

झक Obsession
झिल्ली Membrane

ट

टेटुआ (गले की घंटी) Throat
टेटनी रोग Critinism

ड

डण्डा Rods

ढ

ढोल Drum

त

तन्तु Fibre
तत्परता का नियम The Law of readiness
तर्क-बुद्धिप्रधान Rational
तीव्रबुद्धि Superior intelligence
तरल पदार्थ Liquid
ताल Lens
तिकोना शीशा Prism
तर्क विज्ञान } Logic
तर्क शास्त्र } Logic
तत्व विज्ञान Philosophy
तत्ववेत्ता Philosopher
तरंगमयी कल्पना Fanciful imagination

द

दृष्टि कल्पना Visual imagery
दुःखात्मक भाव Feelings of pain

दुःखात्मक संवेग Painful emotions
द्विव्यक्तित्व Double personality
दक्षिण गोलार्द्ध Left hemisphere
दृष्टि सम्बन्धी Visual
दृष्टि स्थल Areas of vision
दलित वासना Repressed desire
द्रव्य Liquid
दृष्टि संवेदना Sense of vision
द्वन्द्व की प्रवृत्ति Instinct of pugnacity
दिशा Direction
दूरी Distance
दूसरों की चाह Gregariousness
दमन Repression

ध

ध्वनि संवेदन Auditory sense, Sense of hearing
ध्यान स्वातंत्र्य Independence of attention
ध्यान Attention
ध्वंसात्मक संवेग Destructive emotion
ध्यान की एकाग्रता Concentration of attention
ध्यान का वशीकरण Conquest of attention
ध्वनि कल्पना Auditory imagery
धारणा Retention
ध्वनि की लहर Sound wave
ध्वनि Sound

न

नैतिक बुद्धि Moral sense, conscience
निष्प्रयासात्मक इच्छित ध्यान Uneffortful voluntary attention
निरोध Inhibition
निद्रा Sleep
नशा Narcotic sleep
नियतिवाद Determinism
निर्णय Decision
निर्देश Suggestion
निरीक्षण Observation
निकट दृष्टि का रोग Myopia
नाड़ियों के छोर Nerve ends
निहाई Anvil
नेत्र गोलक Eye-ball
निर्गामी Efferent
नीला Indigo
नारंगी Orange
नाड़ी कोषाणु Nerve cell
नियम Law
नाड़ी तन्त्र Nervous system
नियमित Mechanical

प

प्रयोग Experiment
प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ Natural urges
प्रभावहीन उत्तेजना Ineffective stimulus

प्रणालीयुक्त गिल्टियाँ Glands with ducts
प्रदत्त Data
प्रत्यक्षीकरण Perception
प्रणालीविहीन गिल्टियाँ Ductless glands
प्रत्यक्ष ज्ञान Perceptual knowledge
प्रतिमा Image
प्रमा Right knowledge
पुनरावृत्यात्मक कल्पना Reproductive imagination
पदार्थ विज्ञान Science
पुनर्विचारात्मक निर्णय Re-evaluative decision
पुनः शिक्षा Re-education
प्रत्यय Conception
प्रत्ययन शक्ति Conceptual power
प्रत्यक्षात्मक विचार Perceptual thinking
प्रत्ययात्मक विचार Conceptual thinking
प्रवृत्ति Urge
प्रतिभाशाली Genius
प्रखर बुद्धि Superior intelligence
प्रतिबन्ध व्यवस्था Censor
प्रतिबन्धक Censor
प्रतिबन्ध Inhibition
प्रफुल्ल Elative
प्रसन्नता Amusement
प्राकृतिक निद्रा Natural sleep
प्रकाशन Exhibition,expression
प्रतिक्रिया Reaction
प्रयत्न और भूल Trial and error
प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन Modification of reaction
प्रतिक्रिया का परिवर्तन Substitute response
प्रतिक्रियाओं का एकीकरण Combination of response
परिणाम का नियम The law of effect
पैत्रिक संस्कार Hereditary dispositions
पैत्रिक Hereditary
प्रसारात्मक संवेग Expansive emotions
परम्परागत Traditional
प्रयत्नात्मक इच्छित ध्यान Effortful voluntary attention
प्रतिभा Genius
प्रमाण Proof
पारस्परिक प्रतिक्रियावाद Interaction
प्राकृतिक चुनाव का नियम Law of natural selection
पिनियल Pinial
पिट्यूटरी गाँठ Pitutary gland
प्राणी विज्ञान Biology
प्रयुक्त मनोविज्ञान Applied Psychology
पदार्थ विज्ञान Physical Science
पुतली Pupil

पलक गिरने की सहज क्रिया The winking reflex
पेशियाँ Muscles
पूरी और विभाग रीति The whole and part method
पहचान Recognition
पारदर्शी कोष्ठ Transparent cell
पीला Yellow
पीतबिन्दु Fobia
पारदर्शी Transparent
पलक Eyelid
परावर्तन क्रिया Reflex

ब

बहिरंग कारण Objective conditions
बोधजन्य ध्यान Apperceptive knowledge
बाध्य उत्तेजना Repressed stimulus
बाध्य अनिच्छित ध्यान Forced involuntary attention
बौनापन Criticism
बुद्धि Intelligence
बहिर्मुखी Extraverted
बहु व्यक्तित्व Multiple personality
बुद्धि उपलब्धि Intelligence quotient
बुद्धिभाव की परीक्षा Intelligence test
बाध्य-निर्णय Forced decision
बाहरी कान The external ear
बरौनी Eylash
बनफ्सी Violet
बाल मनोविज्ञान Child psychology

भ

भावना ग्रन्थि Complex
भावनात्मक वृत्ति Affective state
भय Fear
भावप्रधान Affective.
भागने की प्रवृत्ति Instinct of flight
भूख Appetite
भ्रम Illusion
भोजन ढूँढ़ने की प्रवृत्ति Food seeking instict
भावात्मक Affective
भीतरी कान The internal ear

म

मानसिक चेष्टाएँ Mental reaction
मूलप्रवृत्ति Instinct
मूलप्रवृत्यात्मक Instinctive
मनोविश्लेषण Psycho-analysis
मानसिक चिकित्सा Psychotherapeutics
मनोवेग Urges
मेजा Brain
मेरुदण्ड Spinal column

मूलप्रवृत्ति जनित इच्छा Instinctive desire
मस्तिष्क Brain
मध्यम Middle
मध्य पटल Scloratic
मध्यकान The middle ear
मुदगर Hammer
मध्यन्तराकर्ष The fissure of Rollando
मर्मस्थल Sensitive area
मार्गान्तरीकरण Redirection
मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन Modification of Instincts
मूर्छा Coma
मनोराज्य Day dream
मूर्ख Idiot
मन्द बुद्धि Dull
मूलप्रवृत्यात्मक Instictive
मूलरस संवेदना Basic getutary sensations
मानसिक संस्कार Dispositions
मानसिक ग्रंथियाँ Complexes
मानसिक आयु Mental age
मानसिक अन्तर्द्वन्द्व Mental conflict
मानसिक प्रतिमा Mental image
मानसिक विक्षेप Mental disturbance
मानसिक प्रक्रियाएँ Mental reactions

य

याद करना या सीखना Learning

र

रूपान्तरण Modification
रुचि Interest
रक्तवाहक कोष Blood cells
रस संवेदनाओं Sensation of taste
रुकाव Stirrup
रेशेदार मांस-पेशियाँ Fibre muscles
रंग संवेदना Colour sensations
रंग मिलानेवाला यन्त्र Colour mixer
रचनात्मक क्रिया Creative action
रस कल्पना Gastric imagery
रचनात्मक कल्पना Creative imagination
रेचन Catharsis
रचना की प्रवृत्ति Instinct of construction
रचनात्मक आनन्द Feeling of creativeness
रोचकता Interest
रचनात्मक संवेग Creative emotions

ल

लक्ष्य Ideal, aim
लड़ने की प्रवृत्ति Pugnacity
लेखरोध Agraphic
लघु मस्तिक Ceribellum

व

व्यवहारवाद Behaviourism

व्यवहारवादी Behaviourists
विरोध Contrast
व्यर्थ प्रतिक्रियाओं का निवारण Elimination of response
विचारात्मक सीखना Learning through insight and understanding
व्यवहार Behaviour
विचार-प्रधान Thoughtful
व्यक्तित्व Personality
वासना Desire
व्यावहारिक कल्पना Practical imagination
व्यावहारिक समस्या Practical problem
व्यावहारिक विचार Deductive reasoning
विरोधी उत्तर प्रतिमा Negative after-image
वंशानुक्रम Heredity
वृहत् मस्तिष्क Cerebrum
विक्षिप्तता Insanity
व्यापार मनोविज्ञान Industrial psychology
विस्तार Amplitude
वेदना Feeling
वाक् स्थल Speech area
वातावरण Environment
विकर्षण Repulsion
वैयक्तिक Individual
वर्गीकरण Classification
त्वक् नाड़ी मण्डल Peripheral nervous system
विचार Thinking, thought
वामगोलार्ध Left hemisphere
वमन करना Vomitting
विचारात्मक Rational
वेदनात्मक Affective
वंशपरम्परागत Hereditary
विकृत स्थायीभाव Undesirable sentiment
विश्लेषणात्मक रीति Analytic method
विक्षिप्त मनोविज्ञान Psychology of insanity
विक्षिप्तता Insanity
विलियन Inhibition
विनीतता की प्रवृत्ति The instinct of submission
विकर्षण की प्रवृत्ति The instinct of repulsion
वास्तविक आयु Actual age
विवेक-युक्त निर्णय Rational decision
विस्मृति Forgetting
विरोध Contrast
विचारों के सम्बन्ध Association of ideas
वर्णच्छत्र Spectrum
विषमधर्मी रंग सवेदना Colour contrast

श

शब्द संवेदना Auditory sensations
शरीर विज्ञान Physiology
शिक्षा विज्ञान Educational psychology

शोध Sublimation

शिशुरक्षा की प्रवृत्ति Parental instinct

शरणागत होने की प्रवृत्ति Instinct of appeal

श्वेत पटल Sclerotic

शीत संवेदना Sensation of cold

शुद्ध संवेदना Pure sensation

शीतोष्ण संवेदना Sensation of Temperate

शीर्षणी नाड़ियाँ Cranial nerves

स

संतोष और असंतोष का नियम The law of satisfaction and dissatisfaction

सीखने का पठार Plateau of learning

संस्कार Impression, disposition

समानता Uniformity

सुगमता Facility

संकल्प की दृढ़ता Detrmination

संवेगात्मक Emotional

संवेग Emotion

संवेगों की वैयक्तिकता Subjective character of emotions

सुखात्मक भाव Feeling of pleasure

समाज शास्त्र Sociology

संवेगों का आरोपण Displacement of emotions

संकोचात्मक संवेग Contracting emotions

संवेग जनित मानसिक विकार Emotional products

स्थायी भाव Sentiment

स्थायी भावों का संस्थापन और विघटन Formation and dissolution of sentiments

सृजनात्मक रीति Creative method

सम्बन्धज्ञान के क्षेत्र Association centres

सहज ध्यान Spontaneous Attention

संगहनात्मक क्रियाएँ Constructive activities

सहज अनिच्छित ध्यान Spontaneous involuntary attention

संवेदना Sensation

सुषुम्ना Spinal cord

सविकल्पक ज्ञान Knowledge of qualities

सहज क्रिया Reflex action

समानान्तर वाद Parallelism

समाज विज्ञान Sociology

सम्मोहन Hypnosis

सीखने के नियम The laws of learning

स्तर Levels

सूक्ष्मदृष्टि और बूझ द्वारा सीखना Learning through insight and understanding

सन्तोष और असन्तोष Law of satisfaction and dissatisfaction

समाज सम्बन्धी मूल प्रवृत्ति Social instincts
सहानुभूति Sympathy
स्नेह (वात्सल्य भाव) Love
संग्रह भाव Acquisitiveness
सामाजिकता Sociability
सम्मोहनोत्तर निर्देश Post hypnotic suggestions
स्वप्न Dream
सहज शब्द सम्बद्ध Free word-association
सांकेतिक चेष्टाएँ Symptomatic acts, automata
सामूहिक अचेतनमन Collective unconscious
सामूहिक बुद्धिमाप Group tests
सामान्य बुद्धि Normal intelligence
संवेदना Sensation
स्वतन्त्रतावाद Doctrine of free will
संवेगात्मक निर्णय Impulsive decision
सहकारी विरोध Successive contrast
सूर्यमुखी काँच Convex lens
सूची Cones
स्नायु Nerve
समता की संवेदना Sensation of balance
संवेदना की तीक्ष्णता Intensity of sensation
स्पर्श संवेदना Sense of touch
स्पंदन Vibration
सुर (स्वर) Tune
सुखवाद Hedonism
संशय Doubt
समानता Similarity
सहचारिता Contiguity
स्मरण (पुनरावर्तन) Recall
स्मृति Memory
संवेदनाजन्य भ्रम Peripheral illusion
सन्तुलन Balance
स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल Autonomic nervous system
सुषुम्ना शीर्षक Medulla Oblongata
सेतु Pans
साइनाप्स Synops
संग्रह की प्रवृति Acquisitive instinct

ह

हेतु Motive
हीनतासूचक ग्रन्थि Inferiority complex
हेतुपूर्वक Purposive
हरा Green
हल्ला (शोर) Noise

क्ष

क्षतिपूर्ति प्रतिक्रिया Compensatory reaction

ज्ञ

ज्ञानात्मक पहलू Cognitive aspect
ज्ञानवाही नाड़ियाँ Sensory nerve
ज्ञानजनक केन्द्र Sensory area
ज्ञानाणुवाद Atomic theory of knowledge

शब्दावली (अंग्रेजी-हिन्दी)

A

Ability योग्यता
Abnormal असाधारण, असामान्य
Abstraction प्रत्याहार
Acquired अर्जित
Adjustment समायोजन, अनुकूलन
Affective भावात्मक
Afferent अंतर्गामी
Afferent (sensory) neurones ज्ञानवाही नाड़ी तन्तु
After-image उत्तरप्रतिमा
After-sensation अनुसंवेदना
Ambivent उभयमुखी
Apperception अन्तर्बोध
Aptitude अभिरुचि
Assertion आत्म-प्रकाशन
Association साहचर्य
Association centre साहचर्य केन्द्र
Association of centiguity सानिध्य साहचर्य
Association of contrast विरोध साहचर्य
Association of similarity समान साहचर्य
Associationism साहचर्यवाद
Attainment संप्राप्ति
Attention ध्यान
Attention, voluntary ऐच्छिक ध्यान
Attention, non-voluntary अनैच्छिक ध्यान
Attitude अभिरुचि
Automatic action स्वयत्त क्रिया
Autonomous nervous system स्वतन्त्र नाड़ी मंडल
Auto-suggestion आत्म-निर्देश
Axone मुख्य-तन्तु

B

Behaviour व्यवहार
Behaviourism व्यवहारवाद
Biological science जीवन विज्ञान
Blind spot अन्ध बिन्दु
Brain मस्तिष्क

C

Capacity क्षमता
Case history method व्यक्ति इतिहास पद्धति
Censor प्रतिबन्धक
Central nervous system केन्द्रीय नाड़ी मंडल
Cerebellum लघु मस्तिष्क
Cerebrum बृहत् मस्तिष्क

Character चरित्र
Chronological age वास्तविक आयु
Coefficient of correlation अनुबन्धक
Cognition ज्ञान
Cognitive ज्ञानात्मक
Colour contrast रंगों का विरोध
Coma मूर्छा
Complex भावना ग्रन्थि
Compound reflex मिश्रित सहज क्रिया
Conation क्रिया
Concept प्रत्यय
Conditioned reflex action सम्बद्ध सहज क्रिया
Conditioned reflex प्रत्यावर्तित सहज क्रिया
Conditioning सम्बन्धीकरण
Conduct आचरण
Conflict of motives प्रेरक संघर्ष
Congenital जन्मजात
Conscious चेतन
Consciousness चेतना
Constrained association आबद्ध साहचर्य्य
Construction रचना
Contiguity सान्निध्य
Control of emotion संवेग नियंत्रण
Curiosity जिज्ञासा
Correlates अनुबध्य
Cortex वल्क

D

Date प्रदत्त
Day dream दिवा स्वप्न
Deductive निगमनात्मक
Dendrites शिखातन्तु
Derived emotion व्युत्पन्न संवेग
Determinism नियतिवाद
Development विकास
Diagnosis निदान
Displacement of emotion संवेग का आरोपण
Disgust घृणा
Disposition स्वभाव
Distribution वितरण
Distribution and massed practice वितरित और एकत्रित अभ्यास
Dream content स्वप्न वस्तु
Dynamic गत्यात्मक

E

Educational psychology शिक्षा मनोविज्ञान
Eduction of correlates सम्बन्धित बोध
Eduction of relations सम्बन्ध बोध
Effector प्रभावक
Efferent निर्गामी

Eidetic image प्रतिमा दर्शन
Elation उमंग
Emotion संवेग अन्तःक्षोभ
Empathy समानुभूति
Environment वातावरण
Experience अनुभव
Experiment प्रयोग
Experimental प्रयोगात्मक
Experimental method प्रयोगात्मक पद्धति
Extensity विस्तार
Extrovent बहिर्मुखी

F

Fatigue थकान
Feeling type extrovent भाव प्रधान बहिर्मुखी
Feeling भाव
Figure and ground आकार और आधार भूमि
Forgetting विस्मरण
Focus of consciousness चेतना का केन्द्र
Free association सहज साहचर्य
Functional कार्यात्मक

G

Generalization सामान्यीकरण व्याप्ति
Genetic method जनन पद्धति
Gland ग्रन्थि
Group test of intelligence सामूहिक बुद्धि परीक्षा
Group cesting सामूहिक माप
Guidance निर्देशन

H

Habit आदत
Hallucination विभ्रम
Heredity वंशानुक्रम
Horme पूल शक्ति
Homogeneous समावर्ती
Hypnosis सम्मोहन
Hypothesis अनुधारण, धारणा

I

Ideal आदर्श
Ideas विचार
Ideational attention विचारात्मक ध्यान
Ideo motor action विचार क्रिया
Idiot जड़
Illusion भ्रान्ति
Image प्रतिमा
Image auditory श्रवण प्रतिमा
Image swell प्राण प्रतिमा
Image taste स्वाद प्रतिमा
Image touch स्पर्श प्रतिमा
Image visual दृष्टि प्रतिमा
Imagery प्रतिमा भास
Imagination कल्पना
Imbecile मूढ़
Imitation अनुकरण
Impression संस्कार
Inattention अनवधान

Inborn जन्मजात
Inclination रुझान
Individuality व्यक्तित्व
Individualistic वैयक्तिक
Inductive आगमनात्मक
Inferiority feeling हीनता की भावना
Inhibition निरोध
Innate नैसर्गिक
Insanity विक्षिप्तता
Insomnia अनिद्रा
Instinct मूल प्रकृति
Instinctive tendency जन्मजात प्रवृत्ति
Integration सम्बद्धता
Intellectual बौद्धिक
Intelligence बुद्धि
Intelligence quotient बुद्धि उपलब्धि
Intensity सघनता
Interaction पारस्परिक प्रतिक्रिया
Interest रुचि
Introspection अन्तर्दर्शन
Introvent अन्तर्मुखी
Involuntary अनैच्छिक
Involuntary attention अनैच्छिक ध्यान

L

Latent dream अव्यक्त स्वप्न
Latent dream content अव्यक्त स्वप्न वस्तु
Law of conservation of energy शक्ति-संचय नियम
Law of disuse अनभ्यास नियम
Law of effect प्रभाव नियम
Law of effect and satisfaction परिणाम और संतोष का नियम
Law of exercise अभ्यास का नियम
Law of natural selection प्राकृतिक चुनाव का नियम
Law of readiness तत्परता का नियम
Law of similarity समानता का नियम
Laws of learning सीखने के नियम
Learning सीखना
Learning process सीखने की प्रक्रिया
Learning by imitation अनुकरणात्मक सीखना
Learning by trial and error प्रयत्न और भूल से सीखना
Learning through insight सूझ द्वारा सीखना
Lilido जीवन-शक्ति
Liminal सीमान्तिक परिमाण

M

Manifest dream अभिव्यक्त स्वप्न

Marginal consciousness चेतना सीमान्त
Master sentiment प्रमुख स्थायीभाव
Maturation परिपक्वता
Memory स्मृति, स्मरण शक्ति
Memory, active सक्रिय स्मृति
Memory, immediate अनन्तर स्मृति
Memory, permanent स्थायी स्मृति
Memory, span of immediate अनन्तर स्मृति का विस्तार
Mental मानसिक
Mental activity मानसिक क्रिया
Mental age मानसिक आयु
Mental engram मनोभाव
Mental laws मानस नियम
Mental measurement मानसिक माप
Method पद्धति
Mood भाववृत्ति
Moron मंद
Motivation प्रेरणा
Motor निर्गायी, क्रियात्मक
Motor area चेष्टाक्षेत्र
Motor organs कर्मेन्द्रियाँ
Motor-nerve क्रियावाही नाड़ी

N

Nature प्रकृति, स्वभाव, प्रवृत्ति
Natural ccience प्रकृति विज्ञान
Nerve नाड़ी
Nerve association नाड़ी साहचर्य
Neurone नाड़ी तन्तु
Neurotic सनकी
Nervous arc नाड़ी चाप
Nervous system नाड़ी तन्त्र
Normal सामान्य
Normal intelligence सामान्य बुद्धि
Normative नियमात्मक
Normative science नियमात्मक विज्ञान
Norms प्रतिमान
Non-verbal अशाब्दिक
Nucleus केन्द्र

O

Objective विषयात्मक
Objective method वस्तुगत पद्धति
Observation निरीक्षण
Organism जीव
Organization संगठन

P

Parental instinct वात्सल्य मूल प्रवृत्ति
Partially constrained अर्द्ध नियंत्रित
Passive निष्क्रिय
Percept प्रत्यक्ष
Perception प्रत्यक्षीकरण

Perceptual thinking प्रत्यक्षात्मक चिन्तन
Performance test of intelligence क्रियात्मक बुद्धि, परीक्षा, कौशल प्रदर्शक बुद्धि परीक्षा
Peripheral nervous system त्वक नाड़ी मंडल
Personality व्यक्तित्व, स्वत्व
Personality, double द्वयव्यक्तित्व
Personality, multiple बहुव्यक्तित्व
Phobia अकारण भय
Physical science पदार्थ विज्ञान
Physiology शारीरिक विज्ञान
Physiological शारीरिक
Pitutary gland पीयूष ग्रन्थि
Plateau of learning सीखने की पठार
Positive विधायक
Positive science विज्ञान
Practical imagination क्रियात्मक कल्पना
Preconscious चेतनोन्मुख मन
Principle सिद्धान्त
Process प्रक्रिया
Projection आरोपण प्रक्षेपण
Projective प्रक्षेपक
Propensities स्वभाविक प्रवृत्तियाँ

Psychic मानसिक
Psycho-analysis मनो-विश्लेषण
Psycho-analytic method मनोविश्लेषणात्मक पद्धति
Psycho-physical मनोभौतिक
Psychology मनोविज्ञान
Psychology, abnormal असामान्य मनोविज्ञान
Psychology, analytical विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान
Psychology, animal पशु मनोविज्ञान
Psychology, applied प्रयुक्त मनोविज्ञान
Psychology, child बाल मनोविज्ञान
Psychology, clinical चिकित्सा मनोविज्ञान
Psychology, experimental प्रयोगात्मक मनोविज्ञान
Psychology, general सामान्य मनोविज्ञान
Psychology, industrial औद्योगिक मनोविज्ञान
Psychology, medical चिकित्सा मनोविज्ञान
Psychology, physiological शारीरिक मनोविज्ञान
Pugnacity युयुत्सा, द्वन्द प्रवृत्ति
Purpose प्रयोजन